मैथिलीशरण गुप्त ग्रंथावली

संपादक

कृष्णदत्त पालीवाल

मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली

खण्ड-11

खण्ड-1

❑ रंग में भंग ❑ जयद्रथ-वध ❑ पद्य-प्रबन्ध ❑ भारत-भारती

खण्ड-2

❑ पत्रावली ❑ वैतालिक ❑ किसान ❑ पंचवटी ❑ हिन्दू

खण्ड-3

❑ स्वदेश-संगीत ❑ सैरन्ध्री ❑ वकसंहार ❑ शक्ति ❑ वन वैभव ❑ गुरुकुल

खण्ड-4

❑ विकट भट ❑ झंकार ❑ साकेत

खण्ड-5

❑ यशोधरा ❑ द्वापर

खण्ड-6

❑ सिद्धराज ❑ नहुष ❑ कुणाल-गीत ❑ अर्जन औरविसर्जन

❑ विश्व-वेदना ❑ काबा और कर्बला ❑ अजित

खण्ड-7

❑ हिडिम्बा ❑ प्रदक्षिणा ❑ युद्ध ❑ अंजलि और अर्घ्य ❑ पृथिवीपुत्र : दिवोदास, जयिनी, पृथिवीपुत्र ❑ जय भारत

खण्ड-8

❑ राजा-प्रजा ❑ विष्णुप्रिया ❑ रत्नावली ❑ उच्छ्वास

खण्ड-9

❑ अनघ ❑ चन्द्रहास ❑ तिलोत्तमा ❑ निष्क्रिय प्रतिरोध ❑ विसर्ज्जन ❑ स्वप्न वासदत्ता ❑ प्रतिमा ❑ अभिषेक ❑ अविमारक

खण्ड-10

❑ मेघनाद-वध ❑ वीरांगना ❑ विरहिणी व्रजांगना

खण्ड-11

❑ पलासी का युद्ध ❑ वृत्र-संहार ❑ रुबाइयात उमर खय्याम

खण्ड-12

❑ भूमि-भाग ❑ शकुन्तला ❑ स्वस्ति और संकेत ❑ त्रिपथगा ❑ मुंशी अजमेरी

मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली

खण्ड-11

सम्पादक

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल

वाणी प्रकाशन

21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

फोन : 011-23273167, 23275710

फैक्स : 011-23275710

e-mail : vaniprakashan@gmail.com

website : www.vaniprakashan.com

वाणी प्रकाशन का लोगो
विख्यात चित्रकार मक़बूल फ़िदा हुसेन
की कूची से

ISBN : 978-81-8143-765-5

वितरक :

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

प्रकाशक
साहित्य सदन
184, तलैया झाँसी
संस्करण : 2008

बारह खण्डों का मूल्य
मूल्य : 9000/-

आवरण : वाणी प्रकाशन
क्वालिटी ऑफसेट, शाहदरा, दिल्ली-110032
द्वारा मुद्रित

MAITHILISHARAN GUPT GRANTHAWALI-11
Edited by : Dr. Krishandatt Paliwal

निवेदन

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के समग्र साहित्य को एकसूत्र में अनुस्यूत करके हिन्दी के सहृदय-समाज को अर्पित करते हुए अत्यधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। गुप्त जी लगभग साठ वर्ष तक साहित्य-साधना में निरन्तर समर्पित रहे। वे हिन्दी भाषियों के साथ अहिन्दी भाषियों के सर्वाधिक प्रिय रचनाकार हैं। आज का पाठक उनकी समग्र कृतियों को पढ़ने का अरमान रखता है। मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली की प्रकाशन-योजना पाठक के उसी अरमान को पूरा करने की ओर एक कदम है।

राष्ट्रकवि की गरिमा से दीप्त-प्रदीप्त मैथिलीशरण गुप्त का कृती व्यक्तित्व और उनकी असीम सर्जनात्मक क्षमता किसी भी सुमनस को मोहने और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। उनके सर्जन में हमारी परम्परा के पुरखे बोलते हैं। आधुनिक भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन, नवजागरण, सत्याग्रह-युग और नेहरू-युग का विचार-मन्थन गुप्त जी की रचना-दृष्टि के उत्तमांश को सामने लाता है। यह रचना-दृष्टि अपनी व्यापकता और गहराई में समाज के आर-पार देखने की क्षमता रखती थी। इतिहास-पुराण, मिथक, प्रतीक, रूपक उनकी लेखनी का पारस स्पर्श पाकर अपनी जड़ता खो बैठा और साहित्य कालजयी या क्लासिक शक्ति धारण कर लेता है। सच बात तो यह है उनके वैष्णव संस्कारों, विचारों, अभिप्रायों से काल का डमरू ऐसे बजा है कि उसमें से प्रेरणा का नाद फूट रहा है।

मैथिलीशरण गुप्त की वाचिक परम्परा से प्राप्त प्रतिभा ने हिन्दी के साथ भारतीय साहित्य के एक विशाल लोक-चित्त को प्रेरित एवं प्रभावित किया है। उन्होंने स्वाध्याय से संस्कृत, हिन्दी, बांग्ला, मराठी के साहित्य को रमकर समझा था। वे अंग्रेजी नहीं जानते थे और अंग्रेजी न जानना उनकी देसी प्रतिभा के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उन देसी प्रतिभा की ही यह विजय है कि कवि की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर महात्मा गाँधी ने उन्हें 'मैथिली काव्य मान' ग्रन्थ भेंट करते हुए 'राष्ट्रकवि' की उपाधि प्रदान की।

गुप्त जी का कवि कण्ठ ब्रजभाषा में फूटा था। उन्होंने अपने काव्यारम्भ में 'मधुप' और 'रसिकेन्द्र' नाम से कुछ पद्य ब्रजभाषा में लिखे भी। लेकिन शीघ्र ही

वे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा प्रभाव शक्ति के कारण खड़ी बोली में कविता करने लगे। उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी को उँगली पकड़कर पैदल चलना सिखाया और एक दिन इतना परिमार्जित कर दिया कि वह सर्जनात्मक शक्ति से दौड़ने लगी। खड़ी बोली स्वाधीनता आन्दोलन की भाषा रही है—विद्रोह की शक्ति रही है। इस भाषा में प्रान्त नहीं, पूरा देश खुलकर बोला है। यहाँ कहना होगा कि मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी काव्य के निर्माता थे और इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्त्व अविस्मरणीय है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक नवजागरण ने हमारी संस्कृति-सभ्यता के इतिहास और साहित्य में विश्वास का जो स्वर उत्पन्न किया था, उसकी अधिकाधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति सबसे पहले मैथिलीशरण गुप्त की सर्जनात्मकता में ही हुई। हिन्दी प्रदेशों के साथ भारतीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का मैथिलीशरण गुप्त ने पचास वर्ष तक नेतृत्व किया। गुप्त जी ने अनुभव किया कि लोक-वेदना और लोक-चिन्ता को वाणी दिये बिना कवि-कर्म का दायित्व पूरा नहीं होता। फलतः वे अपने देश और काल की समस्याओं-चुनौतियों के अनुरूप काव्य-सृजन में पूरे मनोयोग से प्रवृत्त हो गये। उन्होंने हिन्दी कविता को रीतिवाद से मुक्त करते हुए देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद विरोध की दिशा में मोड़कर दम लिया। भारतेन्दु और श्रीधर पाठक के बीज-भाव मैथिलीशरण गुप्त के सर्जन में पल्लवित-पुष्पित हुए। आज भी उनकी स्मृति से प्रेरणा की सुगन्ध आती है।

मैथिलीशरण गुप्त का काव्य-फलक अत्यन्त व्यापक है। भारतीय साहित्य के अतीत और वर्तमान दोनों पर उनकी दृष्टि रही है। रामायण-महाभारत काल के साथ उनका विशेष रागात्मक सम्बन्ध है। वैदिक युग और बौद्धकाल के कई कथानक उन्होंने उत्साहपूर्वक लिए हैं। राजपूतकाल के प्रति भी उनका आकर्षण कम नहीं है। इधर वर्तमान को तो उन्होंने अपनी युग चेतना और काव्य-संवेदना का केन्द्र बनाया ही है। वर्तमान युग के भी कई चरण उन्होंने देखे थे—बालजीवन उनका सांस्कृतिक नवजागरण काल में बीता, यौवन जागरण सुधार-आन्दोलनों के युग में, प्रौढ़ावस्था गाँधी जी के सत्याग्रह-युग में और जीवन का चौथा चरण स्वतन्त्र भारत के नेहरू-युग में। जीवन के सभी सांस्कृतिक-राजनीतिक पहलुओं का उनके काव्य में विस्तार से चित्रण है।

गुप्त जी गाँधी युग के प्रतिनिधि कवि हैं। गाँधी युग की प्रायः समस्त मूल-प्रवृत्तियाँ—अंग्रेजी शासन के अत्याचार और उनके विरुद्ध संघर्ष, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा-आन्दोलन, किसान-मजदूर आन्दोलन, जेल जीवन, स्वतन्त्रता का उल्लास, विभाजन की विभीषिका, गाँधी जी की हत्या, संसद की गतिविधि, महँगाई की समस्या, चीन का आक्रमण, राजभाषा का प्रश्न, दलित-समस्या, उपेक्षिताओं के उद्धार की समस्या, नारी अस्मिता के खौलते प्रश्न, अशिक्षा की समस्या, पाश्चात्य सम्पर्क के शुभ-अशुभ प्रभाव, पारिवारिक जीवन-विधान में होनेवाले परिवर्तन,

ग्राम्य-जीवन का चित्रण आदि। अद्‌भुत बात यह है कि उनमें प्रगति और परम्परा, आधुनिकता और समसामयिकता, इतिहास और संस्कृति, परिवर्तन और निरन्तरता दोनों का सन्तुलित योग है। युगबोध की दृष्टि से अपने समकालीन साहित्यकारों में वे प्रेमचन्द के समकक्ष खड़े हैं।

उनमें लोक-जीवन, लोक-संवेदना और लोक-चेतना के कारण शुद्ध आभिजात्यवादी तत्त्वों के प्रति आग्रह न था। यह कवि आरम्भ से अन्त तक लोक-मंगलमूलक काव्य-कला, नाट्यकला, अनुवाद-कला आदि की साधना करता रहा। कवि के अपने शब्दों में, 'अर्पित हो मेरा मनुज काय/बहुजन हिताय बहुजन हिताय'। अतः उनकी काव्य-साधना का उद्देश्य है—लोक-कल्याण। आज हम क्या हो गये हैं? इसी क्या का उत्तर देने के लिए उन्होंने समस्त राष्ट्र का आह्वान किया था। वर्तमान का संशोधन करने के लिए यह जानना भी आवश्यक था कि अतीत में हम कौन थे और भविष्य में क्या होंगे? इस प्रकार उनके विचार का केन्द्र है वर्तमान। वे अतीतोपजीवी रचनाकार नहीं हैं। गुप्त जी प्रकृति के कवि नहीं हैं और न व्यापक अर्थों में उन्हें सौन्दर्य का कवि कहा जा सकता है। मूलतः वे मानव-रागों, मानव-सम्बन्धों के कवि हैं। इस दृष्टि से उन्हें वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, तुलसी, भारतेन्दु की परम्परा का रचनाकार कहा जा सकता है।

मैथिलीशरण गुप्त परम्परागत अर्थ में आस्तिक हैं—वैष्णव हैं। राम के रूप में ईश्वर के प्रति उनकी अविचल आस्था है। इस तरह उनका मानववाद वैष्णव मानववाद ही है। इस वैष्णव मानववाद में सभी को (हिन्दू, शैव, शाक्त, सिख, मुसलमान, ईसाई सभी) जगह है। वे मुहम्मद साहब पर 'काबा-कर्बला' लिखते हैं, सिख-गुरुओं पर 'गुरुकुल' तथा कार्ल मार्क्स की पत्नी 'जयिनी' पर कविता। कहना होगा कि उनके सृजन-चिन्तन में पश्चिमवाद का 'अदर' या 'अन्य' नहीं है। भारतीय लोक मानस का आस्तिक समाजवाद उनकी 'भारतीयता' है। मैथिलीशरण गुप्त जी की इन्हीं मानववादी प्रवृत्तियों को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनाई गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर विभिन्न खण्डों का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये बारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड—काव्य
2. दूसरा खण्ड—काव्य
3. तीसरा खण्ड—काव्य
4. चौथा खण्ड—काव्य
5. पाँचवाँ खण्ड—काव्य
6. छठवाँ खण्ड—काव्य
7. सातवाँ खण्ड—काव्य
8. आठवाँ खण्ड—काव्य

9. नवाँ खण्ड—मौलिक एवं अनूदित नाटक
10. दसवाँ खण्ड—बांग्ला अनुवाद
11. ग्यारहवाँ खण्ड—अनुवाद
12. बारहवाँ खण्ड—विविध साहित्य

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा है। किन्तु इस बात का ध्यान रखा गया है कि ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके। गुप्त जी के सुपुत्र ऊर्मिलाचरण गुप्त के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। उनके सहयोग के बिना यह कार्य सम्भव ही नहीं हो पाता। उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद। श्री अरुण माहेश्वरी और वाणी प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और लगन से इस विशाल योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दों के साथ मैथिलीशरण गुप्त का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप में, हम पाठकों को समर्पित करते हैं। गुप्त जी के रचना-कर्म के 'पाठ' या टेक्स्ट की बहुलार्थकता का इस कार्य से थोड़ा-सा भी विकास सम्भव हुआ तो अपने को कृतकार्य मानूँगा।

—कृष्णदत्त पालीवाल

प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110007

अनुक्रमणिका

पलासी का युद्ध

निवेदन

हमारी भाषा के साहित्य में जो सामग्री है वह तो हमारी सम्पत्ति है ही यदि दूसरी भाषाओं की विशेष सामग्री भी हमारी भाषा में आकर अपनी हो जाय तो क्या यह थोड़े गौरव की बात है? क्यों इससे कम उपकार की आशा है?

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए, अनुवाद के रूप में भिन्न-भिन्न भाषाएँ परस्पर भावों का आदान-प्रदान किया करती हैं।

हमारी भाषा में तो इसकी और भी अधिक आवश्यकता है, क्योंकि वह राष्ट्र-भाषा होने का दावा रखती है। उसमें सारे राष्ट्र के भावों का सन्निवेश होना ही चाहिए।

पलासी के युद्ध का सम्बन्ध तो हमारे राष्ट्र से ही विशेष है। हमारी हीनावस्था में, जिस जाति ने ईश्वर की प्रेरणा से, यहाँ आकर हमें सँभाला, यह उसी की हमें याद दिलाता है और पूर्व और पश्चिम के प्रारम्भिक सम्मिलन का सन्देश सुनाता है।

इसी कारण इतिहास के बन्धन की परवा न करके वंगीय कविवर बाबू नवीनचन्द्र सेन ने इसे अपने काव्य का विषय बनाया। यद्यपि उनका मार्ग संकीर्ण था परन्तु फिर भी वे सफलतापूर्वक उस पर चलने में समर्थ हुए हैं। यह सच है कि काव्य कभी इतिहास नहीं हो सकता। परन्तु 'पलासी का युद्ध' इतिहास से विशेष सम्बन्ध रखता है। इसमें इतिहास सम्बन्धिनी भूल हो सकती हैं, परन्तु कवि-कौशल की कमी नहीं।

लेखक बरसों से इसे हिन्दी में देखना चाहता था। किन्तु उसकी आशा पूरी न हुई। इस कारण विवश होकर उसे ही अपनी स्वल्प शक्ति के अनुसार यह साहस करना पड़ा। विद्वज्जन कृपापूर्वक क्षमा करें।

किसी भाषा के भाव अन्यभाषा में यथायथ व्यक्त करना कितना कठिन कार्य्य है। इसे भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। किसी काव्य-ग्रन्थ का अनुवाद करना तो और भी कठिन है। कभी-कभी तो वह असाध्य ही है। क्योंकि कविता में बहुधा साभिप्राय पद रहते हैं। एक शब्द का एक स्थान में एक साधारण अर्थ रहता है, एक विशेष। पर अन्य भाषा में उसके लिए उपयुक्त शब्द मिलना कठिन हो जाता है। यद्यपि हमारी भाषाओं का सम्बन्ध संस्कृत से होने के कारण यह कठिनता

थोड़ी बहुत कम हो जाती है, पर दूर नहीं हो सकती। बिहारी का एक दोहा है—

"अजों तरौना ही रह्यो श्रुति सेवत इक अंग।
नाक-वास बेसर लह्यो बसि मुक्तन के संग॥"

इसमें तरौना, श्रुति, नाक, बेसर और मुक्तन ये सब श्लिष्ट शब्द हैं। जिन भाषाओं का प्रत्यक्ष सम्बन्ध संस्कृत से नहीं है उनमें तो इसका अनुवाद हो ही क्या सकता है, हमारी अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी उसका होना कठिन है। यह ठीक है कि इस प्रकार की बाधाएँ बहुत नहीं होतीं, पर जो दूर न की जा सकें वे थोड़ी और बहुत, दोनों ही बराबर हैं।

सौभाग्य की बात है कि प्रस्तुत पुस्तक के अनुवाद में ऐसी बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ा। पड़ता भी तो लेखक हताश न होता। क्योंकि जो बिहारी की कविता पर मुग्ध होकर उसका अनुवाद करना चाहेगा, वह क्या उक्त दोहे को देखकर अन्य सैकड़ों दोहों के रस से भी अपनी भाषा के साहित्य को वंचित रखना उचित समझेगा? कभी नहीं।

किन्तु कठिनाई फिर भी कम नहीं होती। पद्य में तो वह और भी बढ़ जाती है। गद्य में विस्तारपूर्वक व्याख्या और विवरण आदि देकर भी काम चलाया जा सकता है। परन्तु पद्य में ऐसा नहीं किया जा सकता। उसकी पंक्तियाँ नपी-तुली होती हैं। इसके सिवा शब्द-स्थापना के नियमों का बन्धन, यति और अनुप्रास आदि अनेक बन्धन उसमें रहते हैं। विशेष विस्तार की गुंजाइश भी उसमें नहीं होती। वैसा करने में सजीवता जाती रहने का डर रहता है। गठन ही उसका विशेष गुण होता है। प्रणाली भी उसकी गद्य से भिन्न होती है। इन सब कारणों से बड़े-बड़े उपाधिधारी और योग्य जन भी बहुधा इस प्रयत्न में पूर्णतया सफलता प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते! फिर एक अज्ञ जन की कौन गिनती? प्रयत्न करना उसके हाथ है, सफलता उसके वश की बात नहीं।

मूल पुस्तक में दस-दस पंक्तियों का एक-एक पद्य माना गया है। पर यह नाम मात्र के लिए। विषय पूरा होने से रहा, कहीं-कहीं वाक्य भी पूरा नहीं हो पाया और पद्य पूरा हो गया है। इसलिए अनुवाद में पद्यों के गणना-क्रम को बनाये रखने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। धारावाहिक रूप में ही वर्णन उचित समझा गया। कहीं दस पंक्तियों का आशय दस पंक्तियों में ही आया है तो कहीं कहीं आठ और छः पंक्तियों में ही आ गया है। इसलिए मूल पद्यों की पंक्ति-संख्या पूरी करने के लिए व्यर्थ वाग्विलास करना उचित न होता। मूल की तरह अनुवाद में भी, जितनी पंक्तियों का चाहिए उतनी पंक्तियों का एक पद्य इच्छानुसार मान लिया जा सकता है। ऐसा करने में कोई बाधा नहीं पड़ सकती। मूल में प्रत्येक पद्य

की पहली आठ पंक्तियों का अन्त्यानुप्रास विषम रूप से रक्खा गया है और अन्त की दो पंक्तियों में सम रूप से। अनुवाद में यह सर्वत्र सम रूप से ही रक्खा गया है। चौथे सर्ग में कुछ पद्य कवि ने चार-चार पंक्तियों के रक्खे हैं और उनका वृत्त और क्रम भी भिन्न रक्खा है। अनुवाद में भी वैसा ही किया गया है। हिन्दी में उस ढंग का कोई छन्द प्रचलित न होने के कारण मूल के अनुरूप दो छन्दों के मेल से एक नया छन्द गढ़ लिया गया है। इस स्थल को छोड़कर मूल के सब सर्गों में एक ही छन्द प्रयुक्त हुआ है, पर अनुवाद में वह प्रत्येक सर्ग में बदल दिया गया है। आशा है, यह क्रम पाठकों को रुचिकर ही होगा।

समय की गति के अनुसार अनुवाद की भाषा बोलचाल की रक्खी गयी है। उसकी सरलता अथवा क्लिष्टता पढ़ने वालों की विज्ञता पर अवलम्बित है। पर इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि कविता में चन्द्रमा सर्वत्र चन्द्र या चाँद नहीं कहा जा सकता। कहीं शशि, कहीं सुधांशु, कहीं कलाधर और कहीं उसे द्विजराज कहने की भी आवश्यकता पड़ती है। अतएव कविता के प्रेमियों के लिए थोड़े बहुत पर्याय शब्दों का जानना अनिवार्य है।

जहाँ तक हो सका, मूल के भावों की रक्षा का प्रयत्न किया गया है। शब्दों का अनुवाद करने की अपेक्षा भाव पर अधिक ध्यान दिया गया है। यथा सम्भव थोड़े में आशय प्रकट करने की चेष्टा की गयी है। ऐसा करने में यदि कुछ साधारण शब्द रह गये हैं तो उनके लिए व्यर्थ विस्तार करना उचित नहीं समझा गया। बात को बढ़ा कर कहना नवीन बाबू की कविता का एक विशेष लक्षण है। इससे कहीं-कहीं कौतूहल होता है तो कहीं-कहीं उपराम भी। एक उदाहरण लीजिए। पहले सर्ग में जगत्सेठ कहता है–

> "एकटि कण्टक कभू फूटे नि जे पाय
> से केन ना हासिवेक देखि शेलाघात
> बिदरे हृदय जार से करे रोदन
> जे खाने अस्त्रेर लेखा व्यथाओ तथाय
> जाहार हृदये शेल से जाने केमन
> परेर केवल मात्र लौकिक रोदन।"

जिस पर बीतती है वही जानता है, इसी एक बात को देखिए, थोड़े-थोड़े भेद से कवि ने कितने बार कहा है। लेखक ने इसके अनुवाद के लिए एक पंक्ति ही अपर्याप्त नहीं समझी–

> किंवा वही जानता है लगता जिसे है घाव

यदि पाठकों की राय में यह अनुचित हो तो उसमें भी उसे आपत्ति नहीं–

फटी न बिबाई जिसे जाने क्या पराई पीर?
एक का है लक्ष्य होता अन्य के हिये का तीर!

और लीजिए—

सालता उसी को है लगता जिसे है शेल,
दूसरों का रोदन है लोकाचार वाला खेल।

पहले ही सर्ग में एक जगह लिखा है—

''शार्दूल कवल गत किंवा नाग पाशे
बद्ध येइ जन हाय! भीषण वेष्टने
निरापद, वसि येन आपनार आवासे
भावें से यद्यपि मने तवे ए संसारे
ततोधिक मूर्ख आर वलिब काहारे?''

इन पाँच पंक्तियों का अनुवाद निम्नलिखित दो पंक्तियों में किया गया है—

सोचे, घर बैठा हूँ—जो व्याघ्र-मुख में पड़ा,
होगा कहाँ कौन भला मूर्ख उससे बड़ा?

यद्यपि शब्द थोड़े हैं पर आवश्यक आशय आ गया है। पड़ा और बैठा ये दो परस्पर विरोधी पद लाये गये हैं। नागपाश की बात जरूर छूट गयी है, पर व्याघ्र-मुख ही से उसका मतलब निकल गया है। फिर भी, यदि यह त्रुटि समझी जाय तो पाठक सर्वत्र ऐसी त्रुटियाँ न पावेंगे। यह तो कैसे कहा जाय कि कहीं कहीं वे मूल से भी कुछ अधिक पावेंगे? तथापि जो कुछ किया है उसे कह देना ही उचित है। कमखाब में गाढ़े की गोट की तरह ऊपर से जोड़ी हुई पंक्तियाँ स्वयं ही अलग मालूम हो जायँगी। फिर भी, दो एक स्थलों का उल्लेख किया जाता है। दूसरे सर्ग में ब्रिटिश सैनिकों का वर्णन है—

''—कभू अस्त्र करे,
कभू स्कन्धे—''

अनुवाद—

कभी करों में अस्त्र कभी कन्धों पर रखते,

इसके बाद यह पंक्ति अपनी ओर से मिला दी गयी है—

कभी घूमते, कभी साधकर लक्ष्य निरखते।

क्लाइव से ब्रिटिश राजलक्ष्मी अपने अन्तिम उपदेश में ईश्वर की ओर संकेत करती हुई कहती है—

"सम भावे सर्व देशे श्वेत ओ श्यामले,
बरषे ताहार मेघ बाचाय पवने"

इसका अनुवाद—

सब देशों में साम्यभाव से सित-श्यामल पर,
करते हैं जल-वृष्टि घूम कर उनके जलधर।
सबको उनकी वायु जिलाती है समता से,
करती उनकी आग दग्ध भी अविषमता से।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें चौथी पंक्ति मूल से अधिक है। ब्रिटिश राजलक्ष्मी इसके पूर्व ईश्वर को दयालु और अपक्षपाती के साथ ही साथ न्यायी और अति भयंकर भी बता चुकी है। किन्तु उदाहरण प्रायः उसकी दयालुता और अपक्षपातिता के ही दिये गये हैं। कैसे कहा जाय कि यह पंक्ति इस अभाव की अंशतः पूर्ति करने में समर्थ हो सकेगी?

पाँचवें सर्ग में, जब सिराजुद्दौला की बेगमों के डुबाये जाने का वर्णन आता है तब डूबते समय उन्होंने जो शाप दिया था उसका उल्लेख इस तरह किया गया है—

"बिना मेघे वज्रघाते मरिवे मिरण"

अनुवाद—

विना मेघ के वज्रपात से मीरन मारा जायगा,

इसके बाद यह पंक्ति जोड़ दी गयी है—

अधम मीरजाफर भी सत्वर पूरा प्रतिफल पायगा।

असल में बेगमों ने डूबते समय मीर जाफर को भी शाप दिया था कि वह शीघ्र राज्यच्युत होगा।

कहीं ही एक आध उपमा भी अपनी ओर से जोड़ दी गयी है जैसे सिराजुद्दौला अपने भविष्य की चिन्ता करता हुआ कहता है—

"या हवे आमार हवे, तादेर कि भय?"

इसका अनुवाद—

मेरा जो हो, उन्हें कौन-सी शंका?

इसके बाद यह पंक्ति जोड़ दी गयी है—

कुटियों को क्या जल जाय जले जो लंका!

कारागार में अँगरेजों के हिप हिप हुर्रे की हर्ष ध्वनि सुनकर नवाब की चिन्ताभिभूत बेगम का चौंकना इस प्रकार कहा गया है—

"तन्द्रा भाँगिले अमनि
जागिल सत्रांसे वामा"

इसके अनुवाद में नवाब-महिषी के चौंकने पर एक उत्प्रेक्षा कर दी गयी है—

तन्द्रा टूटी, चौंक उठी वह भय से यथा कुरंगिनी।

कहीं-कहीं कवि की उक्तियों पर विशेषण के तौर पर भी कुछ कह दिया गया है। जैसे यदि कवि ने ब्रिटिश राजलक्ष्मी के बालों को 'विमुक्त' कहा तो उनके मन्द पवन के साथ खेलने की बात भी कह दी गयी है—

कच कुंचित,
खेल रहे थे मन्दपवन से बन्ध विमुंचित।

कहीं-कहीं कवि की बात दूसरे प्रकार से भी कह दी गयी है। जैसे—

"सुमेरु सिन्धुर जले दिव विसर्जन"

इसका अनुवाद इस तरह किया गया है—

सोने के सुमेरु को भी धूल में मिलाऊँगा।

लेखक की राय में, हिन्दी के महाविरे के ख्याल से, सिन्धु में विसर्जन करने के बदले सुमेरु पर्वत को धूल में मिलाने की बात अधिक अच्छी है। सम्भव है, न भी हो, पर उद्देश बुरा नहीं।

सिराजुद्दौला के शिविर में नृत्य-गान हो रहा है, इतने में अँगरेजों की तोप का गर्जन सुनाई दिया। उसे सुनते ही—

"नर्तकी अर्द्धेक नाचे थामिल अमनि"

इसका मतलब होता है कि नर्तकी आधे नाच में ही फौरन ठहर गयी। इसका अनुवाद यह किया गया है—

सम विना, सहम तत्काल नर्तकी ठहरी।

'अर्धेक नाचे' का शब्दानुवाद करने की अपेक्षा, सम के बिना सहम कर नर्तकी का ठहर जाना हिन्दी में बामहाविरा होगा।

कहीं-कहीं कवि के आशय का उपयोग दूसरे ढंग से भी किया गया है। ब्रिटिश राजलक्ष्मी के वर्णन में कवि ने लिखा है–

"तुषार उरस, स्वच्छ स्फटिक आकार"

इसका अनुवाद इस प्रकार किया गया है–

गलता था हिम हृदय देख के स्फटिक चूर्ण था।

उपमाएँ वही हैं पर उनके प्रयोग की प्रणाली भिन्न है। चौथे सर्ग के आरम्भ की दो पंक्तियाँ इस तरह हैं–

"पोहाइल विभावरी पलासी प्रांगणे,
पोहाइल यवनेर सुखेर रजनी।"

इनका अनुवाद भी अपने ढंग से दूसरी तरह किया गया है–

करके यवन जनों के सुख की निशि का निपट निपात,
हुआ पलासी के प्रांगण में मानो नया प्रभात।

एक समालोचक की राय में नवीन बाबू की सायंकाल-वर्णनविषयक निम्नलिखित पंक्तियाँ बहुत ही उत्कृष्ट हैं–

"शोमि छे एकटि रवि पश्चिम गगने,
भासि छे सहस्र रवि जाह्नवी जीवने।"

इसका अनुवाद इस तरह किया गया है–

शोभित दिनमणि एक प्रतीची के अंचल में,
सौ सौ दिनमणि झलक रहे हैं गंगाजल में।

इसमें पश्चिम की जगह प्रतीची और गगन की जगह अंचल शब्द का प्रयोग किया गया है। रवि के स्थान में दिनमणि भी लाया गया है। क्यों? पाठकों से प्रार्थना है कि वे कृपाकर इसके लिए कैफियत तलब न करें। रुचि ही तो है। यदि उन्हें यह रुचिकर न हो तो लेखक इसके दूसरे संस्करण के समय–यदि वह आया तो–जिस तरह उनकी अन्यान्य सूचनाओं का आदर करने के लिए प्रस्तुत है उसी तरह इसे भी मूल के अनुकूल बना देने के लिए तैयार है–

शोभित है रवि रम्य एक पश्चिमी गगन में,
झलक रहे रवि अयुत जाह्नवी के जीवन में।

एक आध स्थान में ऐसा भी हुआ है कि मूल के अर्थ का द्योतक कोई शब्द लेखक को नहीं मिला। जैसे तीसरे सर्ग में गवाक्ष से सिराजुद्दौला शत्रु-शिविर का प्रकाश देख रहा है–

''देखिल अनति दूरे अन्धकार हरि
ज्वलि छे शत्रु आलो आलेयार प्राय''

इसका अनुवाद करने में आलेया के लिए कोई खास शब्द नहीं मिला। रात को, जंगल में, कहीं-कहीं जो गैस या वाष्प विशेष जलता हुआ दिखाई देता है, उसे बँगला में आलेया कहते हैं। अँगरेजी में इसको Ignisfatuus कहते हैं। लेखक की देहात में इसे भूत की आग कहते हैं। लाचार होकर उसी को रखना पड़ा–

देखा तब उसने अनति दूर हर कर तम,
रिपु का प्रकाश प्रज्वलित प्रेत-पावक-सम।

पण्डित मथुराप्रसाद की प्रसिद्ध डिक्शनरी में भी Ignisfatuus का अर्थ मिथ्या-दीप्ति और मिथ्याग्नि के साथ पिशाचदीपिका लिखा है। पर कहा नहीं जा सकता कि विवरण के बिना इन शब्दों से यथार्थ आशय समझा जाता या नहीं।

इस पुस्तक में दो चार स्थलों पर कुछ ऐतिहासिक संकेत पाये जाते हैं, खेद है, उनका विवरण न मिल सकने के कारण इस संस्करण में नहीं दिया जा सका।

अनुवाद सम्बन्धिनी दो एक त्रुटियाँ स्वयं लेखक को खटक रही हैं। जैसे पाँचवें सर्ग में विकृत चित्त बन्दी सिराजुद्दौला जब स्वप्न में विभीषिकामय अग्नि के ज्वालोर्मिमाली समुद्र में अपने आपको गिरता हुआ देखता है तब एकाएक चिल्लाकर उठ बैठता है। उसी समय हाथ में तलवार और दीपक किंवा मशाल लिये हुए मुहम्मदी वेग उसकी कोठरी में प्रवेश करता है। घबराया हुआ नवाब उसे मूर्तिमान 'शमन' समझ कर फिर चिल्ला कर गिर पड़ता है। कवि ने लिखा है–

''उठिल अभागा घोरकरिया चीत्कार,
कक्षे आलो, असि करे सम्मुखे शमन
चीत्कार करिया पुनः हइल पतन''

इसका अनुवाद–

अकस्मात चिल्लाकर हत विधि
हुआ काँप कर उठ खड़ा।
किन्तु देख असिधर यम सम्मुख
फिर चिल्लाकर गिर पड़ा॥

इसमें कक्षे आलो का अनुवाद रह गया है। उससे सूचित होता है कि बेचारा नवाब अँधेरे कैदखाने में कैद था। उससे 'अस करे शमन' की भयंकरता भी बढ़ जाती है। वह उस भीषण रेखा-चित्र में रंग का काम करता है। यह बात नहीं कि यह त्रुटि अपरिहार्य थी—

हृदय धड़कने लगा वेग से
फिरने से ज्यों साँप के,
अकस्मात चिल्लाकर हतविधि
उठ बैठा तब काँप के।
किन्तु देख आलोक कक्ष में,
आगे असिधर यम खड़ा,
चिल्लाकर फिर वहीं अभागा
मृतप्राय-सा गिर पड़ा।

परन्तु फिर भी मनुष्य के काम कभी त्रुटि विहीन हो सकते हैं?

जो हो, यदि लेखक ने यह त्रुटिपूर्ण और नीरस अनुवाद करके अक्षम्य अपराध किया है तो उसने सर्वसाधारण के सामने उसका निदर्शन करके उसकी मात्रा अधिक नहीं बढ़ने दी। इस पर भी सर्वसाधारण को उसके विचार करने का अधिकार है और वह उनके निर्णय पूर्ण न्याय-निदेश के अनुसार अपने कृत-कर्म्म का प्रतिफल पाने के लिए तैयार।

विनीत—
अनुवादक

कविवर नवीनचन्द्र सेन का संक्षिप्त जीवनचरित

वंग-कवि-कुल-कोकिल बाबू नवीनचन्द्र सेन, बी.ए. वंगभाषा के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने सब मिला कर कोई दस-बारह उत्तमोत्तम काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। उनकी कविता बड़ी ही मधुर, मनोहारिणी, सरस और उच्च भावपूर्ण होती थी। वंगदेश में उसका बड़ा आदर है। कहते हैं, बंगाल में जितने महाकवि हुए हैं, नवीनचन्द्र की उन्हीं में गिनती थी। शोक की बात है कि 23 जनवरी, 1909 में, 62 वर्ष की उम्र में उनका देहान्त हो गया। आज हम उनका संक्षिप्त चरित पाठकों की भेंट करते हैं।

पूर्वपुरुष और जन्म

बाबू नवीनचन्द्र वैद्य जाति के थे। उनकी जातिगत उपाधि सेन और नवाबदत्त उपाधि राय थी। उनके पूर्वज राढ़ देश के निवासी थे। महाराष्ट्र विप्लव के समय वे अपना देश छोड़कर चटगाँव के नयापाड़ा गाँव में आ बसे थे।

बाबू नवीनचन्द्र का जन्म 1846 ईसवी में, इसी गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम गोपीमोहन राय था और माता का नाम राजराजेश्वरी। बाबू गोपीमोहन राय चटगाँव के जज की अदालत में पेशकार थे। कुछ दिनों बाद नौकरी छोड़कर वकालत करने लगे थे। मरने के कुछ वर्ष पहले वे मुंसिफ हो गये थे। वे बड़े ही लोकप्रिय, धर्म्मनिष्ठ, दयालु और दानी थे। इसी से अक्सर ऋणग्रस्त रहते थे। कविता रचने और गाने-बजाने का भी उन्हें शौक था। नवीनचन्द्र के जन्म के तीसरे दिन उत्सव की तैयारी हो रही थी कि घर में आग लग गयी। फल यह हुआ कि केवल उन्हीं का घर नहीं किन्तु सारा गाँव भस्मीभूत हो गया। यह देखकर कि नवीनचन्द्र की बदौलत प्राचीन गाँव नष्ट होकर नवीन हो गया है, उनके कुलगुरु की पत्नी ने उनका नाम नवीनचन्द्र रक्खा।

बाल्यकाल और शिक्षा

बालक नवीनचन्द्र सेन यथा समय गाँव की पाठशाला में पढ़ने के लिए बिठाये गये। वहाँ उन्होंने आठ बरस की उम्र तक पढ़ा। आठवें वर्ष पाठशाला की पढ़ाई समाप्त करके स्कूल में पढ़ने के लिए अपने पितृव्य मदनमोहन राय के साथ वे चटगाँव गये और वहाँ के सरकारी स्कूल में भरती हुए। दस वर्ष की उम्र में उनके पितृव्य का देहान्त हो गया। इससे उनके दिल पर बड़ी कड़ी चोट लगी। कारण यह था कि मदनमोहन बाबू अपने भतीजे नवीनचन्द्र को बहुत चाहते थे। इसी समय गृहदाह, मुकदमेबाजी आदि अनेक दुर्घटनाएँ उनके परिवार में हुईं। वे भी कुछ दिनों के लिए बीमार हो गये।

चटगाँव के स्कूल में नवीनचन्द्र की गिनती नटखट लड़कों में थी। उनके कारण सहपाठी लड़कों की नाक में दम रहती थी। लड़के क्या, कभी-कभी शिक्षक महाशय तक उनकी व्यंग्योक्तियों का निशाना बन जाते थे। सबेरे, शाम नदी किनारे और निर्जन स्थानों में घूमना और प्रकृति की मनोहारिणी शोभा देखना उन्हें इसी समय से अत्यन्त प्रिय था।

नवीनचन्द्र ने चटगाँव के स्कूल से प्रवेशिका परीक्षा पास की। परीक्षा में वे प्रथम आये। उन्हें छात्रवृत्ति भी मिली। इसके बाद कालेज में पढ़ने के लिए वे कलकत्ते आये और प्रेसीडेंसी कालेज में भरती हो गये। कलकत्ते आने के दूसरे वर्ष नवीनचन्द्र का विवाह हुआ। विवाह के बाद ही उन्होंने एफ.ए. परीक्षा पास की। परन्तु इस बार वे छात्रवृत्ति न पा सके। इससे उन्होंने प्रेसीडेंसी कालेज छोड़ दिया और जेनरल एसेम्बलीज कालेज में प्रविष्ट होकर बी.ए. में पढ़ने लगे। इस समय अपने व्यय के लिए अपने पिता को कष्ट देना उचित न समझकर वे दो एक लड़के पढ़ाने और उसी से अपना खर्च चलाने लगे। जिस समय बी.ए. की परीक्षा के सिर्फ तीन महीने बाकी थे, उनके पूजनीय पिता का देहान्त हो गया। इसी से वे अत्यन्त शोकाकुल हुए। उन्हें चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा। यह बहुत सच है कि विपद अकेली नहीं आती। इसी समय महाजनों ने तड़ातड़ी मचाना और उन पर नालिश पर नालिश करना शुरू किया। परन्तु नवीनचन्द्र सेन बड़ी ही दृढ़ प्रकृति के मनुष्य थे। वे जरा भी विचलित न हुए। माता और स्त्री का सब गहना बेचकर उन्होंने सारा ऋण चुका दिया और फिर पूर्ववत् पढ़ने लगे। 1886 ईसवी में उन्होंने बी.ए. पास किया।

सरकारी सेवा

इसी समय बाबू नवीनचन्द्र का परिचय स्वर्गीय विद्यासागर से हुआ। ज्योंही विद्यासागर महाशय को मालूम हुआ कि नवीनचन्द्र की दशा इस समय बड़ी ही खराब है त्योंही

उन्होंने उसके दूर करने की चेष्टा की। फल यह हुआ कि बी.ए. पास करने के कुछ ही महीनों बाद बाबू नवीनचन्द्र डिपुटी मजिस्ट्रेट हो गये। इस पद पर आप कोई बाईस वर्ष अधिष्ठित रहे और अपना कर्तव्य योग्यतापूर्वक निर्वाह करते रहे। सन् 1900 में पेंशन लेकर आप इस पद से अलग हुए। तब से लेकर मृत्यु के समय तक आप अपना सारा समय साहित्य सेवा और भगवद्भक्ति में बिताते रहे।

काव्य रचना

बाबू नवीनचन्द्र जब कालेज में पढ़ते थे तभी से कविता करने लगे थे। कविता-रचना-प्रणाली की शिक्षा उन्होंने अपने शिक्षक पण्डित जगदीशचन्द्र तर्कालंकार से पाई थी। एक दिन उनकी एक कविता पण्डित शिवनाथ शास्त्री की नजर से गुजरी। उसे देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उस कविता को एजुकेशन गजट के सम्पादक बाबू प्यारीचरण सरकार को दिखलाया। सरकार महाशय दूसरे ही दिन नवीनचन्द्र के क्लास में पहुँचे और उनकी खूब प्रशंसा करके बोले कि तुम एजुकेशन गजट के लिए सदा कविता लिखा करो। नवीनचन्द्र की कविता पहले पहल एजुकेशन गजट ही में प्रकाशित हुई। उनकी पहली ही कविता देखकर लोगों को मालूम हो गया कि वंगदेश के काव्याकाश में एक नवीनचन्द्र का उदय हुआ है। फिर क्या था, उनकी असाधारण प्रतिभा और कवित्व-शक्ति की ख्याति शुल्क पक्ष के चन्द्रमा की तरह दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी। तब से लेकर अन्त समय तक उन्होंने फुटकर कविताओं के सिवा अनेक महाकाव्य, काव्य, खण्ड-काव्य और चम्पू ग्रन्थों की रचना की। इनमें से ये मुख्य हैं–

1. अवकाश-रंजनी, दो भाग
2. पलाशिर युद्ध
3. रंगमती
4. रैवतक
5. कुरुक्षेत्र
6. प्रभास
7. अमिताभ
8. गीता
9. चण्डी
10. खृष्ट
11. भानुमती
12. प्रवास-पत्र

कवित्व

बाबू नवीनचन्द्र सेन बड़े प्रतिभाशाली कवि थे। उन्होंने अपने काव्यों में निष्काम धर्म्म, त्याग धर्म्म, भगवद्भक्ति और विश्वप्रेम के उच्च आदर्श का जैसा मनोहर चित्र खींचा है और सरस तथा मधुर भाषा में जिस सौन्दर्य और चरित्र की सृष्टि की है वह वंगभाषा के साहित्य में चिरकाल तक अमर रहेगी। और पुण्यप्रभ ध्रुवतारा के समान बंगालियों को प्रकृत पथ दिखलाती रहेगी। क्या भाव, क्या भाषा, क्या रसावतारणा सभी बातों में नवीनचन्द्र कविजन-वांछित गुणों के अधिकारी थे।

ऊपर जिन पुस्तकों के नाम लिखे हैं उनमें सबसे पहले अवकाश-रंजनी नामक गीतिकाव्य 1873 ईसवी में प्रकाशित हुआ था। इसमें ग्रन्थकर्ता का नाम न था। अर्थात् यह पुस्तक बेनाम ही छपी थी। स्वर्गीय वंकिम बाबू द्वारा सम्पादित वंगदर्शन नाम के मासिक पत्र में इसकी बड़ी अच्छी समालोचना हुई। इससे बाबू नवीनचन्द्र का नाम सर्वसाधारण में तुरन्त परिचित हो गया। अवकाश-रंजनी नवीन बाबू का एक मात्र गीतिकाव्य है। इसके सिवा उन्होंने और कोई गीतिकाव्य नहीं रचा। वंगदेश के प्रायः सभी बड़े कवियों ने गीतिकाव्य बनाये हैं। पर उनके काव्य नवीन बाबू के गीतिकाव्य की बराबरी नहीं कर सकते।

इसके दूसरे साल 'पलाशिर युद्ध' नामक महाकाव्य प्रकाशित हुआ। इसने नवीन बाबू को वंगसाहित्य के एक बहुत ऊँचे आसन पर बिठा दिया। इसकी भाषा बहुत ही सुस्पष्ट और ओजस्विनी हुई। वंकिमचन्द्र ने तो इसे अग्नितुल्य ज्वालामयी कहा। वास्तव में यह है भी अत्यन्त तीव्र और उग्र। ऐसी सबल भाषा और वर्णनाभंगी हेमचन्द्र के सिवा और किसी वंगकवि के काव्य में मिलना मुश्किल है। बाबू नवीनचन्द्र ने युद्धस्थल का जैसा अद्भुत चित्र खींचा है वैसा किसी बंगाली कवि से नहीं बन पड़ा। परन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि कवि ने वीर और करुणरस का एकत्र समावेश करने में अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है। ऐसा जान पड़ता है मानो कवि ने आग्नेय गिरि के अग्निस्राव के साथ करुणा मन्दाकिनी की पवित्र धारा बहाई है।

इसके बाद नवीनचन्द्र ने रंगमती काव्य की रचना की। परन्तु इस काव्य के देखने से मालूम होता है कि कवि की प्रवृत्ति बदलने लगी है। इसकी भाषा में वह जोर नहीं है। पलाशिर युद्ध की रचना के समय कवि का जो उद्देश्य था वह पूर्ण रूप से बदल गया था। इस रुचिपरिवर्तन के अनेक लोग अनेक कारण बतलाते हैं। किसी-किसी का कथन है कि पलासी के मैदान में जिस विश्वास-घातकता और गृह-विवाद ने भारत के इतिहास को कलंकित किया था उसे कवि ने प्राचीन भारत के रण-क्षेत्रों में भी विद्यमान पाया। इसके बाद कवि ने सोचा कि प्राचीन काल में क्या कोई ऐसा भी महापुरुष हुआ है जिसने इस 'छतच्छिन्न विक्षिप्त भारत' में एक महाधर्म्म-साम्राज्य स्थापित करने की कोशिश की हो? इस समय उसे भगवान कृष्णचन्द्र के सिवा और कोई न देख पड़ा। बस, इसीलिए कवि ने उनकी सौम्य मूर्ति को सम्मुख रखकर अपने परवर्ती काव्यों की रचना की। रैवतक, प्रभास, कुरुक्षेत्र आदि काव्य इसी श्रेणी के हैं।

बाबू नवीनचन्द्र अपने अपूर्व प्रतिभा-बल से भारत के भविष्य इतिहास का आभास दे गये हैं। किस रास्ते, किस तरह चलने से भारत की पूर्वज्ञान गरिमा, पूर्व-ऐश्वर्य्य, पूर्वऋद्धि-सिद्धि लौट आवेगी, कवि ने अपने चित्रित कृष्णचरित में इसी का इशारा किया है।

उपसंहार

उदयास्त जगत का नियम है। इसकी नियम के अनुसार वंगदेश के आकाश में सुधांशु के समान उदित होकर नवीनचन्द्र ने अपने काव्यरूपी प्रकाश से वंगदेश को प्रकाशित किया था। इसी नियम के अनुसार वे अस्त हो गये हैं। वे अस्त हो गये तो हो जायँ, परन्तु उनकी कवि-कीर्ति उनको अमर रक्खेगी। जब तक बंगाल में वंगभाषा का प्रचार रहेगा, जब तक संसार में बंगाली जाति विद्यमान रहेगी तब तक लोग अपने मनोमन्दिर में उनकी पूजा करेंगे। नवीनचन्द्र का नाम बंगाली कभी न भूलेंगे।

(सरस्वती से उद्‌धृत)

समालोचना

(1)

मनुष्य जगत में निर्दोष रूप नहीं, निर्दोष काव्य भी नहीं। कविवर नवीनचन्द्र सेन का यह काव्य भी सर्वांश में निर्दोष नहीं है। तथापि यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि पलासी के युद्ध में सर्वत्र ही उनके असाधारण कवित्व का निदर्शन है। निस्सन्देह यह वंगभाषा के कण्ठहार में एक रमणीय रत्न स्वरूप ग्रथित होगा और जब तक यह भाषा जीवित रहेगी तब तक इसकी कमनीय कान्ति वंगवासियों के हृदय-दर्पणों में प्रतिफलित होगी।

इस काव्य का विषय है पलासी का प्रसिद्ध युद्ध अथवा नवाब सिराजुद्दौला का पतन और वंगदेश में अँग्रेजों की राज-श्री का पहला अभ्युदय। इस देश के लोग साधारणतः जिन सब विषयों का आदर करते हैं वे इस काव्य में नहीं पाये जाते। इसमें देवता नहीं, गन्धर्व नहीं, देवासुर संग्राम नहीं, तपोवन का वर्णन नहीं, जटा-वल्कलधारी तपस्वियों की तपस्या की कथा अथवा शैवालसमाव्रता पद्मिनी की तरह वल्कलावृता मुनिकन्याओं का प्रेम, विरह और अश्रु प्रभृति भारतप्रिय हृदयहारी वृत्तिसमूह का उल्लेख नहीं। परन्तु फिर भी इसमें जो कुछ है उसे पढ़ते-पढ़ते हृदय अनिर्वचनीय आनन्द से उछलने लगता है और कल्पना के अनन्त समुद्र में तैरने लगता है।

पलासी का युद्ध कहने से बालक मार्शमैन के इतिहास की याद करते हैं और वृद्ध लोग विलायत का कोई प्रसंग समझ कर वीतस्पृह हो जाते हैं। किन्तु जिनकी आँखों ने दृष्टि-शक्ति प्राप्त की है एवं जो बुद्धि-चिन्ता के साथ, हमारे कवि की कल्पना के संग उड़ सकेंगे, उनके निकट वंगीय कवि की वीणा के लिए इसकी अपेक्षा ऊँचा विषय मिलना मुश्किल है। पलासी का युद्ध वर्तमान भारत के इतिहास का प्रथम पृष्ठ है, नियति नेमि का अन्तिम आवर्तन है। गंगा और यमुना के समान दो पुराण-प्रसिद्ध नदियाँ दो ओर से प्रवाहित होकर जहाँ आकर प्रेम पूर्वक परस्पर मिलती हैं उस स्थान की पूजा बहुत लोग भक्तिभाव के साथ तीर्थ मानकर करते हैं। इसी तरह समुद्र के सारे पूर्वोच्छ्वास-प्रवाह जहाँ आकर

भैरवगर्जन करते हुए आपस में आघात करते हैं और भयंकर तरंगें उठाकर तट-भूमि को कँपाते हैं, उस स्थान को बहुत लोग प्रकृति की महिमा से मुग्ध होकर वैज्ञानिक लोगों का दृश्यस्थान समझते और उसका आदर करते हैं। इस विचार से पलासी का क्षेत्र महातीर्थ और महादृश्य है। इसी स्थान पर पूर्व और पश्चिम परस्पर सम्मिलित होते हैं। इसी स्थान पर प्राचीन सभ्यता और आधुनिक उन्नति के प्रतिकूल प्रवाह परस्पर घात-प्रतिघात करते हैं। इसी स्थान पर वंश परम्परा के लिए करोड़ों आदमियों के भाग्य की परीक्षा हो जाती है। इसी स्थान पर दो महादेशों के दोनों इतिहास काल की एक कुक्षि में, एक ही साथ, निमज्जित होकर एकीभूत नूतन मूर्ति से भासित होते हैं, एवं वंगभूमि, भारतवर्ष और सम्पूर्ण एशिया-भू-भाग में इस समय जो परिवर्तन का चक्र चल रहा है, असल में इसी स्थान से उसका परिचालन आरम्भ होता है। इतिहास में यदि पलासीं का युद्ध न होता तो इस समय इस देश की क्या अवस्था होती, इसका विचार करना भी कठिन है। लोग इस समय जो युगान्तप्रलय और अभिनव सृष्टि देखकर कभी आशा से प्रफुल्ल और कभी विषाद से अवसन्न होते हैं, उसका कहीं चिह्न भी दिखाई देता या नहीं, इसमें सन्देह है। वस्तुतः समालोच्य ग्रन्थ में पलासी का युद्ध जिस भाव से कथित हुआ है। वह अत्युच्च कल्पना का परिचायक है एवं सम्पूर्ण चित्त को हृदय में ग्रहण करने के लिए इतिहास रूपी शैल के शिखर पर आरोहण करके भारत के मान-चित्र को कवि के नेत्रों से देखने की फिर आवश्यकता पड़ती है। नहीं तो पलासी का युद्ध कुछ भी नहीं है।

हम केवल कल्पित विषय की उच्चता, प्रसार और अतुल गौरव के विचार से ही कवि की प्रशंसा नहीं करते। इस कल्पना में नवीन बाबू की और भी एक विशेष प्रशंसा है। जिस मार्ग से उन्होंने गमन किया है उनके पहले कोई उससे नहीं गया। वे साहसपूर्वक जिस 'मणि-खानि' के भीतर प्रविष्ट हुए हैं उसमें किसी ने उनके लिए आलोक-वर्तिका स्थापित नहीं की। विद्यापति और चंडीदास प्रभृति कवियों के समय से इस देश में जिस किसी ने भी काव्य रचना की है उसने एक न एक प्राचीन अवलम्ब पाया है। किसी ने पुराने फूलों की नयी माला बनाई हैं, किसी ने नये फूलों को पुराने सूत्र में गूँथा है। नवीन बाबू ने यह नहीं किया। उनका अवलम्ब अपना ही हृदय और अपनी ही कल्पना है। उनके लिए वाल्मीकि भी मणि-वेध नहीं कर गये हैं एवं कवि कल्पादप व्यासदेव भी रत्न सजाकर नहीं रख गये हैं। उन्हें प्रायः सब अपने ही हाथों से संचयन और ग्रथन करना पड़ा है। यह थोड़े गर्व की बात नहीं। यद्यपि आधुनिक रीत्यनुसार पुस्तक में कोई भूमिका नहीं रक्खी गयी है तथापि दूसरे सर्ग में, आशा को सम्बोधन करके कवि ने अपने मन का विनयाच्छन्न अभिमान और अभिमानाच्छन्न भय अत्यन्त कौशल पूर्वक व्यक्त किया है। हम उनके अभिमान को अन्तःकरण से क्षमा करते हैं एवं उनकी आशा दुराशा नहीं है, यह सरल हृदय से विश्वास किये लेते हैं। जिनकी कृपा से आज

बंगाल में मधुसूदन प्रभृति कवियों का नाम लोगों के कण्ठ कण्ठ में विचरण कर रहा है वे नवीन बाबू पर अप्रसन्न नहीं।

पलासी का काव्य अनति दीर्घ पाँच सर्गों में विभक्त है। इसके पहले सर्ग में विद्रोहियों का षड्यंत्र और उनकी कुमन्त्रणा, दूसरे सर्ग में ब्रिटिश-सेना का शिविर सन्निवेश, तीसरे सर्ग में पलासी क्षेत्र के वर्णन-प्रसंग से सिराजुद्दौला की तत्कालीन दशा का वर्णन इत्यादि, चौथे सर्ग में युद्ध और पाँचवें सर्ग में सिराजुद्दौला की शोचनीय एकान्त हत्या का वर्णन है।

प्रथम सर्ग का आरम्भ जैसा गम्भीर है वैसा ही मनोहर भी है। जान पड़ता है, मेघनाद-वध के आरम्भ के अतिरिक्त बंगला के किसी भी काव्य के प्रारम्भिक वर्णन में इस प्रकार भयंकर गाम्भीर्य्य और परिम्लान मनोहारित्व प्रदर्शित नहीं हुआ। अभ्रभेदी पर्वत किंवा अनन्त विस्तृत समुद्र प्रभृति के वर्णन से मन में एक तरह की गम्भीरता का आवेश होता है, यह गम्भीर्य्य उस तरह का नहीं। किसी अलौकिक रूपवती रमणी किंवा मृदु वाहिनी नदी अथवा सरोवर विलासिनी प्रफुल्ल कमलिनी प्रभृति के वर्णन में भी उच्च श्रेणी के कवि मनोहारित्व की सृष्टि कर सकते हैं।

यह मनोहारित्व भी उस प्रकार का नहीं। यदि कोई प्रतिभाशाली चित्रकार विषाद की प्रतिमूर्ति अंकित करने में समर्थ होता एवं उस मूर्ति में आतंक और आशा, इन दोनों का विरोध और शोक की मलिनता पूर्णतया प्रकट कर सकता तो उसी के साथ इसकी उपमा दी जा सकती। पढ़ते समय जान पड़ता है मानो प्रकृति अपने आप आकर आजन्म दुःखिनी वंगभूमि के दुःख में करुण कण्ठ से विलाप कर रही है और सारा संसार भय, विस्मय एवं शोक से स्तम्भित होकर अनन्य मन और अनन्य श्रवणों से उस विलाप को सुन रहा है।

दिगन्त व्यापी अन्धकार के वर्णन में एक अद्भुत पंक्ति हठात् कवि की लेखनी से निकल पड़ी है–

"तम में अनन्य काय शून्य धरातल है"

इस पंक्ति का अनुवाद यदि संस्कृत में किया जाय तो महाकवि भारवि के निम्नोद्धृत प्रसिद्ध श्लोकार्द्ध के साथ यह निर्भय जोड़ दिया जा सकता है–

"भवति दीप्ति रदीपित कन्दरा
तिमिर संवलितेव विवस्वतः"

इस सर्ग में कुछ आगे चलने पर यवनों के निपात का निदानीभूत जगत्सेठ का निभृत मन्त्रणा-भवन दिखाई देता है। इस मन्त्रणा-चित्र में कुछ अनुकृति की छाया पाई जाती है। जिन्होंने मिल्टन के स्वर्ग-भ्रष्ट (Paradise Lost) काव्य के दूसरे सर्ग में पांडिमोनियम की वह रोमांचकारिणी वर्णना पढ़ी है, उनको यह चित्र विशेष विचित्र न जान पड़ेगा। किन्तु अनुकृति की छाया होने से यह किसी प्रकार निन्दनीय नहीं। पहले तो पलासी के युद्ध में यह अंश अपरिहार्य है, दूसरे इस मंत्रणा के ओर

पांडिमोनियम की मन्त्रणा के अधिनायकों में भेद है। ये सब रक्त- मांस के मनुष्य हैं, वे कविकल्पित उपदेवता। इनके शोक, मर्म्म-व्यथा एवं आशा और भय हम लोग समझ सकते हैं, उनकी सब बातें मानवीय सहानुभूति के वाहिर्भूत हैं* । हम विशेष निर्वाचन न करके इस अंश से कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत करते हैं। वर्णन में कैसा प्रशंसनीय चित्र-नैपुण्य दिखाया गया है, इसका विचार सहृदय पाठक कर देखें।

(प्रथम सर्ग पृ. 6 में ''नम्रमुख पाँच वीर बैठे ये अडोल हैं'' यहाँ से लगाकर ''मानो बहा रुद्धगिरि-निर्झर गरज कर'' तक)

कूटचक्रबद्ध मन्त्रणा करने वालों में से सभी सिराजुद्दौला के घोर विद्वेषी और मर्म्मान्तक शत्रु थे। उसका सिंहासन इसी क्षण चूर्ण-विचूर्ण हो जाय, यही सबकी हार्दिक इच्छा थी। किन्तु कवि ने बड़ी सावधानी से विशेष कौशलपूर्वक इनमें से प्रत्येक के भाव भिन्न भिन्न रीति से प्रकाशित करके चरित्र-वैचित्र्य की रक्षा की है। इसी के साथ अपनी लोक-प्रतिज्ञता एवं शाब्दिक क्षमता का भी परिचय दिया है। मन्त्रिवर राय दुर्लभ कपटी धार्म्मिक हैं। कछुवे की गर्दन की तरह उनका मन एक बार बाहर आता है और दूसरी बार भीतर घुस जाता है। वे स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं देख सकते। जहाँ वे अपना पैर रखना चाहते हैं वहीं उन्हें काँटों का भय होता है, जिनके साथ वे मन्त्रणा करने के लिए आये हैं, उन पर भी उन्हें पूरा विश्वास नहीं होता। अन्त में वे प्राण-भय को पाप-भय कहते हैं और इस प्रकार के मनुष्य जैसा करते हैं, मन की बात मन में ही रख कर इसका उसका मुँह ताकते हैं। उसके बाद जगत्सेठ। पाण्डवों की सभा में जैसे भीमसेन थे वैसे ही इस सभा में जगत्सेठ हैं। वे भीम के ही समान अकपट, असन्दिग्ध चित्त, अटल साहस पूर्ण एवं अभिमान के विष से जर्जरित हैं। सेठ के हृदय का क्रोध आग्नेयगिरि के समान है। उससे जो कुछ निकलता है वह सुनने वाले के ऊपर अनलस्फुलिंग की तरह पड़ता है। उनकी बातें नाड़ियों में अग्निस्रोत बहा देती हैं।

जगत्सेठ की प्रतिज्ञा भी भीमसेन के समान है। उसे सुनते ही हृदय चमत्कृत हो उठता है एवं इतनी देर में पुरुष सामने आया है, यह मालूम होने लगता है–

(प्रथम सर्ग पृष्ठ 13 में–''चाहे शरच्चन्द्रिका भले ही कभी भ्रष्ट हो'' यहाँ से लगाकर–''तो भी नहीं पा सकेगा मुझसे कदापि त्राण'' तक)

राजनगराधिप महाराज राजवल्लभ की बातों में विष का मिश्रण है, विद्युद्वेग नहीं। उनकी बातें मानों निकल निकल कर भी दुःख के मारे नहीं निकल पातीं। किन्तु इस अस्फुट कथन को सुन कर भी–

'' + + मीरजाफर का धधक उठा हिया''

---

* फिर अनुकृति की छाया कहाँ रही?–प्रकाशक

राजा कृष्णचन्द्र प्रकृत धार्म्मिक, पापद्वेषी, पवित्र और परदुःखकातर हैं। जिस समय वे अलीवर्दी के अकलंक चित्र-पट की ओर दृष्टि डालकर सिराजुद्दौला की कलंक-पंकिल कुत्सित प्रतिमूर्ति देखते हैं, उस समय घृणा से उनका आत्मा जर्जरित होने लगता है। किन्तु वे जगत्सेठ की तरह साहसी नहीं हैं। राजवल्लभ की तरह कूट भाषी भी नहीं हैं। उनका परामर्श स्पष्ट है। चक्रियों में उनका ही चक्रान्त नहीं, क्योंकि वे मीमांसा करने वाले हैं। विस्तार भय से रानी भवानी के भाषण में से कुछ उद्धृत न कर सकने का हमें खेद है, किन्तु हम यह कह सकते हैं कि जो कोई वह अमृताक्त विष किंवा विषाक्त अमृत पान करेंगे वे पद पद पर कविवर नवीनचन्द्र सेन को जी खोलकर धन्यवाद देंगे। यदि कोई मनुष्य गम्भीर निद्रा में सहसा कोई अश्रुत पूर्व शब्द सुनकर जाग उठे तो जिस प्रकार उसका चित्त अनेक प्रकार के अचिन्त्य भावों से आलोड़ित होने लगता है, उसी प्रकार इस काव्य के प्रथम सर्ग से द्वितीय सर्ग में अवतीर्ण होते ही पाठकों का असावधान चित्त आलोड़ित होने लगता है।

प्रथम सर्ग की सभी बातें रात के दुःस्वप्न की भाँति अलीक जान पड़ती हैं। अथवा घोर अँधेरी रात में जिस भाँति अकस्मात् मेघगर्जन् सुनने किंवा सहसा बिजली की क्षणिक आभा देखने पर उसे भ्रम मानने की इच्छा होती है, उसी भाँति जो कुछ सुना है और जो कुछ देखा है वह भ्रम-सा जान पड़ता है किन्तु द्वितीय सर्ग में प्रवेश करते ही वह प्रीतिकर भ्रम दूर हो जाता है एवं जो कुछ सुना नहीं और देखा नहीं उसे देख कर और सुन कर मन विस्मय के बाद भय और भय के बाद विस्मय से विस्फारित और संकुचित होने लगता है। कहाँ इंग्लैण्ड और कहाँ वंग-भूमि! किन्तु यह क्या सुनते हैं और क्या देखते हैं?

> ''वीर-ब्रिटिश-रण-वाद्य अहा! बजते हैं झम झम
> पदातिकों के पैर ताल पर पड़ते हैं सम
> हींस रहे हय, गरज रहे गज यथा घनाघन
> झूल-झूल कर शूर-शस्त्र कर रहे झनाझन
> ठहर ठहर कर वीर-कण्ठ से सेनापति के
> बदल रहे हैं विविध भाव सैनिक निज गति के
> नचते हैं ज्यों साँप सँपेरे के गुण-बल से
> रखते हैं त्यों धीर और द्रुत पद कौशल से
> कभी करों में, शस्त्र कभी कन्धों पर रखते
> कभी घूमते कभी साध कर लक्ष्य निरखते
> झर झर झर झंकार विपुल होता है द्रुम का
> विज्ञापन दे रहा सगर्व ब्रिटिश-विक्रम का''

इस सर्ग में समरोन्मुख सैनिकों के मनोभावों को अंकित करते हुए कवि

ने आशा की एक वन्दना की है, वह बहुत काल तक याद रहेगी। इस वन्दना को स्काटलैण्ड के प्रसिद्ध कवि कैम्बेल की आशा नाम्नी कविता के साथ मिलाकर पढ़ने पर पाठक विशेष आनन्द प्राप्त करेंगे। कैम्बेल की आशा भूलोक छोड़ कर उच्चतम आकाश में विचरण करती है; नवीन बाबू की आशा स्नेह-गद्‌गद प्रिय जन के कण्ठ की तरह, रोम रोम में विचरण करके, मन को हर लेती है। दोनों ही सुख-दर्शन हैं। किन्तु एक मध्याह्न के मार्तण्ड की प्रचण्ड ज्योति है। और दूसरी लघु मेघावृत चन्द्रमा की शीतल कान्ति। एक सुदूरवर्तिनी है और दूसरी मर्म्मस्पर्शिनी। जो ब्रिटिश-सेना के प्रधान नायक एवं भारत में अँग्रेजी राज्यमहिमा के प्रथम प्रतिष्ठाता हैं, उन चिर विश्रुतनामा दुर्द्धर प्रकृति क्लाइव के साथ इस समय तक किसी का परिचय नहीं। वे कहाँ थे, क्यों वंगदेश में आये थे, एवं आकर भी आज किस कारण कटवा शिविर में, पेड़ के नीचे, एकाकी गम्भीर चिन्ता में निमग्न हैं, इन बातों का कवि ने आख्यायिकाकारों की प्रचलित रीति के अनुसार इसके पूर्व कुछ भी वर्णन नहीं किया। किन्तु आशा के आगे जिज्ञासा करने के बहाने जिस भाव से वह वीर वर सामने लाया गया है, वह बहुत ही सुन्दर हुआ है। इस प्रकार पट-परिवर्तन होने से मन में कुतूहल होता है, एवं उत्तरोत्तर चित्र देखने के लिए चित्त में सहज ही उत्सुकता उत्पन्न हो उठती है। क्लाइव की उस समय की मुखच्छवि एवं मनोगत भावों का जैसा वर्णन हुआ है वह भी हमारी राय में प्रशंसनीय है।

नवीन बाबू ने वर्णनीय वीर पुरुष के नेत्रों और उसकी दृष्टि पर विशेष ध्यान दिया है। यदि वे उसके होंठ, नासिका, भृकुटि एवं बैठने की भंगिमा को भी अंकित कर देते तो विज्ञान की भी सम्मान रक्षा हो जाती और उनका वर्णन भी चमत्कार पूर्ण हो जाता। क्लाइव के वर्णन में थोड़ी सी न्यूनता रहने पर भी जो ध्यानयोग में उनके मानस-चक्षुओं के सामने, इस क्षुद्रतामय नरलोक में, क्षण भर के लिए पधारी हैं उनकी (ब्रिटिश राजलक्ष्मी की) ओर देखते ही सब भूल जाना पड़ता है। एक बार नयन भरकर इस मूर्ति के दर्शन करने पर नवीन बाबू को सामान्य प्रशंसा का उपहार देने की कभी इच्छा नहीं होती। प्रशंसा करने की इच्छा उस समय प्रीति और भक्ति में परिणत हो जाती है जिस समय वीर केसरी क्लाइव सन्देह के झूले पर दोलायित होकर आशा की हिलोरों से एक बार ऊपर चढ़ते हैं एवं परिणाम सोचकर फिर विवश होकर नीचे गिरते हैं, जिस समय सम्पद और विपद, विजय और पराजय एवं कीर्ति और अकीर्ति की विभिन्न मूर्तियाँ क्षण-क्षण में उनके कल्पना-चक्षुओं के सामने प्रतिभासित होकर उनको विशेष रूप से विलोड़ित करती हैं, एवं जिस समय अपमान का वृश्चिक-दंशन, लोभ के अद्‌भुत ताड़ना और अभिमान की प्रज्वलित अग्नि उनके हृदय को एक अनिर्वचनीय उत्साह से स्फीत कर देती है, उसी समय राजराजेश्वरी रूपिणी एक दिव्य रमणी, आराध्य देवता की तरह अथवा

मूर्तिमती सिद्धि अथवा विजयलक्ष्मी की तरह अँधेरे घर में दीप-शिखा के समान, अकस्मात् उनके सामने आविर्भूत होती है। उस समय–

> ''फैला शत शत सूर्य-तेज-सा नभ-मण्डल में
> उतरी एक प्रकाश-राशि-सी पृथ्वीतल में
> क्लाइव-मन विविध भार विस्मय के जागे
> देखी ज्योतिर्मयी एक रमणी-मणि आगे।''

यह रमणी चित्र अतुलनीय है। इस अलौकिक रूप राशि के दर्शन से नीच भावापन्न मनुष्य को भी कुछ देर के लिए, आत्मविस्मरण हो जाता है एवं जो पवित्रता कभी उसका स्पर्श नहीं करती वह आकर उसमें आविष्ट हो जाती है।

अभया ने ''मा भैः'' शब्द से क्लाइव के आकुल प्राणों को आश्वस्त और उनके निर्वाणोन्मुख साहस को पुनर्वार प्रदीप्त करके आकाशवाणी की तरह जो बातें कही हैं उन्हें सुनने के लिए हृदय वारंवार अधीर और सुनकर दुःख के दाह से दग्ध हो जाता है।

हम इस सर्ग की एक वर्णना का और उल्लेख करते हैं। रसग्राही सहृदय पाठक उसे पढ़कर विस्मित और विमोहित होंगे। यदि कल्पना की उच्चता और चित्रगत कारुकारिता से आत्मा को अभिभूत कर सकने में काव्य की प्रशंसा होती है तो यह अंश कितना प्रशंसनीय है, यह नहीं कहा जा सकता। प्राचीनता की अन्धभक्ति छोड़कर, पक्षपात-शून्य हृदय से विचार किया जाय तो इस वर्णन के कवित्व की तुलना कम ही मिलेगी। जिस समय वह ज्योतिर्मयी वरवर्णिनी जान गयी कि उसके साधक की कामना सिद्ध हो गयी, उस समय उसने उसे दिव्य दृष्टि प्रदान करके, मानो अंगुली-निर्देश पूर्वक, विधाता के बनाये हुए, 'भावी भारतमानचित्र' को दिखलाना आरम्भ किया। भारतवासियो! जीवित हो या मृत हो, तुम भी एक बार उस मानचित्र को देखो।

इस सर्ग के अन्त में एक संगीत है। वीरकण्ठ ब्रिटिश सैनिकगण रण के मद से मत्त होकर, गरज गरज कर, एक स्वर से यह गीत गाते-गाते गंगा पार हो रहे हैं और ताल ताल पर, आघात आघात पर गंगा की निर्मल जलराशि-लहरी लीला से नाच रही है। भागीरथी ने बहुत दिनों के बाद वीररस से नृत्य किया। गीत कविता बनाने में ग्रन्थकार की कैसी क्षमता है बंगीय साहित्य-समाज में बहुत पहले उसकी परीक्षा हो चुकी है। इस तरह की कविता केवल मनोरंजन ही नहीं करती, उपकार भी करती है। जैसे एक जन का गीत सुनकर और एक जन को गाने की इच्छा होती है वैसे ही एक जाति की जय-गाथा सुनकर अन्य जाति का हृदय भी गाने के लिए उत्सुक हो उठता है। इसका नाम है सहानुभूति का शासन एवं यही महान उपकार है। सिंहलविजय के समय बंगालियों ने एक बार यह गीत गाया था। दैव-वश इस समय उनका कण्ठ नीरव हो गया है। अथवा इस दीपक और हिण्डोल राग

पर विराग होने से लता की तरह दोलायमान विलासिनियों के कोमल कण्ठों के अनुकरण ही की प्रवृत्ति उनमें उत्पन्न हो गयी है। यदि बंगाली फिर किसी दिन इसी प्रकार गीत गाकर जल-स्थल निनादित कर सकेंगे तो वही वंग-भारती विमान में बैठकर आनन्दाश्रु बरसावेगी।

यह सिद्ध है कि काव्य का प्रधान परीक्षा-स्थल पाठकों का हृदय है। तार्किकों की भाषा सोपान पर सोपान आरोहण करके बुद्धि को सम्बोधन करती है। परन्तु कवि की कण्ठलहरी तर्क के कुटिल पथ पर न जाकर एक बार ही हृदय के मर्मस्थान पर पहुँचती है। सुतरां जो वाक्य जिस परिणाम से हृदय के ऊपर कर्तृत्व कर सकता है,—श्रोता या पाठक के हृदय के निद्रित भावों को जगा सकता है—वह काव्य उसी परिणाम से कृतार्थता लाभ करता है। और, जो काव्य जिस परिणाम से हृदय को स्पर्श करने अथवा उसके निकटस्थ होने में असमर्थ होता है वह उसी परिमाण से अकाव्य में परिगणित होता है। पोप और बाइरन को देखिए। पोप की कृति पढ़ते समय आपको पहले यही प्रतीति होगी कि आप किसी सावधान पुरुष के समीप बैठे हैं। उत्तरोत्तर कथा के ग्रथन में सावधानता, भावों के समावेश में सावधानता एवं पदविन्यास में भी वही सावधानता। भावों का समावेश सौ सौ वार परीक्षा करके हुआ है एवं प्रत्येक भाव शतवार शोधित होकर कवि के हृदय से बाहर निकला है। बाइरन की रचना में उसका चिह्न भी नहीं। वह रात में वंशीध्वनि के समान किंवा वायु-विक्षुब्ध स्रोतस्विनी की विलापध्वनि के समान है। सुनते ही चित्त पागल की तरह नाच उठता है। क्या सुना, किसने सुनाया, इसके विचार करने का अवसर ही नहीं रहता, प्राण आकुल हुए जाते हैं, यही धारणा रहती है। कभी विरति होने लगती है, कभी प्रीति का संचार होने लगता है। कभी आत्मा अशान्ति से छटपटाने लगता है एवं कभी शान्ति के क्षण स्थायी सुख-स्पर्श से क्षण भर के लिए सुख का स्वादु पाने लगता है। किन्तु वह अनिर्वचनीय आकुलित भाव किसी प्रकार शान्त नहीं होता। वह क्रमशः बढ़ता ही जाता है और अन्त में समस्त हृदय को तरंगायित कर देता है। उल्लिखित दोनों कवियों में शक्ति विषयक इतना तारतम्य क्यों? इस प्रश्न का सब यही उत्तर देंगे कि एक जन बुद्धि का कवि है और दूसरा हृदय का। एक घर का पिंजर बद्ध तोता है, दूसरा मदमत्त वन-विहंग। जो बुद्धि के कवि होते हैं वे 'इसीलिए' अथवा 'अतएव' लगातार बुद्धिमानों को समझाते हैं किन्तु उनकी वे सुमार्जित और सुसंगत बातें सुनी जाकर भी अनसुनी-सी हो जाती हैं। परन्तु जो हृदय के कवि होते हैं वे तान के परिमाण पर दृकपात न करके हृदय का सुख किंवा दुख गा डालते हैं। तथापि वह वन्य संगीत विशृंखल होने पर भी, इस हृदय से उस हृदय में प्रतिध्वनित होता है और एक तान में सौ तानों की सृष्टि करता है।

पलासी का युद्ध इसी श्रेणी का काव्य है। यह हृदय रूपी सजीव प्रश्रवण से निःसृत हुआ है। इस कारण इसकी प्रत्येक कविता और प्रत्येक पंक्ति सजीवता

का परिचय देती है। हम बाइरन के किसी काव्य से इसकी तुलना नहीं करना चाहते क्योंकि ऐसा करने से अवश्य ही यह हीनप्रभ प्रतीत होगा।

किन्तु बाइरन की कविता में जो दृकपात शून्य वन्य भाव एवं जो अद्‌भुत मादकता है, इसमें भी, अनेक स्थलों पर, उसके अनुरूप पदार्थ परिलक्षित होते हैं। कोई कृत्रिम कवि पलासी का युद्ध बनाने में कभी समर्थ न होता। इसके लेखक के हृदय में चिर वसन्त, चिरयौवन विराजमान है। उसमें वार्द्धक्य की जड़ता नहीं, चिन्ता-परायण मात्र सावधानता नहीं, एवं सोच सोचकर पदविन्यास का अवकाश नहीं। तथापि रचना मर्म्मस्पर्शिनी है। पाठक तृतीय सर्ग के आरम्भ से ही इसका परिचय पावेंगे कि नवीनचन्द्र को हम क्यों असावधान कहते हैं एवं असावधान कहने पर भी उन्हें क्यों अकृत्रिम कवि कहते हैं।

उक्त कविता पढ़ना आरम्भ करते ही यह धारणा होती है कि कवि अतीव सहृदय और अतीव चिन्ताशील व्यक्ति है। वह कल्पना के योग से उस भारत विश्रुत पलासी के प्रांगण में उपस्थित हुआ है और उपस्थित होते ही चिन्ता के आवेग से अवसन्न हो गया है। उसका मन उसके हाथ में नहीं रहा। हृदय में गम्भीर शोक सिन्धु उछल उठा है, एवं शोक-वश आँखों से झर-झर आँसू झरने लगे हैं। इसके बाद ही जिज्ञासा होती है कि यह शोक क्या है? मुगलों के दुःख का दुःख, शत्रु के लिए सहानुभूति, उत्पीड़कों के लिए उत्पीड़ितों का सकरुण खेद अथवा कारण विना कार्य्य? अच्छी बात है, शोक का स्रोत ही प्रवाहित हो; अकस्मात यह क्रोध की स्फूर्ति कहाँ से हुई? यदि मुगलों के दुःख से ही हृदय द्रवित हुआ है तो फिर 'पापी यवनों' कह कर उनका तिस्कार क्यों? और, बंगालियों को ही उन 'पापी यवनों' के निपातगीत से विशेष दुःख क्या? पढ़ने वालों के चित्त में इस प्रकार के कितने ही विचार उठते हैं और वे कवि की कल्पना के अन्तरतम प्रदेश में प्रविष्ट होकर इनकी मीमांसा करने की चेष्टा करते हैं, इतने ही में एक नयी बात होती है। कहाँ करोड़ों मनुष्यों के भाग्य की परीक्षा और कहाँ रमणी-गण के रूपों की तरंगें? परन्तु कवि इस भारत का भाग्य-सूत्र हाथ में लिए नवाब सिराजुद्दौला के शिविरस्थ विलास गृह में प्रविष्ट हुआ, वैसे ही सब बातें उस विलास-सरसी में एक साथ डूब गयीं! उस समय—

घेरे सिराज को सरस सुन्दरी-गण हैं,
काश्मीर, कुसुम हैं और वंग भूषण हैं।

इत्यादि

और—

झंकार मात्र ही, नहीं अहा! वह सुषमा,
क्या मदनमोहिनी मूर्ति अपूर्व अनुपमा!

इत्यादि

हम पहले जिस असावधानता की बात कह आये हैं वह यही है, एक गीत में और एक गीत, एक रागिणी में और एक रागिणी। किन्तु इस असावधानता में भी क्या ही स्वाभाविक चमत्कार विराजमान है, क्या ही अद्भुत सहृदयता प्रकाशित हो रही है! तरंग के ऊपर तरंग की तरह उद्वेलित हृदय-समुद्र में वार वार भाव परिवर्तन होता है और आत्मविस्मृत कवि उन समस्त चंचल भावों को वर्ण-तूलिका लेकर अविराम गति से अंकित करता जाता है। मन की इस अवस्था में क्या कभी सावधान रहा जा सकता है? अथवा तर्कशास्त्र का प्रबोध देने के लिए इतना सावधान होकर चलने से क्या कविता चंचल सौदामिनी की तरह मूर्तिमती और हृदय ग्राहिणी हो सकती है? कवि ने इस सर्ग में और एक असाधारण क्षमता दिखलाई है। रमणी-रूप के वर्णन से, नृत्य-गीत के वर्णन से एवं हाव, भाव, लीला, रंग और विलास-विभ्रमादि के वर्णन से बहुधा चित्त चलायमान हो उठता है। अविरल वारिधारा में धूप के विषाद मय हास्य की तरह अथवा प्रातःकाल के टिमटिमाते हुए दीपक की तरह पाठकों की दृष्टि में सभी निरानन्द आनन्द की मूर्ति धारण करता है। संस्कृत के अलंकार शास्त्र के अन्धभक्त शृंगार रस को सर्वदा करुणरस का विरोधी कहते हैं। जो शृंगार रस के उद्दीपक वर्णन में इस प्रकार करुण रस का उद्बोधन करने में कृतकार्य्य हुए हैं उनको महाकवि कहें या न कहें, इसके कहने की आवश्यकता नहीं।

पलासी के युद्ध का चतुर्थ सर्ग बंगाली मात्र के गर्व का विषय है। वंग भाषा में ऐसी सामग्री बहुत ही कम है। इसका कोई अंश पढ़िए, आप मोहित और पुलकित हो जायँगे और जितनी बार पढ़ेंगे उतनी ही बार नूतन आनन्द का अनुभव करेंगे। क्या रस, क्या रचना, सभी अंशों में यह यत्परोनास्ति मादक और मनोहर है। यदि स्थान होता तो हम इसे आद्योपान्त उद्धृत करते। तथापि यहाँ वहाँ से कुछ अंश उद्धृत किये बिना नहीं रह सकते।

(युद्ध के वर्णन से लेकर मोहनलाल के उत्तेजन तक स्थान स्थान से उद्धरण)

इसके बाद फिर युद्ध, मीरजाफर की विश्वास घातकता और प्रतारणा एवं वंगेश्वर का पराजय और पलायन। उस समय कल्पना-दृष्टि से अस्तोन्मुख सूर्य्य की ओर देखकर कवि ने जो कुछ कहा है, अश्रु जल के सिवा भारतवासी उसका प्रतिदान नहीं नहीं दे सकते। प्रिय-वियोग-विधुरा कामिनी के कण्व का विलाप सुना है एवं वीणा का करुणापूर्ण कोमल निनाद भी सुना है, किन्तु किसी से भी प्राण इस प्रकार आलोड़ित नहीं होते। यदि ये बातें कवि की ओर से न कही जाकर स्वदेशवत्सल मोहनलाल के मुँह से कहलाई जातीं तो फिर कहना ही क्या था।*

मुर्शिदाबाद के कुछ बुद्धिमान लोग मीरजाफर को कर्नल क्लाइव का गधा कहते थे। पंचम सर्ग में इन्हीं गर्दभश्रेष्ठ मीरजाफर की राज्यप्राप्ति और सिराजुद्दौला

---

* पहले वे बातें कवि ने अपनी ही ओर से कही थीं। पीछे शायद इसी समालोचना को पढ़कर मोहनलाल के मुँह से कहलाई।

के वध का वर्णन है। कवि ने इस सर्ग का नाम दिया है–अन्तिम आशा। यदि हम इसका नामकरण करते तो एक नाम रखते–महापातक और दूसरा–आशा का निर्वाण। इसी जगह सब आशा विलीन हो गयी, प्रदीप चिरकाल के लिए बुझ गया। यह सर्ग सर्वांश में एकसा मनोहर नहीं हुआ है। किन्तु स्थान-स्थान पर अद्‌भुत है। पाठक कभी करुणा से द्रवित हो जायँगे, कभी भय से स्तम्भित। जिस समय मनुष्य कुल के चिरकलंक मीरन का एक पापी सहचर कारागार के अन्धकार को भेद कर सिराजुद्दौला के शयन कक्ष में प्रविष्ट हुआ एवं उसने दुःख से जर्जर, अर्द्धमृत अभागे युवक का सिर काटने के लिए तलवार उठाई उस समय दयार्द्र चित्त कवि उसे उपदेश देता है–

रे निष्ठुर, कृतघ्नकिंकर, हा! तू यह क्या करने चला?
कह, नवाब का वध करने को तू क्यों उद्यत है भला?
मरता है जो स्वयं, मारने से उसको क्या, शान्त हो,

इत्यादि

पलासी के युद्ध की भाषा कैसी हृदयहारिणी हुई है, इसका कहना व्यर्थ है। वस्तुतः ऐसी सरस, सरल और सुखपाठ्य कविता अधिक नहीं देखी गयी। हमारी राय में अँगरेजी भाषा के साथ सरवाल्टर स्काट के 'लेडी आफ दी लेक' नामक काव्य का जो सम्बन्ध है, वंगभाषा के साथ पलासी के युद्ध का वही सम्बन्ध रहेगा। तथापि हम इतना अवश्य कहेंगे कि कविवर नवीनचन्द्र सेन अँगरेजी भाषा के प्राणगत रस को बंगला में ढालने जाकर जिस प्रकर स्वजाति के कृतज्ञता-भाजन हुए हैं, बीच-बीच में उसी प्रकार उन्होंने दो एक अक्षम्य अपराध भी किये हैं। उनकी ग्राम्य दोष से दूषित कुछ पंक्तियों ने कहीं-कहीं कविता को इस तरह बिगाड़ दिया है मानो दूध के घड़े में गोबर डाल दिया गया हो! परन्तु साथ ही कुछ आगे चलकर उन्होंने कोई-कोई ऐसी सुधा-निस्यन्दिनी कविता वंग-भारती के कण्ठ में प्रदान की है जिसे देखकर उनका सब अपराध भूल जाता है।

उदाहरण लीजिए–

शोभि छे एक टि रवि पश्चिम गगने
भाषि छे सहस्र रवि जाह्नवी जीवने
(शोभित दिनमणि एक प्रतीची के अंचल में
सौ सौ दिनमणि झलक रहे हैं गंगाजल में)

और

प्रिय केरोलाइना आभार
जेइ प्रेम अश्रुराशि आजि अभागार
झरिते छे निरवधि
तरल ना हत यदि

गाँथिताम जेइ हार तव उपहार
किछार इहार काछे गोलकन्दा-हार
(मेरी केरोलीना प्यारी,
प्रिय, आज इस दुर्विध के जो प्रेम-अश्रु ये भारी
अविरल आँखों से हैं बहते
यदि न तरल होते, थिर रहते
तो इन से जो हार गूँथ कर देता मैं उपहार
उसके निकट गोलकुण्डा का हीर-हार क्या छार?)

पलासी के युद्ध में इस प्रकार की कविता एवं ऐसी ललित पदावली का अभाव नहीं है। मानो लेखनी ने निरन्तर मुक्ताफल उत्पन्न किये हैं। जिस समय वाल्मीकि ने कविता लिखी उस समय उन्हें दूसरे का अनुकरण नहीं करना पड़ा, जिस समय होमर ने वीररस मग्न होकर वज्र-गम्भीर स्वर से वह एक गीत गाया था उस समय उन्हें और किसी के कण्ठ का अनुसरण नहीं करना पड़ा था। किन्तु नूतन कवियों के भाग्य में वह बात नहीं। वे प्रकृति के निकट जितना नहीं सीखते हैं, अपने पूर्वतरकवियों के निकट उसकी अपेक्षा अधिक सीखते हैं। अतएव वे अनुकरणकारी हैं। नवीन बाबू भी इसके अपवाद स्वरूप नहीं हैं। सिराजुद्दौला के विकट स्वप्न-वर्णन में शेक्सपियर के तृतीय रिचार्ड नामक नाटक के स्वप्न-दर्शन की स्पष्ट छाया है। चाइल्ड हेरल्ड के तृतीय काण्ड की कुछ कविताओं में नृत्य-गान का जैसा वर्णन है पलासी के युद्ध में उसकी छाया पड़ी है एवं बाइरन और स्काट का कितने ही स्थलों में अनुकरण किया गया है। इसे हम दोष नहीं समझते। क्योंकि इससे सभी समान दोषी हैं। दोष किंवा अपूर्णता की बात कहने पर पलासी के युद्ध का विशेष दोष किंवा अपूर्णता यही है कि इसमें मनुष्य-चरित्र का विशद चित्र नहीं है। इसके पाठान्त में कुछ अत्युत्कृष्ट भाव एवं अत्युत्कृष्ट वर्णन हृदय में दृढ़ रूप से निबद्ध रहता है, किन्तु उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट कोई चरित चित्रित नहीं होता।

नवीन बाबू प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति हैं। हम विश्वास करते हैं, भविष्य में वे हमारा वह क्षोभ दूर करेंगे। वंगभाषा स्वदेशहितैषी सहृदय बंगालियों की आत्मा के समान है। वह वंगभाषा जिनके द्वारा अलंकृत हुई है हम उन पर अवश्य प्रेम करेंगे। एवं जिन पर प्रेम करेंगे उनसे आशा क्यों न करेंगे।

—कालीप्रसन्न घोष।

(2)

पलासी का युद्ध ऐतिहासिक वृत्तांत है एवं पलासी का युद्ध अनैतिहासिक वृत्तान्त है। क्योंकि इसका असल इतिहास लिखा ही नहीं गया, अतएव काव्यकार का इसमें

विशेष अधिकार है। इसीलिए, जान पड़ता है, मेकाले ने क्लाइव का जीवन चरित नामक उपन्यास लिखा है। जो हो उससे इस समय हमें कोई प्रयोजन नहीं, हम नवीन बाबू के ग्रन्थ की बात कहते हैं।

प्रथम सर्ग में नवद्वीप-निवासी राजा कृष्णचन्द्र प्रभृति वंगीय प्रधान व्यक्ति, जगत्सेठ के भवन में बैठकर, सिराजुद्दौला को राज्यच्युत करने का परामर्श करते हैं। यह सर्ग हमारी समझ में इस काव्य के लिए विशेष प्रयोजनीय नहीं जान पड़ता। अन्ततः इसे कुछ संक्षिप्त करने से काव्य की कोई विशेष हानि न होती। इसके द्वारा काव्य का प्रधान अंश सूचित और प्रवर्तित हुआ है एवं नवीन बाबू के स्वाभाविक कवित्व का इसमें विलक्षण परिचय है। इसका एक उदाहरण दिया जाता है–

(पृष्ठ 17 और 18 कृष्णचन्द्र कृत सिराजुद्दौला का राज्य वर्णन)

रानी भवानी की बातें बड़ी सुन्दर हैं एवं षड्यन्त्रकारियों में उनके सब वाक्य ज्ञान-गर्भित हैं। उनमें से, हिन्दुओं और मुसलमानों में जो सम्बन्ध है, तद्विषयक निम्नोद्धृत उपमा सुनिए–

"जाति-धर्म-हेतु नहीं होता द्वेष-मय है,
यवन हमींमें मिले आज इस भाँति हैं।
पीपल में होते उपवृक्ष जिस भाँति हैं।"

षड्यन्त्र में यही स्थिर हुआ कि अंग्रेजों की सहायता से अत्याचारी सिराजुद्दौला को दूर करना होगा–सिराज के सेनापति भी उनके साथ सम्मिलित होंगे। रानी भवानी इस परामर्श की विरोधिनी थीं। अंग्रेजों की सहायता से जो होगा वह देववाणी के समान वाक्य-परम्परा द्वारा रानी ने समझा दिया। बाद में अपना मत इस प्रकार प्रकाशित किया–

(पृष्ठ 28 में "मेरा क्या मत है, महाराज, ध्यान दीजिए" यहाँ से "किंवा दुःख भोगो दास्य भार का" तक)

कहना व्यर्थ है कि इस परामर्श के अनुसार काम नहीं हुआ। इसी जगह प्रथम सर्ग समाप्त होता है।

द्वितीय सर्ग से काव्य का यथार्थ आरम्भ होता है। इसी स्थान से कवित्व का उत्कर्ष दिखाई देता है। द्वितीय सर्ग से लेकर इस काव्य में कवित्व-कुसुम इस प्रकार प्रभूत परिमाण में विकीर्ण हुए हैं कि कौन स्थल उद्धृत किया जाय, समालोचक इसका निश्चय नहीं कर सकता। इच्छा होती है, सभी उद्धृत कर दें। इस प्रकार अपर्याप्त परिमाण में जो ये दुर्लभ रत्न विकीर्ण कर सकते हैं वे निस्सन्देह सच्चे धनी हैं।

कटवा से अंग्रेज सैनिकों के नदी पार होने का चित्र तपन चित्रित फोटोग्राफ के समान है एवं फोटोग्राफ में जो अद्भुत रश्मि नहीं होती वह इसमें है–

(द्वितीय सर्ग के आरम्भ से ''विज्ञापन दे रहा सगर्व ब्रिटिश-विक्रम का'' तक)

सैनिकों का केवल बाह्य दृश्य ही नहीं, आन्तरिक भाव भी सुचित्रित हुआ है। गंगा पार होकर सेनापति क्लाइव पेड़ के नीचे बैठे हुए कर्तव्या-कर्तव्य की चिन्ता करते हैं। भावी घटना की अनिश्चियता एवं अपनी दुःसाहसिकता की पर्यालोचना करके वे शंकित हो रहे हैं। इस दशा में ब्रिटिश राजलक्ष्मी ने उनको दर्शन देकर आश्वस्त किया, वह चित्र कवि की यथार्थ सृष्टि है। राजलक्ष्मी को कवि ने एक अपूर्व महिमा और शोभा से परिमण्डित किया है।

(द्वितीय सर्ग से राजलक्ष्मी का रूप वर्णन, पृष्ठ 44)

उसकी वाणी आकाश प्रसूत मेघ-ध्वनि के समान हमारे कानों में प्रवेश करती है।

(पृष्ठ 51 में ''राजों के भी राज महाराजों के नेता'' यहाँ से ''देख वत्स, यह विकट परीक्षा-स्थल समक्ष है'' तक)

क्षुद्रक्षुद्र विषयों के वर्णन में कवि का कवित्व प्रकाशित हुआ है। निम्नोद्धृत छोटा-सा चित्र देखिए–

(पृष्ठ 53 में ''सजी सजाई नाव लगी थी नदी तीर पर'' यहाँ से ''गाते थे जय गान जयति जय जयति ब्रिटिश जय'' तक)

इस नाव के नाविकों का गीत परम मनोरम–बाइरन के अनुरूप–है। उसे सुनकर बाइरन कृत नाविक दस्युओं के गीत की याद आती है।

(''चिर स्वतन्त्रता के सागर में'' इत्यादि गीत)

तीसरे सर्ग के आरम्भ में सिराजुद्दौला के शिविर में नृत्य-गान की धूम मच गयी है। इसी समय सहसा अँग्रेजों का वज्र गरज उठा। फिर भी बाइरन कृत वाटर्लू के युद्ध की पूर्व रात्रि का वर्णन याद आता है–

There was a sound of revelry by night etc.

गायिका का निम्नलिखित वर्णन भी बाइरन के योग्य है–

''वाणी-वीणा से बढ़ा चढ़ा स्वर मधुमय,
है निकल रहा करके सकम्प अधरद्वय।''

इत्यादि।

तोप के शब्द से नृत्य-गान भंग हो गया। सिराजुद्दौला भवितव्या की चिन्ता में डूब गया। उसकी बातों से उसका स्वार्थपर, अध्यवसाय-विहीन दुर्बल भीत चित्त अतिशय निपुणता के साथ प्रकटित हुआ है। इस काव्य में कवि ने चरित्र के आश्लेषण की शक्ति का वैसा परिचय नहीं दिया है सही, किन्तु इस स्थान पर विश्लेषण शक्ति का विलक्षण परिचय दियां है।

नवाब अपने कर्म्मफल और चरित्र-दोष की चिन्ता करके भय से विमूढ़ होकर मीरजाफर की शरण लेने के लिए दौड़ा। किन्तु भय के कारण मूर्छित होकर गिर

पड़ा। उसी समय उसकी एक स्नेहमयी बेगम उसे उठा कर अश्रु-वृष्टि करने लगी। इस ओर एक ब्रिटिश युवक—

"मेरी केरोलीना प्यारी!"

यह सुन्दर गीत सुमधुर स्वर से गाने लगा। इसी प्रकार रात बीती तृतीय सर्ग समाप्त हुआ।

इस काव्य का एक विशेष दोष, कार्य्य की मन्थर गति है। इसमें कार्य्य बहुत थोड़ा है, जो है भी उसकी गति बहुत मन्द है। छोटी-सी घटना के विस्तीर्ण वर्णन से सर्ग-पूर्ति होती है। प्रथम सर्ग में राजाओं ने परामर्श किया, इतना ही; द्वितीय सर्ग में अँग्रेजी सेना गंगा पार करके पलासी के क्षेत्र में उतरी, इतना ही; तीसरे सर्ग में कुछ भी नहीं हुआ। किन्तु कवि की ओजस्विनी कविता के मोह-मन्त्र से मुग्ध होकर इन सब दोषों को देखने का अवकाश नहीं रहता।

चतुर्थ सर्ग में पलासी का युद्ध है। युद्ध का वर्णन बहुत सुन्दर है—

("बजा ब्रिटिश-रण-वाद्य इसी क्षण करके घन घन घोर" इत्यादि।)

इसके बाद मोहनलाल के जो वीर वाक्य हैं वे और भी सुन्दर हैं। सत्य इतिहास में यह कीर्तित है कि हिन्दू सेनापति मोहनलाल पलासी के मैदान में क्लाइव को प्रायः विमुख कर चुका था। यदि मीरजाफर विश्वासघात न करता तो भारत-साम्राज्य आज कौन भोग करता, यह नहीं कहा जा सकता। यवन सेना को पलायनोद्यत देखकर मोहनलाल ने उसे लौटाने के लिए जो सब बातें कही थीं, उन्हें क्या हम उद्‌धृत करें? नहीं, पाठकों की इच्छा हो तो अकेले में बैठ कर पढ़ें।

मोहनलाल की बातों से सेना फिर लौटी। फिर लड़ाई होने लगी। किन्तु इसी समय शठ मीरजाफर के परामर्श से नवाब ने लड़ाई रोकने की आज्ञा दी। नवाब की सेना युद्ध से विरत हुई। यह देखकर अँग्रेजों ने दूना जोड़ लगाया—

(पृष्ठ 100 में "त्यों ही एक बार टल पाया" से "गया अस्त होने यवनों का गौरव-रवि सम्पूर्ण" तक)

ब्रिटिश सेना की जीत हुई। सूर्य्यास्त हुआ। कवि ने सूर्य्य को साक्षी करके अपने मन की कुछ बातें लिखी हैं। किन्तु इस प्रकार के उपाख्यान-सम्बन्धी काव्य में एतादृश दीर्घ मन्तव्य हमारी समझ में उपयुक्त नहीं। चाइल्ड हेरल्ड में बाइरन ने सर्वत्र इसी प्रकार अपने मन्तव्य पद्यबद्ध करके लोगों को मुग्ध किया है। किन्तु चाइल्ड हेरल्ड वर्णन मूलक काव्य है और पलासी का युद्ध उपाख्यान मूलक है। चाइल्ड हेरल्ड में जो बात शोभित होती है वह पलासी के युद्ध में नहीं शोभित होती। इस काव्य में कार्य्य की गति का विरोध करना उचित नहीं हुआ। किन्तु इस काव्य का कार्य्य अति मन्द-गामी है यह पहले ही कहा, जा चुका है।

पंचम सर्ग में विजेताओं का उत्सव, सिराजुद्दौला का कारावास और वध वर्णित है।

'मेघनाद-वध' या 'वृत्र-संहार' के साथ इस काव्य की तुलना करने से कवि के साथ अन्याय करना है। इन दोनों काव्यों की घटनाएँ काल्पनिक हैं, अति प्राचीन काल में घटित होने से कल्पित एवं सुरासुर, राक्षस वा अमानुषिक शक्तिधारी मनुष्यों के द्वारा सम्पादित हैं। सुतरां कवि इस क्षेत्र में यथेच्छ विचरण करके अपनी इच्छा के अनुसार सृष्टि कर सकता है। पलासी के युद्ध की सब घटनाएँ ऐतिहासिक और आधुनिक हैं। एवं हमारे समान सामान्य मनुष्यों द्वारा सम्पादित हैं। अतएव कवि इस स्थान में शृंखलाबद्ध पक्षी की तरह पृथ्वी पर बद्ध है; वह आकाश में उड़कर गान नहीं कर सकता। इसलिए काव्य के विषय निर्वाचन करने के सम्बन्ध में हम नवीन बाबू को सौभाग्यशाली नहीं कह सकते।

तब इस काव्य में घटना-वैचित्र्य और सृष्टि-वैचित्र्य का संगठन करना कवि के लिए अवश्य साध्य था। इस सम्बन्ध में नवीन बाबू ने वैसी शक्ति नहीं दिखलाई। वृत्र-संहार का एक विशेष गुण यह है कि उस काव्य में उत्कृष्ट उपाख्यान है, नाटक है और गीति अतीव प्रबल है। नवीन बाबू वर्णन करने और गीति कविता लिखने में एक तरह से मन्त्रसिद्ध हैं। इसी से पलासी का युद्ध इतना मनोहर हुआ है।

श्रीगणेशाय नमः

पलासी का युद्ध

प्रथम सर्ग

(मुर्शिदाबाद–जगत्सेठ का मन्त्रणागार)

आधी रात हो रही है मौन महीतल है;
सघन घनों से घिरा घोर नभस्थल है।
करके विदीर्ण उसे–नाग ज्यों करे कला–
रह रह कर कौंधती है चला चंचला।
वंग-दशा देखने को मानो देवबालाएँ–
खोल कर गगन-गवाक्ष–रूपमालाएँ–
मान के सिराज-भय बन्द कर लेती हैं,
रूप-ज्योतियों से चकाचौंध लगा देती हैं,
मेघों को हँसाकर निमेष भर, अन्त में–
बिजली बिला जाती है भय से अनन्त में!
यवनों का अत्याचार देख कर पापपूर्ण,
शुद्ध मन हाय! कहीं हो न जाय तापपूर्ण।
मेघों में छिपाकर इसी से आपको अहा
चिन्ताकुल, मौन उडुवाला-कुल हो रहा!
रोदन प्रजा और राजा का विलास-गान,
बधिर बना रहे हैं घोर यामिनी के कान!
धरा को धँसाकर नभोपरि न फेरें हाथ,
भीत हो इसी से घन गर्जते हैं एक साथ!
घोर घहराने से काँप उठती है धरा,

होती है जिससे निशा, द्विगुण भयंकरा।
अम्बुदों के असित वितान के तले अड़ी—
निश्चल, शिलामयी-सी, वृक्षराजि है खड़ी।
गंगा में उठती नहीं एक भी तरंग-सी,
हो गयी है आज जल की भी गति भंग-सी!
रुक-सा रहा है अहा! नित्य कालस्रोत भी,
निश्चल प्रकृति भी है शून्य ओतप्रोत भी!
साँस-सी रुकी है महास्तब्ध धरातल की,
सुन के गभीर घोषणा-सी मेघदल की।
दैव का प्रकोप नील नीरद जताते हैं,
पापी, अनाचारियों की छाती दहलाते हैं।
हो रहा दिगन्त महा कालिमा-कवल है,
तम में अनन्यकाय शून्य-धरातल है!
लीलकर मानो इस विश्वचराचर को,
तम ही विराजता है देखिए जिधर को।
आती हैं विभीषिका की मूर्तियाँ ही दृष्टि में,
शव-से उगलती समाधियाँ हैं सृष्टि में!
वे हैं मुँह बाये, दाँत काढ़कर चलते,
आँखें खोलते ही मानों प्राण हैं निकलते!
भूतल श्मशान-सा है, घूमती हैं काकिनी;
नंगी तलवारें लिये नाचती हैं डाकिनी।
वंग के गले से लगी कालनिशा रोती है,
(किन्तु मौन, कारण? सिराज-भीति होती है)
रोती है मौन वंगजननी भी विघात से,
भीगता है शस्य-वस्त्र ओस-अश्रुपात से।
झिल्लियाँ भी मौन हैं, रुकी है वायु की भी गति;
लोग यत्न सोचते हैं, काम नहीं देती मति।
पुत्र माँ की छाती पर, शय्या पर दम्पती,
पति प्राण-चिन्ता में, सतीत्व-चिन्ता में सती!
खेद खोने वाली नींद पाकर सिराज-भय,
कौन जाने कहाँ गयी छोड़ कर वंगालय।
वंग-राजधानी यही सारी रात राजती,
शारदी निशा-सी दीप-तारों भरी भ्राजती।
होती निशा-सुन्दरी प्रफुल्ल फूल-हारों से,

बढ़ती प्रमोद-नदी दोनों ही किनारों से।
पौर जन शान्ति-सुख-सागर में डूबते,
देवों के समान कभी थकते न ऊबते।
क्यों है पुरी आज वही चिन्ता-सिन्धु में निमग्न?
हो रहा है हाय! क्यों समस्त समुत्साह भग्न?
जिसका सु-गान सुन गंगा नाचती रही,
हो रही न जाने आज कैसी देखिए, वही!
कल्पने, आ, एक वार चंचला-प्रकाश में,
वैजयन्त-धाम ऐसे सेठ के निवास में।
भारत-विदित ज्यों कुवेर-कोश-थल है,
रत्नासनासीन जहाँ इन्दिरा अचल है।
नृत्य, गान, वाद्य अनिवार्य्य जहाँ सर्वदा,
अमृत बहातीं कलकण्ठियाँ जहाँ सदा;
कूकती हैं मत्त कोकिलाएँ ज्यों वसन्त में,
फैलता है गन्धामोद आप ही दिगन्त में।
देखें, चल, घुस के सशंक अन्धकार में,
आज सेठ के उसी सु-धन्य धनागार में।
यह क्या, ऐं, मौन है सितार, वेणु, वीणावाद,
करता मृदंग नहीं मेघ-सा गभीर नाद।
आवाहन पूर्वक बुला के मेघमाला को,
गाता नहीं कोई मेघ-रागिनी रसाला को।
नंगी तलवारें लिये द्वारपाल द्वार द्वार—
टहल रहे हैं मौन, छा रहा है अन्धकार।
एक भी कपाट कोई अर्गला विना नहीं,
जलता प्रदीप एक दीखता नहीं कहीं।
प्राचीरादियुक्त गृह अन्धकार में छिपा,
विरल विजन मानो कालिमा से है लिपा।
एक मात्र रश्मि एक कक्ष के झरोखे से—
निकल रही है, मानो भूल पड़ी धोखे से!
आती तमोराशि में है क्षीण दीप्तिधारा-सी,
टूट कर नभ से गिरी है एक तारा-सी।
आती वह रश्मि जिस क्षुद्रपथ से यहाँ,
चलकर कल्पने, उसी से आज तू वहाँ।
कह, जब सारी पुरी डूबी तम-पक्ष में—

क्यों यह प्रकाश भला एक इस कक्ष में?
कोई महामन्त्र सिद्ध करता क्या आज है?
देख, इस रात में सजाता कौन साज है?
विस्मय है, वंग का अदृश्य जिनके है हाथ,
जिनसे है वंग-सिर ऊँचा गुरुता के साथ।
सिंहासनासीन होते जो हजारों से घिरे,
बैठे आज क्यों हैं यों अकेले में वही निरे?
मुख पर उदासी है, सोच है हृदय में,
चिन्तित इकट्ठे हुए ये किस विषय में?
भीत पर, चित्र में, नृमुण्डमाल्यधारिणी–
लोलजिह्वा भैरवी है अट्टहासकारिणी।
नम्रमुख पाँच वीर बैठे ये अडोल हैं,
दक्षिण करस्थ किये दक्षिण कपोल हैं।
साँस आती है या नहीं, चिन्ता के अयन हैं;
कुटिल कुभावना से कुंचित नयन हैं।
निर्निमेष लोचनों से, एक मन से, सकष्ट,
पढ़ते शिलांकित-सा वंग का अदृष्ट स्पष्ट–
दैव का लिखा, या मानो कल्पना के यान में–
मन से सवार हो के, भान खो के ध्यान में,
काल की यवनिका को खींच पल पल में,
तैरते हैं वंग के भविष्य-सिन्धु-जल में।
एक नारीमूर्ति मौन बैठी, स्वर्ण-सा है वर्ण;
दीर्घ ग्रीवा, सौम्य नासा, छू रहे हैं नेत्र कर्ण।
मानो शुकतारा वर व्योम चित-पट पर,
शोभित है ज्ञान, मान मुख से प्रकट कर।
फिर वही नेत्र, पलकों में जो सदा प्रसन्न,
होते स्नेहनीर से हैं मंजु, मृदु भावापन्न।
हाल बरसाते क्रोध-गरिमा-गरल हैं।
हाल ही दया से द्रवीभूत हैं, सरल हैं।
विश्वव्यापिनी है जाह्नवी-सी जो दया स्वतः,
अमृत बहाती सर्व वंग में इतस्ततः।
ऐसे स्निग्ध नेत्रों से, गभीर मुख से तथा–
हो रही है व्यक्त आज चिन्ता-भाव की व्यथा!
कर पै कपोल वाम, खिन्नता है मन में,

शोकरता जानकी हों ज्यों अशोक वन में।
एक ओर बैठा एक नीरव यवन है,
आसन स्वतन्त्र तथा तेजसी वदन है।
मन में दुरूह मानो भावना है घूमती,
लम्बी और श्वेत डाढ़ी आप पैर चूमती।
दृष्टि कभी शून्य कभी भूमि को टटोलती,
लम्बी साँस छोड़ने में डाढ़ी मूँछ डोलती।
ये सब इकट्ठे क्यों हुए हैं दूर दूर से?
निभृत निवास में क्यों बैठे चिन्ताचूर-से?
वंग के विमल कुछ तारे ये गिनें चुनें,
आज किस सोच की घटा से हैं घिरे, सुनें?
सैरिन्ध्री स्वरूपा वंग, कीचक यवन है;
लूट लेना चाहता क्या पापी धर्म्म-धन है?
कैसे उसे दण्ड दिया जाय, यही मन्त्रणा—
करते हैं पंच भ्राता पाके मर्म्म यन्त्रणा?
किंवा राज्य-प्राप्ति-हेतु, खेदयुक्त मन में—
कृष्णासह सोच करते हैं तपोवन में?
कौन कहे, ये सब व्रती हैं किस व्रत में?
कैसा वर चाहते हैं श्यामा से निभृत में?
साधारण चित्त का भी चलता नहीं पता,
राजों के अभीष्ट को है कौन बता सकता?
दीर्घ श्वास छोड़, मुख ऊँचा कर अपना—
(दूर हुआ भावना का मानो सब सपना)
साथियों को देख, देखो, बोला वह मन्त्रीवर—
(मानो बहा रुद्धगिरि-निर्झर गरज कर)
"महाराज कृष्णचन्द्र, सोच मैंने है लिया;
सुनो, यह काम कभी होगा न मेरा किया।
जन्म से शरीर अन्न जिसके से है पला,
कैसे लूँ कृतघ्नतासि तद्विरुद्ध मैं भला?
काटूँ हाय! छाया वृक्ष छाया प्राप्त कैसे मैं?
किंवा करूँ नीच कर्म्म, क्रूर साँप जैसे, मैं!
हाय! जिस गाय के थनों से किया दुग्ध पान,
कैसे बदले में करूँ उसको विष-प्रदान?
धर्म्म आज भी है धर्म्म, पाप आज भी है पाप;

धर्म्म छोड़ पाप करूँ कैसे, सोच लीजे आप?
नरक समान है कृतघ्नचित्त पापारूढ़;
खाता जिस कर से है काटे उसे कौन मूढ़?
अल्प उपकार भी जो करता है प्यार से,
पाप लगता है उसके भी अपकार से।
होकर मैं मन्त्री करूँ उसका अहित क्या?
राजद्रोह और सो भी मुझको उचित क्या?
अन्त भी अनिश्चित है, सिद्ध होगी भूल ही;
पाप-परिणाम सदा होता प्रतिकूल ही।
सिंहासन-भ्रष्ट कर दुर्विध नवाब को,
कौन अभिसन्धि सिद्ध होगी सो जवाब दो?
राजदण्ड ले जो और सिद्ध करे कालदण्ड,
तो फिर उपाय? हाय! 'नादिर' सा क्रूरचण्ड—
कोई 'शाह' दिल्ली लूट आवे जो यहाँ सगर्व;
रक्खोगे क्यों कर फिर मान, धन, प्राण सर्व?
लूट ले सभी कुछ जो छोड़ कर प्राण मात्र?
बदले में हमको दे दास्य-भार, भिक्षा-पात्र!
कौन रोक लेगा उसे, हम बलहीन हैं;
क्यों न हों, शताब्दियों से आज पराधीन हैं।
देश-रक्षा करने की शक्ति ही नहीं यहाँ;
दासता के जीवन में शौर्य्य, वीर्य्य हो कहाँ?
करते बनें जो वंग-शासन स्वबल से,
दे सको नवाब को जो दण्ड निज दल से;
तो समक्ष युद्ध करो, करते क्यों छल हो?
अन्यथा अधीन रहो जैसे आज कल हो।
राजपद, मन्त्रिपद, दैव ने जो हैं दिये;
धन्यवाद उसको दो नित्य इनके लिए।
मानता हूँ मैं सिराज पापवृत्ति वाला है,
किन्तु युक्ति से क्या व्याघ्र जाता नहीं पाला है?
वशीभूत होता है कराल विषधर भी,
भूलते हैं कैसे फिर आप जानकर भी?
धर्म्मनीति, राजनीति और पाप-पुण्य-भय,
मिलके हृदय में ये हो सकें कहीं उदय;
तो वही अदम्य उग्र पाप-वृत्तियों का चय—

कुसुम-समूह सम होगा मृदु भाव मय।
शीतल सुरभि तुल्य शान्ति के विधान में,
स्वर्ग रूप होगा वंगदेश एक आन में।
इससे दुराशामयी पाप-मन्त्रणा है व्यर्थ,
मोह वश पीछे कहीं अर्थ का न हो अनर्थ''।
कह यों भविष्य हुआ मन्त्रिवर शान्त जब,
सुन के मुहूर्त भर मौन रहे शान्त सब।
एक दूसरे को सब देखते उदास थे,
पामर यवन-शोच कर के निराश थे।
मुख को उठा के, सिंहनाद किंवा घन ज्यों,
बोला जगत्सेठ तब गर्वित वचन यों–
''मन्त्रिवर, इष्ट है हमें क्या पराधीनता?
चाहता है कौन स्वयं दीनता या हीनता?
चाहते हैं क्या हम, विदेशी यहाँ आवें जो–
सिंहासन छीनें और प्रलय मचावें जो?
स्वर्ग-मर्त्य एक हो, न होंगे किन्तु एक हम;
खो चुके हैं साहस समेत जो विवेक हम।
कह दें कहो जो किन्तु मन की करेंगे सब,
साख महमूद के जमाने से भरेंगे सब।
विस्मय है, व्यक्त करें मन्त्री आज ऐसा भाव!
किंवा वही जानता है लगता जिसे है घाव।
फलतः जिन्हें है प्राप्त राजसत्ता वंग की,
भावे उन्हें मन्त्र-युक्ति कैसे इस ढंग की?
सालता उसी को है कि लगता जिसे है शेल,
दूसरों का रोदन है लौकिक रुदन, खेल।
एक का है लक्ष्य होता अन्य के हिये का तीर!
'जिसे न बिवाँई फटी जाने क्या पराई पीर?'
मन्त्रिवर, क्या कहूँ मैं कहते जी जलता,
छाती फटती है और खून है उबलता।
अनलस्फुलिंग रोमरन्ध्रों से निकलते
विद्युत-प्रवाह-से हैं नाड़ियों में चलते।
और क्या कहूँ मैं, रख बेगम का छद्मवेश,
करके दुरन्त मेरे अन्तःपुर में प्रवेश;
कुल को, जो भारत-प्रदीप्त, भानु-सम है,

दे चुका कंलक रूप कालिमा अधम है।
हाय! जगत्सेठ की विभवकथा देश में;
हो रही प्रसिद्ध है कहावत के वेश में।
सेठ का है नाम लक्ष मुद्रा समकक्ष आज,
और तो क्या, बद्ध ऋण-रज्जु में स्वयं सिराज।
जाह्नवी ज्यों, सौ मुखों से नित्य व्यवसाय-स्रोत,
भरता है धन से समुद्र कोश ओतप्रोत।
किन्तु वही जगत्सेठ, छाती फटती है हाय!
आज अपमान से है नम्र मुख, दग्धकाय।
किन्तु है प्रतिज्ञा यह मेरी, क्यों न पृथ्वी भर–
पक्ष में नवाब के हो; किंवा क्षुद्रजीवी नर–
क्या हैं? उसे अभय प्रदान करें सारे देव,
तो भी सुनो तो भी यह कालिमा अवश्यमेव–
धोऊँगा नवाब के ही रक्त से मैं मानी चिर,
जो हो फिर भाग्य में करें जो माँ भवानी फिर।
चाहे शरच्चन्द्रिका भले ही कभी भ्रष्ट हो
सम्भव नहीं जो सेठ-गरिमा विनष्ट हो।
घोर प्रतिहिंसानल जलती है मन में,
जलती हो दावानल जैसे किसी वन में।
इसको सिराज के ही रक्त से बुझाऊँगा,
मेरी है प्रतिज्ञा, तभी चैन कुछ पाऊँगा।
और क्या कहूँ, प्रतिज्ञा, मैं कभी न छोड़ूँगा,
सिद्धि-हेतु व्योम के भी तारे आप तोड़ूँगा।
कार्य्य हो तो मेरु को भी धूल में मिलाऊँगा,
वज्राघात झेलूँगा, भुजंगों को खिलाऊँगा।
होंगे यदि पापी के शरीर में सहस्र प्राण,
तो भी नहीं पा सकेगा मुझसे कदापि त्राण,
छायापथ-सा है स्वच्छ मार्ग देशोद्धार का,
आगे बढ़ो, काम नहीं सोच या विचार का।
अन्यथा सदैव भोगो दासता के दुख को,
लेकर कलंक मैं दिखाऊँगा न मुख को।
जीवन समर्पण करूँगा इसी प्रण में,
करके दिखाऊँगा कहा जो एक क्षण में।
एक प्रतिहिंसा, प्रतिहिंसा प्रतिहिंसा सार,

और कुछ इष्ट नहीं इष्ट वही वार वार।"
मौन हुआ सेठ आँखें आग बरसाती थीं,
बद्ध मुष्टियाँ भी रोष-राग दरसाती थीं।
काटने से अधर हुए थे रुधिराक्त प्राय,
काँपती थी सारी देह—"स्वप्न के समान हाय!"
बोले राजवल्लभ यों—"पामर के पापाचार,
मानव-प्रकृति-योग्य हैं नहीं किसी प्रकार।
थोड़े ही दिनों में, हाय! रोम होते हैं खड़े,
देश में नहीं हुए हैं पाप क्या बड़े-बड़े?
पाप का प्रवाह वृद्धि पाता दिनोंदिन है,
अन्त में रुकेगा कहाँ, कहना कठिन है।
यही हाल थोड़े दिन जो रहा, हुआ न यत्न,
तो न वंगकोश में बचेगा हा! सतीत्व-रत्न।
वंगवासियों का कुल शील, मान होगा नष्ट,
शंका अब भी है, सब पा रहे हैं प्राण-कष्ट।
करते हैं लोग चारों ओर घोर हाय हाय,
कैसे बचें प्राण, धन, सूझता नहीं उपाय।
क्या कहूँ मैं, जैसा कष्ट देता मुझे दुष्ट है,
रखता कुदृष्टि क्रूर, आदि से ही रुष्ट है।
पुत्र कृष्णदास हुआ निष्कासित वंश सह,
आश्रय न देते अँगरेज तो न जानें हह!
होती क्या हमारी दशा? प्राण-पुत्र-पत्नी हीन
मैं हूँ आज पत्रशून्य-ग्रीष्म-तरु-तुल्यदीन।
अत्याचार सोच कलकत्ते की तबाही के,
होते खड़े रोंगटे हैं काँटे यथा साही के।
पुत्र को न मारा उस वार दुष्ट ने सही,
छोड़ेगा न किन्तु स्वस्थ हो के दृष्टि है वही।
सम्प्रति विपत्तियों का चारों ओर भय है,
करता इसी से नहीं मेरा कुलक्षय है।
सन्ध्या है कलि की, यही अन्तिमाशालोक है;
चूकी जहाँ दृष्टि बस अन्धकार शोक है।
घेरे हैं नभ को आज मेघ जैसे चारों ओर,
घेर लेंगी सारा देश चिन्ता की घटायें घोर।
गर्जन करेगा घन-नाद से नृशंस ही,

रोकेगा महा झड़ जो होगा वह ध्वंस ही।
विष है अभी से इस पन्नग में इतना,
पूर्ण पुष्ट होने पर होगा कहो कितना?
प्राण लेगा कितनों के जीता यदि छोड़ोगे;
किंवा विषदन्त शीघ्र इसके न तोड़ोगे!
आँख मूँद बैठने में मंगल नहीं है अब;
राज्यच्युत करने का सोचो सदुपाय सब,
लेकर उदार अँगरेजों से सहायता,
काढ़ो इस कण्टक को छोड़ो निरुपायता।
होगी कब देश पर दैव की सुदृष्टि हाय!
जो हो किन्तु निश्चित है मेरी यही एक राय—
साधु मीरजाफर को राज्य-भार दीजिए;
पाकर सुशान्ति सुख-निद्रा लाभ कीजिए।''
राजा राजवल्लभ ने ऐसा जो मत दिया,
'साधु मीरजाफर' का धड़क उठा हिया।
'आपने यथार्थ कहा' बोले कृष्णचन्द्र भूप—
''होगा कौन ऐसा मूढ़ होगा जो ना साक्षि रूप।
सोचे—घर बैठा हूँ—जो व्याघ्र मुख में पड़ा,
होगा कहाँ कौन, और मूढ़ उससे बड़ा?
आप ही अदूरदर्शी युवक नृशंस है,
हिंसक है, दाम्भिक है मानो नया कंस है!
साथ ही समुद्धत हैं साथी सब संग के,
विष-फल फलाते हैं भाग्य में जो वंग के।
नंगी तलवार लिये नाचता है अत्याचार,
देश है श्मशान हुआ, गूँजता है हाहाकार!
जिस दिन मराठों ने विप्लव मचाया था,
कैसा अनाचार लगातार यहाँ छाया था?
जाते हैं दिवाग्नि रूप दस्यु ये जहाँ जहाँ,
अग्निदाह, रक्तपात, लाते हैं वहाँ वहाँ।
व्याघ्र-भय भूल प्रजा छिपती है वन में,
जैसे व्याघ्र-भीत मृग जाते हैं गहन में।
किन्तु अलीवर्दीखाँ नवाब, स्वर्ग में हैं जो,
अमर तथापि यहाँ लोक वर्ग में हैं जो।
वंगदेश उज्ज्वल था पाके प्रभा जिनकी,

क्या न करते थे व्यथा मेटने को इनकी?
वृद्ध थे तथापि भस्माच्छन्नवह्नि सम थे,
न्यायी थे, उदार थे, हाँ युद्ध में वे यम थे।
सिंहासन उनसे था इन्द्रासन के समान,
बैठा अब एक वहाँ घृण्य और नीच श्वान।
कामिनी का अंक-मणि-सिंहासन साज आज,
बैठते हैं अद्भुत सभा में वंग-रंग-राज।
राजदण्ड मद्यपात्र, जिसकी सुकान्ति से—
घूमते हैं तीनों लोक आँखों में अशान्ति से।
कन्धे पर उत्तरीय वामा-बाहु हार है,
प्रेम कथा मन्त्रणा है, रूप उपहार है।
अर्थी अभिलाषा व्यक्त करते हैं गान में,
सौ सौ वासनायें भरी एक एक तान में!
किन्तु क्या करोगे सखे, वंगविधि वाम है,
माता चिरदुःखिनी है, सुख का न नाम है।
सेन कुलांगार किस कुक्षण में गौडेश्वर—
सप्तदश अश्वारूढ़ यवनों से भागा डर।
वंग के गले तभी से दास्य-शृंखला पड़ी,
तोड़ें इसे आर्य्यगण होगी क्या ऐसी घड़ी?
जानें भवितव्य इसे किंवा यह शृंखला—
कै कै वार होगी नयी जेतृभेद से भला!
कौन कहे, कौन जानें पानीपत कै कै वार,
भारत के भाग्य का करेगा और भी विचार।
गत हैं पठान, गत प्राय ये मुगल हैं,
शृंखलित किन्तु हम आज भी अबल हैं।
सदियाँ गयी हैं, किन्तु दैव अब भी है क्रूर;
भारत की दासता न जानें कब होगी दूर।
किन्तु क्या करोगे, फिर पूछता हूँ मैं यही,
क्या करोगे, मन्त्र उस वार कर के सही;
पूर्णिया के पापी को मिलाया, हुआ फल क्या?
पापमयी आशा का नहीं था वह छल क्या?
कामी सुरासक्त हुआ युद्ध में यों काल-लक्ष—
व्याघ-बाण से ज्यों क्रौंच आदि कवि के समक्ष।
जलते सभी हम नवाबकोपानल से,

बचे हैं न जानें किस पूर्व-पुण्य-बल से।
किन्तु यही सोच कण्टकों में रहें कैसे हम?
चिन्ता धन-प्राण की सदा ही सहें कैसे हम?
जाता दिन दुःख में, अनिद्रा में है जाती रात,
हमको मृदु शय्या भी होती शरशय्या ज्ञात।
भूत-भयभीत जन घोर तम में यथा,
निज पद शब्द से ही चौंकते हैं सर्वथा।
होके तथा कण्टकित मृदु भी समीर से,
काँपते रहें क्या हम आकुल अधीर-से?
जानकर लाक्षागृह में जो करते हैं वास,
सम्भव है कैसे उन्हें पावक से हो न त्रास?
इससे सहायक कर श्वेतद्वीपदल को,
राज्य च्युत कीजे इस पापी क्रूर खल को।
देखो, मीरजाफर को राज्य-भार देने को,
*अन्धकूप-हत्या का बदला तथा लेने को।
आया है ब्रिटिशसिंह वीर अवतार ज्यों,
करके कलकत्ते की रक्षा वज्र सार ज्यों।
हुगली-समर में नवाब-सैन्य शीघ्र नाश,
पा रहा है शिशिर विभेदी भानु-सा प्रकाश।
कर के विलोड़ित नवाब-सैन्य-पारावार,
आँधी यों उठाई थी कि भागा था नवाब हार।
साहस-विकास देख निर्भय हृदय से,
तृण ही दबाते बना दाँतों तले भय से।
देखते ही देखते हराये फरासीसी फिर,
करती थी काँप कर मानो धरा सी सी फिर!
देख समरानल किनारे डरीं गंगा भी,
धीरे बहीं मानो वे तरंग-भंग-रंगा भी!
दसवें दिन, कंजाली जैसे व्योम-सर में,
ब्रिटिश-पताका उड़ी चन्दननगर में।
सुनते हैं, फ्रेंच-सम शूर कहीं हैं नहीं,
दूर किया क्लाइव ने गर्व उनका वहीं।
सैन्य सह उनसे मिलें जो वंग-सेनापति,
पावे तो समुद्र या कृशानु वायु की-सी गति।

---

* Black Hole

बोलो, फिर क्लाइव से कौन पार पावेगा?
डूबेगा, जलेगा या नवाब उड़ जावेगा।''
होके कुछ तर्क यही मत सबका रहा,
''रानी का मत क्या?''तब कृष्णचन्द्र ने कहा।
परदे के भीतर वे श्रान्त हुई बैठी थीं,
सचमुच भवानी-सी शान्त हुई बैठी थीं।
अचल शरीर मानो साँस भी न लेती थीं,
अपलक आँखें शून्य दृष्टियाँ ही सेती थीं।
वंग-माता राजती थीं मूर्ति बनी जब यों,
''रानी का मत क्या'' सुना स्वप्न में-सा तब यों।
''रानी का मत क्या'' सुन, जाग मानो सोते-से—
बोली श्रीभवानी रानी वाक्य सुधा-सोते से—
''मेरा क्या मत है, महाराज कृष्णचन्द्र राय,
सुनने की इच्छा है, सुनो तो यह मेरी राय—
सबने नवाब का जो चित्र दिखलाया घोर,
जानती हूँ मैं कि उससे भी वह है कठोर।
कैसा ही विकृत भाव क्यों न दिखलाया जाय,
किन्तु उससे भी वह अधिक बुरा है हाय!
निर्दय विधातः! किया वंग ने है कौन पाप?
सहना पड़ा जो उसे आज ऐसा तीक्ष्ण ताप!
आप ही मैं अबला हूँ, दुर्बल हृदय है,
क्या कहूँ परन्तु यह मन्त्र पापमय है।
कृष्णनगराधिप के योग्य नहीं क्रान्ति यह,
ऐसे षड्यन्त्र की हुई क्यों भला भ्रान्ति यह?
कायरों के योग्य इस हीन मन्त्रणा में हाय!
जान नहीं पड़ता है कैसे हुई एक राय!
उत्तेजित कैसे हुए वीर आप-से कहो?
अबला हूँ किन्तु मुझे होती है घृणा अहो!
गौड़पति लक्ष्मण की भीरुता से ऐसे कष्ट—
सहने पड़े हैं हमें किन्तु देख लीजे स्पष्ट।
होगा इस हीन मन्त्रणा का परिणाम जो;
सेनापति राज्य पा के और भी हों वाम जो?
उनके सहाय अँगरेज हैं, करोगे क्या?
जानती नहीं मैं, कहो, धैर्य ही धरोगे क्या?

होगी इस वीरता की यों ही व्रतोद्यापना—
दासता के बदले में दासता की स्थापना!
देखो महाराज, सूक्ष्म दृष्टि द्वारा एक वार—
भारत के चारों ओर, दूर नहीं, दिल्ली-द्वार।
मुगल मलीन हुए जाते घड़ी पल हैं,
और मराठों से हुए फ्रेंच हीनबल हैं।
क्लाइव के पैर वंग भूमि यहाँ चूमती,
ब्रिटिश-पताका फ्रेंचदुर्ग पर झूमती।
नाहर ज्यों लगता है यूथप की घात में,
क्लाइव त्यों रत है नवाब के निपात में।
सेनापति संग कहीं उससे मिलें जो आप,
होगा तो अमोघ वेग और उसका प्रताप।
वंग में जलेगी वह भीमानल एक संग
भस्म होगा जिससे नवाब जैसे हो पतंग।
साध्य क्या जो सेनापति उसको बुझा सकें?
बुझ न सकेगी आप गंगा भी बुझा थकें।
वंग की क्या बात, सारे भारत में कौन भूप—
रोकेगा ब्रिटिश-वेग होगा जो कि झंझा रूप?
सिन्धूच्छ्वास या दवाग्नि रोकी कहीं जाती है?
माना, मराठों की शक्ति सबको कँपाती है।
दस्यु-व्यवसायी किन्तु क्या हैं वे अड़ेंगे जो?
नष्ट होंगे दक्ष अँगरेजों से लड़ेंगे जो।
तारों में अवश्य चन्द्र दीप्तिमान होता है;
तरणि-करों से किन्तु तेज सभी खोता है।
होते हैं दिन दिन यवन हतबल ज्यों,
भारत के भाग्य की घुमाता विधि कल ज्यों;
देख यह आशा नहीं होती किसे मन में?
बढ़ते हैं वैसे महाराष्ट्र बल-धन में।
यों ही जो वहार रही समय-बसन्त में,
भारतेश होंगे महाराष्ट्रपति अन्त में।
शीघ्र ही यों, निश्चित है, होगा फिर देशोद्धार,
भारत में उसका ही होगा फिर स्वाधिकार।
साढ़े पाँच सदियों के बाद सुख छावेगा,
भारत स्वपुत्रों के करों में फिर आवेगा।

विषम विकल्प में पड़े हैं हम लोग आज,
राज्य-क्रान्ति दूर नहीं, दीखते हैं सारे साज।
व्यर्थ है अदृष्ट रूपी सागर का तरना,
होगा वही—और हो—जो दैव को है करना।
द्रोहानल दीप्त कर विप्लव के मन्त्र से,
करके नवाब-नाश ऐसे षड्यन्त्र से।
दूर होंगे अत्याचार और यह हीनता?
साथ रखती है अनाचार को अधीनता।
मैं हूँ एक अज्ञनारी तो भी देखती हूँ स्पष्ट,
कर के नवाब को फिरंगीगण राज्य-भ्रष्ट।
शान्त नहीं होंगे किन्तु और भी वे होंगे लुब्ध,
बाघ जैसे रक्त-स्वादु पा के और भी हो क्षुब्ध।
वैसे ही मराठों पर टूटेंगे तुरन्त वे,
वंग में ही शान्त नहीं बैठेंगे दुरन्त वे।
भारत के अर्थ होगा आह! फिर कैसा युद्ध,
सोचते ही काँपती है देह, साँस होती रुद्ध।
जानती हूँ, यवन फिरंगियों के ही समान—
भिन्न जाति वाले हैं तथापि भेद है महान।
सदियों से संग रहने से मुगलों के संग,
हो गया है जेता-जित-रूपी विष-भाव भंग।
उनसे हमारा हुआ प्रेम-परिणय है,
जाति, धर्म्म हेतु नहीं होता द्वेष-भय है।
यवन हमींमें मिले आज इस भाँति हैं,
पीपल में होते उपवृक्ष जिस भाँति हैं।
और भी वे पतन-समीप अब सारे हैं,
शाह या नवाब हों, खिलौने-से हमारे हैं।
खोज नहीं, कौन कहाँ विषयों में लीन है,
राज्य और शासन हमारे ही अधीन है।
राजसेना, राजकोश और राज-मन्त्रागार,
बोलो, हिन्दुओं का नहीं आज कहाँ स्वाधिकार?
यवनों का राज्य अब निश्चित है जाने को,
भारत के अच्छे दिन उद्यत हैं आने को।
इधर फिरंगी गण नव्य परिचित हैं,
रीति, नीति, नियम न उनके विदित हैं

ज्ञात नहीं, वास सिन्धु पार कहीं दूर है,
आकृति-प्रकृति-वर्ण भेद भरपूर है।
आये व्यवसाय हेतु, राज्य ये जमाते हैं;
धन थे कमाने चले, धरती कमाते हैं।
इनसे नवाब अलीवर्दी तक डरते,
बहुधा भविष्यवाणी ऐसी किया करते—
ब्रिटिश-अधीन होगा भारत अचिर ही,
भूले महाराज, हो क्या वृद्ध बच स्थिर भी?
इनका प्रताप यदि कोई न था सहता,
और जो विरुद्ध कुछ उनसे था कहता।
तो वे यही उत्तर सुनाते थे उसे वहीं—
थल की जली ही युद्ध-वह्नि न बुझती नहीं,
प्रज्वलित सिन्धुजल भी हो कहीं इससे,
रक्षा वंगदेश की तो होगी कहो, किससे?
वणिकदशा में और रहते नवाब के,
ढंग जिनके थे यहाँ ऐसे रोबदाब के।
अब तो नवाब भी बसे हैं सुरपुर में,
जूझेगा इनसे कौन, सोच लीजे उर में?
मेघावृत भानु यदि तप्त रहे इतना,
मेघ-मुक्त होने पर होगा तीक्ष्ण कितना?
भारत के चित्त में स्वतन्त्रता की जो लता,
हो रही है मानो कलियों के भार से नता।
इनके प्रताप से न होगी शुष्क वह क्या?
झटिका उठेगी फिर कैसी—अरे, यह क्या?"
कड़ कड़ नाद कर अम्बर को फाड़ के,
सौ सौ सिंहनाद, सौ सौ तोपों को पछाड़ के,
आँखें, झुलसाती हुई गाज गिरी पास ही,
गूँजा घन-घोष, धरा काँपी अनायास ही।
रानी फिर बोली—"अरे, यह क्या अनिष्ट आज?
वह सुनो महाराज, आके आप देवराज,
कहते हैं स्पष्ट है क्या दिखा के दीप्ति की शिखा?
देखो, अनलाक्षरों में व्योम में है क्या लिखा?
अस्तु महाराज, नहीं पाप-मन्त्रणा का काम,
आग में घुसेगा कौन मूढ़ बचाने को घाम?

'रानी का मत क्या', सुनो, मेरा यह मत है—
नीच है नवाब, क्रूर, कामी, समुद्धत है।
सम्मत हूँ मैं भी उसे राज्य से हटाने में,
आहा! किन्तु क्रूरता बढ़े को है घटाने में।
होगा परिणाम भी न जानें क्या अभागे का;
और क्या उपाय होगा जीवन में आगे का?
जो हो, ठीक जानी गयी रोग की अवस्था यह,
भाई नहीं किन्तु मुझे भेषज-व्यवस्था यह।
मेरा क्या मत है, महाराज, ध्यान दीजिए,
दासता असह्य है तो खड्ग खींच लीजिए।
हूजिए प्रविष्ट सब सम्मुख समर में,
एक भाव फैल जाय शीघ्र देश भर में।
वंग की स्वतन्त्रता की नभ में ध्वजा उड़े।
उज्ज्वल हो वंग मानो चन्द्र, देख जी जुड़े।
होगा इस इच्छा से न मत्त कौन मातृ भक्त?
उष्ण किस वंगवासी जन का न होगा रक्त?
मैं जो एक अबला हूँ, मानो नहीं बस में;
बिजली-सी खेलती है मेरी नस नस में।
आता है मन में, खर खड्ग लिये कर में,
चण्डिका-सी नाचूँ इसी क्षण मैं समर में।
दुःखियों को मानती हूँ मैं निज अपत्य ही,
मातृ-दुःख कैसे सहूँ? सेठवर सत्य ही—
'छायापथ-सा है स्वच्छ मार्ग देशोद्धार का,
आगे बढ़ो' किंवा दुःख भोगो दास्यभार का।
अबला-प्रगल्भता क्षमा हो देव, जो हो फिर,
भीति होती हो तो मैं दिखाऊँगी ओहो, फिर—"
फिर निज नाद कर गाज गिरी वैसी घोर,
गूँजा घन घोष और आँधी चली चारों ओर।
टूट पड़ी रुष्ट वृष्टिधारा रणस्थल में,
होने लगी विप्लव की वृद्धि पल पल में।
पेड़ों को उखाड़ या पछाड़ कर रण में,
आने लगे झंझा के झटके क्षण क्षण में।
दृष्टि झुलसाने लगी दामिनी दुधारदार;
उद्भासित होने लगी भीमा सृष्टि वार वार!

द्वितीय सर्ग

(कटवा–ब्रिटिश शिविर)

गतप्राय है दिवस, ग्रीष्म ऋतु का दिननायक—
अयुत करों से अग्निवृष्टि करके दुखदायक,
लेने को विश्राम, दूर, द्रुमराजि-शीश पर
स्वर्णासन-सा बिछा रहा है क्लान्त कलेवर।
हेम-घनों से घटित गगन हँसता है ऊपर,
क्रीड़ा पूर्वक नाच रही हैं गंगा भू पर।
कल तरंगिणी चूम रही हैं मन्द पवन को,
तरल कनक-सा सलिल मोह लेता है मन को।
शोभित दिनमणि एक प्रतीची के अंचल में,
सौ सौ दिनमणि झलक रहे हैं गंगाजल में।
ब्रिटिश-केतु उड़ रहा सामने ही 'कटवा' पर,
गौरव से हँस रहा सूर्य्य को फहर फहर कर।
जला जला कर यवनवीर्य्य-सा 'कटवा' रण में
धूमपुंज उठ रहा तिमिर-सा गगनांगण में।
नौकारूढ़, सशस्त्र, साहसी, वीर-ब्रिटिश-दल,
गंगा को तर रहा, शेस्त्र करते हैं झल झल।
वह शोभा का दृश्य, दूर से क्या कहना है,
जवाकुसुम का हार जहनुजा ने पहना है!
रण-शस्त्रों पर और अरुण वस्त्रों पर रवि की—
किरणें है प्रतिफलित, दृष्टि रुकती है कवि की।
वीर-ब्रिटिश-रण-वाद्य अहा! बजते हैं झम झम,
पदातिकों के पैर ताल पर पड़ते हैं सम।
हींस रहे हय, गरज रहे गज यथा घनाघन

झूल झूल कर शूर-शस्त्र कर रहे झनाझन।
ठहर ठहर कर वीरकण्ठ से सेनापति के,
बदल रहे हैं विविध भाव सैनिक निज गति के।
नचते हैं ज्यों साँप सपेरे के गुण-बल ले,
रखते हैं त्यों धीर और द्रुत पद कौशल से।
कभी करों में शस्त्र, कभी कन्धों पर रखते,
कभी घूमते, कभी साध कर लक्ष निरखते।
झर झर झर झंकार विपुल होता है ड्रम का,
विज्ञापन दे रहा सगर्व ब्रिटिश-विक्रम का।
गंगाजी को अतिक्रमण करके गभीर गति,
नीरव सेना-स्रोत बह रहा है—नीरव अति।
मन में है आसन्न-समर-चिन्ता की लहरी,
मुखमण्डल पर झलक रही है छाया गहरी।
यदि चित्रित कर सकूँ मुखाकृतियाँ मैं इतनी,
तो अंकित हों मृदुल भावनाएँ हैं जितनी।
कोई हतविध अहा, बैठा कर विरल विजन में,
चिन्ता करके प्रेममूर्ति पत्नी की मन में।
नीरव होकर नयननीर में डूब रहा है,
शोक-सिन्धु में मग्न विकल मन ऊब रहा है।
भूला है रण-साज, देखकर भी, बेचारा
नहीं देखता सैन्य, शिविर, गंगा की धारा।
घन-रण-वाद्य-निनाद नहीं कानों में पड़ता,
प्रेम-मुग्ध मन और बुद्धि में छाई जड़ता।
प्रिया-वदन-विधु मात्र देखता है वह ध्यानी,
सुनता है बस प्रिया-प्रेम-वाणी रससानी।
कहीं विदा का समय सोच कोई रोता है,
साश्रुवदन वह अमृत पूर्ण शशि ज्यों होता है।
प्रेम विवश वे नेत्र अश्रु-मुक्ता दरसाते;
वे अनिलाकुल कमल शिशिर शीकर बरसाते।
वेणी विगलित केशगुच्छ वे बिखरे बिखरे,
सरस सुधामय अरुण अधर वे निखरे निखरे।
एक एक कर याद आ रहे हैं स्मृति-बल से,
भीगें फिर भी क्यों न भला दुर्विधि दृग-जल से?
देखेगा वह वदन चन्द्र क्या फिर बेचारा?

चूमेगा प्रणयोष्ण दीर्घ चुम्बन के द्वारा—
वे कोमल कल मधुर अधर? आसन्न समर में—
जब खर खड्गाघात करेगा अरि क्षण भर में;
देखेगा वह वदन? जीत कर जब तरुणारुण—
आवेगा हुंकार तोप का गोला दारुण!
वह मुख-सजल-मृगांक देख क्या मर न सकेगा?
सोच रहा हतभाग्य हाय! कुछ कर न सकेगा!
कहीं अभागा पिता, पुत्र के हित रोता है,
अटल-अपत्य-स्नेह-विवश धीरज खोता है!
स्वर्ण-कुसुम सुत, स्वर्ण-लता कन्या वह, आहा!
चूमेगा अब क्या न गोद में लेकर हा हा?
रोता कोई वृद्ध-जनक-जननी के हित है,
मृगशावक ज्यों व्याध-जाल में पड़ मोहित है।
मनोभाव-मृदु-कुसुम आप यों फूट फूट कर—
झड़ते गंगा-तीर नीर में टूट-टूट कर।
करता है कोई स्वदेश की चिन्ता मन में,
जो स्वतन्त्रता-सदन विभव-बल-वास भुवन में।
जो शिक्षा, सभ्यता, समुन्नति का आश्रय है,
गौरव-रवि, उद्यमी, साहसी है, निर्भय है।
प्राची का रवि अहा! प्रतीची को जाता है,
स्मृति-दंशन से विकल हृदय भर भर आता है।
मैं उस जननी जन्मभूमि को कब देखूँगा?
इस मरु-जीवन में न हाय! क्या अब देखूँगा?
श्वेतांगी-सुन्दरी-स्मरण कब मनः प्राण से,
फटते हैं श्वेतांग-पुरुष-उर विरह-बाण से।
सोच रहा कोई कि शीघ्र इस रण में जाकर,
लूँगा कीर्ति-किरीट-रत्न जय-गौरव पाकर।
कोई निज पद-वृद्धि सोचता है मन ही मन,
स्वर्ण सदन रच रहा गगन में अहा! अकिंचन।
कर नवाब का नाश कल्पना से कोई जन—
विजय-पताका लिये कोष में लूट रहा धन!
कोई कल्पित लूट शेष कर हेम भवन में—
देता है सब द्रव्य प्रणयिनी को पूजन में।
आशे, कुहुकिंनि, धन्य, तुम्हारे मायाबल से—

मुग्ध मनुज मन और मुग्ध त्रिभुवन कौशल से!
तुमको दुर्बल-मनुज-मनोमन्दिर में धाता,
इच्छासन पर यदि न सदा के लिए बिठाता;
तो अचिंत्य चिन्ताग्नि दग्ध उसको कर देती,
भय-दुख शोक-निराश-प्रणय-पीड़ा ग्रस लेती।
उसमें किंकर्तव्य बुद्धि देवी न ठहरती;
केवल उन्मत्तता दानवी घूम घहरती।
आशे कुहुकिन, धन्य तुम्हारे मायाबल पर—
यह असार-संसार-चक्र चल रहा निरन्तर।
चलता नहीं कदापि मन्त्रबल से न चलाती—
यदि तुम इसको, और न यदि निज द्युति दिखलाती।
भविष्यान्ध जन इन्द्रजाल से मुग्ध तुम्हारे—
कर्म्मचक्र में घूम रहे वर्तुल ज्यों सारे।
पाकर तव बल जूझ रहे जीवन-रण में सब,
कठपुतली ज्यों नचा रही हो तुम हमको अब।
राजमार्ग के एक पार्श्व में परम भिखारी—
बैठा वह जो दैन्य मूर्ति तनुपंजरधारी।
जीर्ण वस्त्र दुर्गन्धि-पूर्ण पहने बेचारा,
बहा रहा है वार वार लोचन-जल-धारा।
भिक्षा करके तीन पहर जो कुछ है पाया,
उससे जठरानल न बुझेगी, कृश है काया।
तिस पर भी है रुग्ण, नहीं उठते उसके पग,
घूम रहा सिर या कि घूमता है सारा जग।
फूँक दिया क्या मन्त्र कान में तुमने आकर,
भीख माँगने चला अभागा फिर बल पाकर!
न्यायालय का निम्न कर्म्मचारी देखो, वह,
भूखा प्यासा, शीश झुकाये, कार्य्य भार सह।
हंसपुच्छधर वीर, प्रहारों पर प्रहार कर,
जूझ रहा मसिपात्र संग प्रभु-पद भय से डर।
जूझे थे जैसे सुकण्ठ कपि के भय से द्रुत
शाल वृक्ष ले नीलसिन्धु से वीर पवनसुत।
स्वेद सहित बह रहे अश्रु आँखों से झरझर,
सोच रहा है कि यह कार्य्य छोड़ूँगा सत्वर।
चित्र न जाने किस भविष्य का उसके सम्मुख,

कुहुकिनि, तुमने खींच दिया, बस, भूला सब दुख।
पोंछ अश्रुजल, पोंछ स्वेद, नूतन बल पाकर,
करने फिर मसियुद्ध लगा लेखनी उठाकर।
बैठा है वह विरल विजन में नव प्रेमिक जन,
प्रिया-पत्र में कहीं न पाकर तव शुभ दर्शन।
अति निराश हो डूब उठा है लोचन-जल में,
भंग हुआ-सा देख प्रेम का सपना पल में।
सुनकर फिर भी किन्तु तुम्हारी सुमधुर भाषा,
सनिश्वास कह उठा--नहीं छोड़ूँगा आशा!
भीम पवन से क्षुद्र जलाशय हिलते जैसे,
रण-चिन्ता से व्यग्र पदातिक मन हैं वैसे।
किंवा रवि की किरण-राशि ज्यों मेघ-घटा पर—
रच देती है इन्द्रचाप मणिमुकुट छटाधर।
त्यों सेना को आज दुराकांक्षा छलती है,
आशा मायाविनी सुकल्पित फल फलती है।
इन सबकी यदि पूर्ण दुराशाएँ हों इतनी,
राजभवन बन जायँ पर्णकुटियाँ तो कितनी।
अथवा देखूँ दूर वृथा क्यों औरों की गति,
स्वयं दुराशा मन्त्रमुग्ध मैं ही हूँ जड़मति।
क्योंकि अन्य कवि गया नहीं जिस पथ पर अब तक
चल सकता हूँ भला मूढ़ मैं उस पर कब तक?
वंग देश का पुरावृत्त मणि-खनि है निश्चय,
कवि को प्रतिभा बिना किन्तु है अन्धकार मय।
कुहुकिनि, कह फिर तुच्छ कल्पना कैसे मेरी—
कर सकती है उसे प्रकाशित मेट अँधेरी?
साध्य क्या कि नक्षत्र निशा का तिमिर हरे जो,
पूर्व गगन में विधु न प्रकाश-विकाश करे जो?
उस खनि में किस परम पुण्य के बल से जाकर,
किस प्रकार अद्भुत, अबिद्ध-मणि हार बनाकर,
पहनावेगा मंजु मातृ भाषा को यह जन?
रखती है जो सुकवि-विनिर्मित महाकाव्य-धन।
अथवा आशे, सभी सुलभ है तब माया से,
कितने मर नर अमर हुए हैं पद-छाया से!
अस्तु, दया कर कहो आज तुम देवि, दयावति,

चित्रित है किस भाव-चित्र से सित सेनापति?
सैन्य-शिविर से अनति दूर, तरु तले, विरल में,
नीरव, क्लाइव डूब रहा है चिन्ता-जल में।
मुखमण्डल छविहीन किन्तु मुद्रा गभीर है,
रूपरहित है तदपि गठन युत सित शरीर है।
बुद्धि-वास, वीरत्वभास, उन्नत ललाट है;
वक्षस्थल दृढ़-दीर्घ, यमपुरी का कपाट है।
उसके भीतर घोर दुराकांक्षा, दुस्साहस,
बहा रहे हैं विकट स्व-भाव स्रोत एक रस।
अन्तर्भेदी तीव्र दृष्टि मय, दृग हीरोज्वल,
द्युति युत अपलक, अटल प्रतिज्ञा व्यंजक, विचल।
साहसाग्नि आग्नेय अद्रि ज्यों उर में जलती,
उसकी ही तो दीप्ति दृगों से नहीं निकलती!
नेत्र नीलिमा शत्रु हृदय में विष बरसाती,
नरक-वह्नि-सी दुष्प्रवृत्तियाँ हैं दरसाती।
बैठा है चुपचाप वीर तरुतले विजन में,
अर्थहीन क्या ऊर्ध्वदृष्टि घुस रही गगन में?
स्वकल्पना से पहुँच तिमिर मय भावि-भवन में—
इच्छा रखती है भविष्य-दर्शन की मन में?
दुस्स्वभाव जो युवक देखने में उद्धत था,
निर्भयहृदय, दुरन्त, दुराचारों में रत था।
भेजा भारतवर्ष पिता ने जिसे सुधरने,
या सुदूर मदरास प्रान्त के ज्वर से मरने!
इस प्रकार से जिसे पिता-माता ने त्यागा;
देख रहा अपना अदृष्ट वह युवक अभागा।
विधि ने क्या क्या भोग लिखा है और भाल में?
घूमेगा किस किस अदृष्ट के चक्रजाल में?
दोनों दृग मध्याह्न भानु से प्रभा-पूर्ण हैं,
पल पल में परिवर्तमान होकर विघूर्ण हैं।
ब्रिटिश सुलभ अति राग-वेग से कभी रक्त हैं।
होकर कभी विषाद-घनावृत-से, अशक्त हैं।
विस्फारित हैं कभी क्रोध से नीले-पीले,
चिन्ताकुंचित कभी, कभी, करुणा से गीले।
सोच रहा है वीर मौन हो—"हाय! अकेला—

समर-सभा की ओर सभी की कर अवहेला।
बिना विचारे कूद पड़ा हूँ रण-सागर में,
डूबा तो फिर डूब जायँगे सब पल भर में।
पैदल और सवार एक भी बच न पायगा,
गंगा में बस सिन्धु-पोत यह डूब जायगा।
ब्रिटिश राज्य भी डूब रसातल को जावेगा।
उसका गौरव-भानु अस्त ही हो जावेगा।
भूमिकम्प के समय भंग हो शृंग जहाँ पर,
लता, गुल्म, तरु, गेह गिरेंगे क्यों न वहाँ पर?
मुझे भरोसा एक मीरजाफर का केवल,
भीरु यवन खल इसी तरह से करते हैं छल।
कर लूँ उनके सन्धिपत्र पर प्रत्यय कैसे?
अमीचन्द वह अधम तीक्ष्ण तक्षक है जैसे।
मुग्ध किया जिस महामन्त्र से उसे यहाँ है,
जानें उसका भेद भला तो कुशल कहाँ है?
फन फैलाकर रोषसहित गर्जन कर कब का—
एक श्वास में नाश करेगा वह हम सब का!
नर-शोणित में सन्धिपत्र धुल धुल जावेगा,
अन्धकूप-वध-दृश्य-द्वार फिर खुल जावेगा!
रखता हो यदि कपट मीरजाफर हो वंचक?
यद्यपि उसका चिह्न नहीं पाता हूँ अब तक।
यदि नवाब ही चला रहा तो कूट चक्र यह!
मिल उससे खल चाल चल रहा हो न वक्र वह?
सेनापति मिल कर न सैन्य सह मुझसे रण में,
लड़े स्वयं ही कहीं बदल कर एक क्षण में।
तब तो संकट की न रहेगी सीमा पल में,
मैं पतंग की तरह पड़ूँगा प्रबलानल में।
क्या होगा इस स्वल्प सैन्य को लेकर के तब?
डोंगी लेकर सिन्धु तरा जा सकता है कब?
सिर्फ पराजय नहीं, देखता नहीं उसे मैं,
काल क्यों न आ जाय लेखता नहीं उसे मैं।
पाया जीवन, जन्म और जब मनुज गात्र है,
तब फिर मेरे लिए मृत्यु तो नियति मात्र है।
किन्तु हार यदि हुई युद्ध में कहीं हमारी,

डूबेगी व्यवसायमयी स्वर्णाशा सारी।
चाँदी की चाँदनी न होगी दो ही दिन की,
डूबेगी आन्तरिक राज्य-लालसा ब्रिटिश की।
प्रवल शत्रु का पतन देख कर दक्षिण में फिर,
गरज फरासी-सिंह उठावेगा अपना सिर।
पर जब पासे फेंक दिये, चिन्ता से फल क्या?
आज सोच कर कौन जान सकता है—कल क्या?
कर देखूँ फिर भाग्य-परीक्षा एक वार मैं,
मरा नहीं दो वार स्वयं करके प्रहार मैं।
मरा नहीं उस सफल प्रहारी सैनिक वर से,
मरने को क्या नीच यवन लोगों के कर से?
फटता है हा! इसे सोच कर अन्तरतर भी,
यही यातना मुझे रहेगी मरने पर भी!
चढ़ कर उस दिन पवन-पृष्ठ पर साहस करके,
आया अर्कट नगर मध्य मैं तनिक न डर के।
झंझा वात कि वज्रपात की अवहेला कर,
घुसा दुर्ग में वेग सहित विद्युत् खेला कर।
बिना लड़े—बल देख—दुर्गवासी डर भागे—
क्रुद्ध सिंह को देख हरिण ज्यों अपने आगे।
पल भर में मैं हुआ दुर्गपति क्यों उस दिन ही?
गिरा न सिर पर वज्र या कि अरि-खड्ग कठिन ही!
या पचास दिन घोर आक्रमण सह चुकने पर,
जिसे याद कर दौड़ रही है बिजली भीतर।
कर उपलक्ष्य हुसेन-मृत्यु का यवन सैन्य सह,
रजनी में था चढ़ा क्रुद्ध कर्णाटराज वह।
दस सहस्र भी सैन्य, पाँच सौ सेना लेकर—
विमुख किया था, ब्रिटिश वीर्य्य का परिचय देकर।
मरने को क्या हाय! सिराजुद्दौला-द्वारा?
नहीं-नहीं, यह कभी नहीं, मुझ पर है सारा—
अन्धकूप-वध-वैर-शुद्धि का भार; और भी—
खल नवाब को उचित दण्ड दे किसी तौर भी,
रखना मुझको यहाँ ब्रिटिश-गौरव अबाध्य है;
जिसका यह उद्देश उसे क्या नहीं साध्य है?
निश्चय ही मैं युद्ध करूँगा, बदला लूँगा,

कुछ भी करे नवाब, उसे मैं प्रतिफल दूँगा।
मेरा आत्मा बढ़ो, बढ़ो, मुझसे कहता है;
बड़े वेग से रक्त नाड़ियों में बहता है।
कोई अद्‌भुत शक्ति हृदय खलबला रही है,
स्वेच्छा पूर्वक मुझे यन्त्र-सी चला रही है!"
कहते कहते वीर छोड़ कर आसन अस्थिर—
लगा इधर से उधर घूमने किये नम्र सिर।
चली गयी है दृष्टि भेद कर भूतल जैसे,
दिखलाई दे धरा देख कर भी फिर कैसे!
चंचल मन कल्पना विताड़ित-पक्ष बिना श्रम,
जाता है इंग्लैण्ड कभी नीलाब्धि अतिक्रम।
आकर भावी युद्ध-चित्र है कभी निरखता,
भय पाता है कभी, कभी है आशा रखता।
चिन्ता से अवसन्न हृदय कुछ समय अनन्तर,
बैठ गया फिर नेत्र निमीलित किये वीर वर।
सहसा चारों ओर स्वर्ग का सौरभ आया,
कोमल सुर-संगीत गूँज कर नभ में छाया।
फैला शत शत सूर्य्य-तेज-सा नभमण्डल में,
उतरी एक प्रकाश-राशि-सी पृथ्वीतल में।
क्लाइव-मन में विविध भाव विस्मय के जागे,
देखी ज्योतिर्मय एक रमणीमणि आगे!
युवती की तनुकान्ति शुभ्र थी, नील नयन थे,
अरुण अधर स्वर्गीय रागमय अमृत अयन थे।
राज-राज ईश्वरी-रूप था, अंगों की छवि,
दिखा सकेगा कौन चित्रकर और कौन कवि?
शुचि वस्त्रों पर झलक रहे नक्षत्र-गुच्छ थे,
पार्थिव मुक्ता-रत्न कि जिनके निकट तुच्छ थे,
ब्रिटिश-सुन्दरी-सदृश वेष-भूषा-सज्जित थी,
किन्तु सर्वथा दिव्य दीप्ति में विनिमज्जित थी।
अर्द्ध अनावृत पीन-पयोधर-युग्म पूर्ण था,
गलता था हिम हृदय देख के, स्फटिक चूर्ण था।
दिखा रहा था वह सुविमल युवती का अन्तर,
चिर प्रसन्नता पूर्ण प्रीतिपाथोधि निरन्तर।
वदन-चन्द्र की हाय! कहाँ से दूँ मैं उपमा?

देता, यदि देखता स्वर्ग-शारद-शशि-सुषमा।
विश्वमोहिनी छटा वसन्त श्री विहारिणी,
कमल-नेत्र, पिक-कण्ठ, मलय-निश्वासधारिणी,
शत शत संख्यक 'कोहनूर' की प्रभा पाटकर,
दमक रहा था दिव्य रत्न उन्नत ललाट पर।
मुखमण्डल था दया और गौरव-रंगस्थल,
प्रभुता और प्रगल्भ-भाव-भूषित, हर्षोज्ज्वल।
उस पर छूटी हुई कनक-अलकावलि कैसी?
मण्डित करतीं बाल सूर्य्य को किरणें जैसी।
चिर वासित, चिर विकच, कुसुम-भूषित, कच कुंचित,
खेल रहे थे मन्द पवन से बन्ध विमुंचित।
उन फूलों की सुरभि और निश्वास-वास से,
हो सकते हैं अमर मर्त्य भी अनायास-से।
ज्योति रत्न मय मुकुट शीश पर ज्योतिखचित था,
जो कुछ था सो सभी ज्योतिमय ज्योतिरचित था।
चिर विकसित वह ज्योति तरुण रवि से बढ़कर थी,
पर शीतल इतनी कि चन्द्रिका से चढ़कर थी।
प्रखर तेज की वृष्टि दृष्टि झुलसाती थी ज्यों,
अमृत मयी माधुरी हृदय हुलसाती थी त्यों।
क्लाइव ने दृग बन्द किये जाग्रत सपने में,
देखी भुवनेश्वरी मूर्ति मानो अपने में।
विस्मित क्लाइव ओर देख सस्मित कल्याणी,
बोली—'भय क्या वत्स', अहा! वह कोमल वाणी—
गूँज उठी उल्लास-पूर्ण सन्ध्या-समीर में,
गंगा सुनने चलीं, उठा उच्छ्वास नीर में!
वह मधुर-स्वर-सुधा पान करने को पल भर,
अचल हुआ-सा रहा दिवाकर अस्ताचल पर!
क्लाइव के तो रोम रोम में व्याप्त हुई वह,
नस नस में बह उठी, भाग्य से प्राप्त हुई वह,
श्लथ हृत्तन्त्री वजी—"वत्स, क्या भय है तुझको?
समझ वीर वर ब्रिटिश राजलक्ष्मी तू मुझको।
लक्ष्मी-कुल-लक्ष्मी; सुपुत्र गौरव-गौरविणी,
राजलक्ष्मियों में सुधन्य, विधि की आदरिणी।
दिव में बैठी हुई, कहाँ क्या होता है, कब

भृकुटि भंग कर देख, जान लेती हूँ मैं सब।
पार्थिव घटनाएँ अदृश्य में रह निहारती,
ब्रिटिश-राज्य गति-वृद्धि-विपुलता हूँ विचारती।
तूने आसन आज अचानक डुला दिया है,
चिन्ता करके मुझे यहाँ पर बुला लिया है।
मैं भावी विधि-लेख सुनाने आयी तुझको,
होगा जो कि अचिन्त्य, अतुल सुखदायी तुझको।
तो सुन अब से ब्रिटिश-समुन्नति ध्रुव निश्चित है;
उसका शुभ सौभाग्य-सूर्य्य प्रायः समुदित है।
जब होगा मध्याह्न ब्रिटिश-नृप के गौरव का,
तब मानो मध्यस्थ बनेगा वह इस भव का।
अर्द्ध ससागर धरा छत्र के तले बसेगी,
दिगदिगन्त में, देश देश में, कीर्ति लसेगी।
और बहुत दिन मुगल, मराठे और फरासी,
न करेंगे इस स्वर्ण-धरा को रुधिर-धरा-सी।
राज जमावेगा न दूसरा बावर आके
अथवा करके पार हिमालय जैसे नाके—
दिल्ली को लूटने लुटेरे नहीं आयँगे,
जितने भय हैं सभी न जानें कहाँ जायँगे।
भारत के इतिहास मध्य प्रस्तुत होगा द्रुत—
एक अपूर्वाध्याय अचिन्तित, अद्‌भुत, अश्रुत।
कुछ दिन में अज्ञात भाव से भरतखण्ड में,
जागेगी जो महा शक्ति वह एक दण्ड में—
दिल्लीश्वर को मेष-तुल्य शृंखलित करेगी,
मरहट्टों का सिंह-गर्व भी गलित करेगी।
हिम-भेदन कर अरुण अर्क बढ़ता है ज्यों ज्यों,
घटती है सब ओर द्रुमों की छाया त्यों त्यों।
इसी तरह वह शक्ति बढ़ेगी जैसे जैसे,
हतबल होंगे यहाँ फरासी वैसे वैसे।
अपने को उस महाशक्ति का मूल जान तू;
सच कहती हूँ वत्स, न कुछ आश्चर्य मान तू।
भरतखण्ड का भाग्यचक्र तवकर चूमेगा,
इच्छा कर तू जिधर घुमावेगा, घूमेगा।
वंग देश में राज्य-नींव जो तू डालेगा,

भारत-व्यापी भवन गगन उसका छा लेगा।
विधि-मन्दिर से वत्स, अभी जब मैं आई हूँ,
भावी-भारत-मानचित्र तव हित लाई हूँ।
उत्तर में वह देख, हिमावृत अतुल हिमाचल,
सिर ऊँचा कर भेद रहा मानो गगन स्थल!
देख, अद्रि पर अद्रि अद्रि उस पर भी अद्‌भुत
कटि प्रदेश में घूम रहे हैं घन विद्युत युत।
दक्षिण में निस्सीम फुल्ल फेनिल नीलोदधि;
देख, ऊर्म्मि पर ऊर्म्मि ऊर्म्मि उस पर भी निरवधि।
हिमगिरि-गर्व विलोक मत्त-सा होकर मन में,
उठता है वह लोल भाव से स्वयं गगन में।
उत्तर में अति अचल शैलमाला स्थित है ज्यों,
चंचल अचलावली सिन्धु पर शोभित है त्यों।
ऐरावती अपूर्व पूर्व सीमा पर रहती,
पंचपाणि शुचि सिन्धु नदी पश्चिम में बहती।
मध्य देश में देख, विपुल वपु विस्तारित कर,
शोभित जो वह राज्य रक्तिमारंजित सुन्दर।
उसके आगे बीस ब्रिटन भी तुच्छ, मलिन हैं,
तो भी होगा, और नहीं अब ज्यादह दिन हैं।
दुर्विधि पर चिर वाम विधाता है बाधारत,
समय फेर से क्षुद्र ब्रिटिनवश विस्तृत भारत!
विधि का अटल विधान वत्स, टल सकता है कब?
कैसा था वह रोम राज्य, पर कहाँ गया अब?
शोभित वह शतमुखी जाह्नवी-तट पर तत्ता,
भावी भारत रम्य राजधानी कलकत्ता।
सम्प्रति दीन-दरिद्र-कुटीरों से जो छाया,
लज्जित होगी उसे देख सुरपुर की माया।
ब्रिटिश-केतु वह उच्च अट्ट पर फहर रहा जो,
अनिलालोड़ित नील गगन में लहर रहा जो।
लेकर उस जातीय केतु को तू निज कर में,
ब्रिटिश-राज्य-विस्तार करेगा भारत भर में।
नये राज्य में वत्स, तुझे अभिषिक्त करूँगी;
रत्नासन पर बिठा, शीश पर मुकुट धरूँगी।
शासन सब सिर पर अदृष्ट-सा लिये फिरेंगे;

कितने राजा, राज्य भृकुटि पर उठें-गिरेंगे।
यवनों की श्री समर-रक्त में डूब जायगी;
सित-सत्ता फिर एक नया युग यहाँ लायगी।
भारतेश इंग्लैण्डराज-प्रतिनिधि को पाकर,
नमन करेगा वत्स, हिमालय युत रत्नाकर।
कुछ विप्लव के बाद राज्य दृढ़ हो जावेगा;
ब्रिटिश-तेज-रवि यहाँ अपूर्व प्रभा पावेगा।
सारहीन-कंकालमात्र से पूर्व-नृपति सब,
सौर-उपग्रह-सदृश फिरेंगे आस पास तब।
होकर राहुग्रस्त शीघ्र दुर्दान्त मुगलदल,
होगा छाया या कि स्वप्न में परिणत हतबल।
अति प्रताप वश वैर और भय भूल भूल कर,
सिंह-मेष मिल सलिल पियेंगे एक कूल पर।
रख यह विधिकृत वत्स, न्यायपरता का दर्पण,
ब्रिटिश राज्य का मानचित्र है तुझे समर्पण।
पक्षपात से रहित जहाँ तक शासन होगा,
अटल वहाँ तक ब्रिटिश राज्य का आसन होगा।
इसी नीति को भूल यवन सब खो बैठे हैं;
इसी पाप से बहुत राज्य हत हो बैठे हैं।
विधि के कर का नाश-खड्ग राज्यों के सिर पर—
सूक्ष्म न्याय सूत्रस्थ झूलता है अति खरतर।
चिर पर-वश, हतभाग्य, वंगवासी बेचारे,
आये तेरी शरण, आर्त, यवनों के मारे।
कर यवनों का दमन कि वे हैं अत्याचारी,
धूमकेतु है उदित वंग नभ में भयकारी।
स्वर्गाच्युत कर उसे वत्स, निज भुज-विक्रम से,
स्थापित हो शुभ शान्ति-शशी तेरे इस श्रम से।
कब तक यह नक्षत्र तुच्छतर अब चमकेगा?
इसे दबा कर प्रखर ब्रिटिश-दिनकर दमकेगा।
तू इन आश्रित आर्त जनों पर निर्दय होगा,
डूबेगा तो ब्रिटिश राज्य, निश्चिय क्षय होगा।
राजों के भी राज, महाराजों के नेता;
विजित-सहायक और विजेताओं के जेता।
हैं ऊपर हे वत्स, भंयकर शंकर स्वामी,

न्यायी, सदय, अपक्षपात, अखिलान्तर्यामी।
वे सबको हैं तुल्य नियम से नित्य निरखते;
धनी, निर्धनी, श्वेत, श्याम का भेद न रखते।
उनके सूर्य्य सुधांशु और नक्षत्र गगन गत,
देते हैं सम दीप्ति सबल-निर्बल को सन्तत।
सब देशों में साम्य भाव से सित-श्यामल पर,
करते हैं जल-वृष्टि घूम कर उनके जलधर।
सबको उनकी वायु जिलाती है समता से,
करते उनकी आग दग्ध भी अविषमता से!
पार्थिव उन्नतिलक्ष्य मात्र क्या चरम लक्ष है?
देख वत्स, वह विकट परीक्षा-स्थल समक्ष है।''
देवी हुई अदृश्य, पड़ा अर्गल-सा दिव के—
दृढ़ कपाट में, गनश्चक्षुगत हत क्लाइव के।
गया स्वर्ग, आ गयी धरा अपने शरीर में;
हाय! डूबता हुआ मनुज गम्भीर नीर में,
क्रीड़ामय रवि-किरण रचित शत शक्रचाप गण—
और अतुल आलोक देखता है फिर तत्क्षण,
अपने को विकराल कालकवलित विलोक कर,
अन्धकार मय विश्व देखता यथा शोक कर।
मनश्चक्षु से तथा स्वप्नदर्शन कर पल में,
क्लाइव ने अति अन्धकार देखा भूतल में!
वह विस्मय का स्वप्न मिटा फिर आँखें खोलीं,
न वह प्रभा है और न वह रमणीमणि भोली।
न वह रूप की राशि, न वह सौन्दर्य्य सृष्टि है,
न वह सुरभि है और न वह स्वरसुधावृष्टि है।
मुष्टिबद्ध भी हाथ शून्य हैं, आतुर उर है;
न वह मनोरम मानचित्र है, न वह मुकुर है।
नर-कर में वह मुकुर नहीं रहता, यदि रहता?
तो क्यों भू पर हाय! स्वार्थ-रण-शोणित बहता!
''सेनापति, दिन गतप्राय है, नदी किनारे—
करते हैं आदेश-अपेक्षा सैनिक सारे।''
बोला आकर वहाँ एक कोई सैनिक भट,
चौंक उठा सुन वीर और चुपचाप चला झट।
पड़ते हैं पद शून्य में कि भू पर, न ध्यान है;

देवी के ही साथ गया क्या सभी ज्ञान है।
गूँज रही है वही गिरा, विस्फुरित वक्ष है—
'देख वत्स, वह विकट परीक्षा-स्थल समक्ष है'।
सजी सजाई नाव लगी थी नदी-तीर पर,
उस पर सहज फलाँग मार चढ़ गया वीर वर!
ब्रिटिश-वाद्य बज उठा उच्छ्वसित करके जल को,
चली नाचती हुई नाव मनचाहे थल को।
लगा रहे थे ताल चतुर माँझी पातों से,—
कम्पित होने लगी जाह्नवी आघातों से।
अमल आरसी टूट टूट जुड़ती जाती थी;
तरी तीर-सी नीर-चीर उड़ती जाती थी।
वीर कण्ठ से ब्रिटिशतनय मिल एक तान मय,
गाते थे जातीय गान-जय जयति ब्रिटिश जय।

गीत

चिर स्वतन्त्रता के सागर में, नभ में यथा अंशुमाली,
क्रीड़ा करती है ब्रिटानियाँ वीर पुत्र जनने वाली।
वह असीम, दुर्जय नीलोदधि, त्रिभुवन जिससे डरता है;
सदा पराजय मान ब्रिटिन के तलवे चूमा करता है।
घोषित करता है दिगन्त मय—
जयति ब्रिटिश जय जयति ब्रिटिश जय।
जलधिवक्ष पर पदाघात कर अभय ब्रिटन-नन्दन हम लोग,
वीचि-वृन्द-वश किये घूमते देश देश में हैं, सुख भोग।
नव आविष्कृत अमरीका में, अफरीका में, अजल जहाँ,
विभव पूर्ण प्राची प्रदेश में, ब्रिटिश-कीर्ति है नहीं कहाँ?
गाते हैं अस्तोदय दिग्द्वय—
जयति ब्रिटिश जय जयति ब्रिटिश जय।
साथी खड्ग, भरोसा निज बल, सम्पद साहस, सेज समर,
वाहन सागर, रक्षक ईसा, कर्णधार नक्षत्र अमर।
वज्राधिक है वेग हमारा, विक्रम दावानल-सा रुद्र,
कौन दुर्ग है? कौन नदी नद? कौन अद्रि है? कौन समुद्र
जिसे न हो सुन कर सकम्प भय?
जयति ब्रिटिश जय जयति ब्रिटिश जय।
नभ के नीचे ऐसा क्या है, जिससे डरें ब्रिटिश-सन्तान?

केवल ब्रिटिश-बधू-सम्मुख वे रहते हैं अधीनता मान।
तो उन वीरविनोदशालिनी कुलबधुओं का करके ध्यान,
चलो, बढ़ो, क्या ही सुख होगा सुन कर जब वे युद्धाख्यान।
बाँधेंगी कल ललित कण्ठलय–
जयति ब्रिटिश जय जयति ब्रिटिश जय।
अभय हृदय से नीर चीर तब नाव बढ़ाओ सभी समान,
रण से क्या डर हमें, खिलौने हैं अपने बन्दूक, कमान।
हम चाहें तो फिरे सिन्धु-गति, वज्र बीच ही में रुक जाय,
क्षुद्र यवन क्या है, वह निश्चय रण में हत होगा निरुपाय।
गावेंगे वंगाब्धि-हिमालय–
जयति ब्रिटिश जय जयति ब्रिटिश जय।

तृतीय सर्ग

(पलासी क्षेत्र)

क्या यही पलासी क्षेत्र? यही वह प्रान्तर?
क्या इसी जगह—क्या कहूँ?—कहूँ मैं क्यों कर!
हा! वह अदृष्ट का खेल, नियति का नर्तन—
अत्यावर्तन वह और परम परिवर्तन—
था हुआ एक नर-कर स्पर्श से क्षण में;
वह मुगल मुकुट क्या यहीं गिरा था रण में?
अवहेला पूर्वक यहीं यवन पापी जन,
खो बैठे थे क्या चिर स्वतन्त्रता प्रिय धन?
अन्तर्नयनों से आज वही युद्धाजिर,
देखेगा दुर्बल गौड़, कल्पने, तो फिर—
बच प्रहरी गण से जहाँ कि यन्त्रीदल में,
गा रहीं गायिका स्त्रियाँ अतुल भूतल में।
बिजली-सी नटियाँ नाच रहीं द्रुत लय में,
चल तू सिराज के उसी शिविर-आलय में।
धीरे से, डरती हुई, साँस तक रोके,
चल, जहाँ पवन दे रही सुरभि के झोंके।
सखि, शत वत्सर की कथा सुना अनुनय से
भयकम्पित स्वर से तथा विषण्ण हृदय से।
घेरे सिराज को सरस सुन्दरी गण हैं,
कश्मीर-कुसुम हैं और वंग-भूषण हैं।
शुचि वर्ण विभा से स्फटिक-झाड़ विमलिन हैं,
मिलकर रजनी को बना रहे जो दिन हैं!

जिसको देखो जँच रही सु-रमणी-मणि वह,
क्या फिरते हैं मन-नयन देख मणि-खनि यह?
यह कौन कहे, ये देख मूर्तियाँ छवि की,
है तिलोत्तमा-उर्वशी कल्पना कवि की!
अति उज्ज्वल; शीतल सुरभि-दीप जलते हैं,
कोमल नीलारुण-किरण चपल चलते हैं।
दिखलाकर इत्र-गुलाब-गन्ध-विह्वलता,
धीरे निदाघ का नैश-अनिल है चलता।
बहु पुष्पाधार स्तम्भ, कण्ठ केशों में,
देते हैं हार बहार विविध वेशों में।
उस कान्ता का वह कण्ठहार वर देखो,
आलोड़न उसका उर-अभार पर देखो।
फूलों की माला और सु-दीपक-माला
रूप-ज्वाला कर रही अपूर्व उजाला।
बज रही सप्त-स्वर-मिलित मनोहर वीणा,
गा रही उसी के साथ अनेक प्रवीणा।
करने को ज्वलित नवाब-वासना-ज्वाला,
हैं नाच रहीं बहु अर्द्धविवसना बाला।
पग चूम रही है ताल ताल पर मखमल,
करते हैं काट कटाक्ष चंचला-चंचल।
होते हैं उनसे दीप और भी उज्ज्वल,
झंकारों से है गूँज रहा गगनस्थल।
सो स्रोतों से बह रहा वासना-नद-सा,
हो रहा पलासी-प्रान्त आर्द्र गद्गद-सा।
रह रह कर गंगा एक ओर बहती है,
अति निविड़ तिमिर से ढँकी मही महती है।
जो ऐसे इन्द्रिय सौख्य सिन्धु में डूबा,
क्यों वह नवाब का चित्त आज है ऊबा?
इन्द्रिय-विलास ने जिसे सदैव भुलाया,
क्यों उस पर चिन्ता-भाव अचानक छाया?
इस अर्द्ध निशा में शिविर मध्य निर्मोही,
करते कुमन्त्र हैं निकट राज विद्रोही।
कल ही नवाब को डुबा समर-सागर में,
देने को वंगविधान सैन्यपति कर में।

धिक् कृष्णचन्द नृप, अमीचन्द धिक् तुमको,
यदि खला यवन-अन्याय आसुरिक तुमको—
तो यह न बिछा कर घृण्य जाल, पल भर में—
करके नवाब का निधन, समक्ष समर में।
दासत्व-पाश तुम विना प्रयास हटाते;
ऐसा करते तो यह कलंक क्यों पाते?
रे कुलकलंक, पापिष्ठ, भीरु, जड़, दुर्बल,
विश्वास विघातक, भूप राय दुर्लभ, खल,
क्या किया, डूब कर हमें डुबाया तूने,
भोगेंगे इससे गौड़ नरक-दुख दूने।
होगा यह प्रायश्चित्त रुधिर से तेरे,
प्रतिदान पायँगे सदा वंगजन रे, रे!
तव पापों से शत मनस्ताप भोगेंगे,
शत शाप तुझे प्रति मनस्ताप में देंगे।
यह कपट-मन्त्र संगीत-लहर भेदन कर,
क्या घुसा भयार्त नवाब-हृदय के भीतर?
जिससे यों उसका चित्त न रहा ठिकाने,
उस अन्तर्यामी बिना कौन यह जाने?
या कल क्या होगा हाय! न जाने रण में,
यह सोच सोच वह काँप रहा क्षण क्षण में?
या अगनांग के मृदु स्पर्श से रह रह,
होकर अनंग-शर बिद्ध विकम्पित है वह?
तो सब सुन्दरियो, यह सुयोग मत छोड़ो,
जोड़ो अपांग शर, भृकुटि-चाप पर जोड़ो।
ढालो मधु मदिरा हेम-पात्र में, ढालो,
शत शत आहुतियाँ काम-कुण्ड में डालो।
भर पियो, पियो, भर, प्रेम-पयोधि बढ़ेगा,
डूबेगी लज्जा, चाव विशेष चढ़ेगा।
विगलितवसने, मधु-पात्र, लिये, बतलाओ,
जाती हो कहाँ? नवाब निकट? तो जाओ।
बरसावे सुस्मित-सुधा सुदर्शन-श्रेणी,
नागिन-सी लहरे पड़ी पीठ पर वेणी।
हाँ, चले नाच यह चले, बढ़ें पद कोमल,
कन्दर्प-केतु-पट उड़े, युद्ध होगा कल!

आनन्द-शिविर में एक ओर धरती पर,
बैठी रोती हो कहो, कौन तुम जी भर?
पहचाना बध कर प्राणनाथ का छल से,
लाया तुमको यह अधम युवक है बल से।
रोओ, तव रोओ रात्रि शेष है जब तक,
नाचो, गाओ, तुम अन्य तरुणियो तब तक।
फिर उठा कामिनी-कण्ठ गगन को छूकर,
गरजी इतने में तोप दूर 'धुक धू' कर!
यह क्या है? कुछ भी नहीं, मेघगर्जन भर,
सब नाचो, गाओ, पियो, प्रफुल्लित मन कर।
फिर सझंकार वज उठे सरस सम-संगी—
वीणा, सितार, मंजीर, मुरज, सारंगी।
फिर बेले की प्रत्येक तान पर तन की—
सुध भूल उठी, बढ़ उठी, विवशता मन की।
कल कण्ठ मिलाकर वाद्य-नाद-समुदय से,
क्या कूक रही है मत्त कोकिला लय से?
वह नहीं, गायिका लगा रही है तानें,
क्या तुच्छ पिकी में पड़े कभी ये दानें?
चिल्लाती है वह एक कुऊकू करके,
देती है शत झंकार भामिनी भरके!
झंकार मात्र ही नहीं, अहा! यह सुषमा,
क्या मदनमोहिनी मूर्ति अपूर्व-अनुपमा!
क्या मूर्तिमती सु-वसन्त रागिनी आकर,
सम्मुख नवाब के नाच रही है गाकर?
वाणी-वीणा से बढ़ा चढ़ा स्वर मधुमय,
है निकल रहा करके सकम्प अधर द्वय!
मृदु शीतल मधु का मलय पवन आता है,
वह पारिजात की-सी सुगन्धि लाता है।
शृंगार-विलास-विलोल-नयन-नीलोत्पल,
हैं भासमान वासना-वारि में चंचल।
सुन अर्थ भाव से रहित व्रजेश मुरलिका,
खिल उठती थी व्रजबधू हृदय की कलिका।
फिर होगा ऐसा कौन उपल-उर-वाला,
मोहें न जिसे यह सुधावर्षिणी बाला?

निश्चय उसका दुर्भाग्य हुआ सज्जित है,
जो सरस स्वर्ग सोपान गान-वंचित है।
वाचक, सुनिए तो कान लगाकर सुख से,
यह प्रणयखेद मय गीत गायिका-मुख से।

गीत

क्यों पीड़ा देने को विधि ने रचा प्रेमनिधि है निश्चल?
इतना कोमल करके फिर क्यों किया कण्टकित फुल्ल कमल?
डूबे प्रथम अतल जल में तव मिलता प्रेमरत्न निर्मल,
कहीं मृत्यु फल फलता उससे कहीं कलंक लाभ केवल।
प्रेम दूर से ही सुन्दर है, यथा चंचलालोक चपल,
दर्शन में जो अति अनुपम है, स्पर्शन में है दीप्तानल।
जीवन-कानन में मरीचिका मोह मयी है महा प्रबल,
अहो! यहाँ जो प्रेम चाहता वह चाहता अनल में जल।
आज प्रेम जो पान करेगा उसे समझ कर सुधा सरल,
कल विरहानल में पावेगा तरल अश्रु जल और गरल!

यह सुनो गगन गत गान, तान लय-सम में,
क्या कूक रही है प्रात पिकी पंचम में!
या खिली हुई है अहा! अवनि पर नलिनी,
उसमें कल रव कर गूँज रही है अलिनी।
लो, नया प्रेम संचार हुआ है अब तो,
ललना-मुख लज्जा-ललित हुआ है तब तो।
देखो, अधरों पर हास-राशि फिर आई,
विकसी अब प्रणय-प्रसून-कली मनभाई।
फिर देखो, अब यह जान पड़ा दृग-जन से—
उस प्रणय-पद्म में कीट घुसा छल-बल से!
इससे नवाब का हृदय द्रवित हो आया,
कामानल फिर जल उठा, महा मद छाया।
आ घिरा गगन में काल-मेघ विद्युत युत,
उछला समुद्र, उन्मत्त हो उठा मारुत।
फिर बढ़ा वासना-स्रोत, प्रबल हो छूटा,
लज्जा का बन्धन लाख जगह से टूटा।

मन मग्न हुआ रमणी-स्वरूप में स्वर में,
तन तप्त हो उठा मत्त मदन के ज्वर में।
वह अश्रु पोंछने चला हाथ से ज्यों ही,
'धाँ' करके गरजी तोप दूर फिर त्यों ही,
करके संगीत-तरंग भंग वज्रोपम—
फिर सुन नवाब को पड़ा नाद वह निर्मम।
सिर घूमा पगड़ी गिरी, कम्प था तन में,
बज उठा ब्रिटिश-रण-वाद्य दूर कानन में।
भू कँपी, गिरे सब वाद्य, घटा-सी घहरी,
सम विना सहम तत्काल नर्तकी ठहरी!
क्षण भर पहले जो वदन हास्य-विकसित थे,
अब भय-विषाद-वश मलिन, पीत या सित थे।
उठ फरसी का नल फेंक युवक सचकित-सा,
नत वदन टहलने लगा, गभीर, थकित-सा।
जो था संगीत-निमग्न यथा सुरपुर में,
फिर चिन्ता के विष-दन्त लगे उस उर में।
भय से भूतल पर बैठ नर्तकी नारी
रोती थी सिर पर हाथ धरे बेचारी।
अस्थिर नवाब कुछ टहल सोच कर ग़हरा,
आखिर गवाक्ष पर बाहु टेक कर ठहरा।
देखा तब उसने अनतिदूर, हर कर तम,
रिपु का प्रकाश प्रज्वलित प्रेत-पावक-सम।
कुछ देर एक टक उसे देख कर अस्थिर—
चौंका वह सहसा, गिरा एक आँसू फिर।
निकला सुदीर्घ निश्वास एक अनजाने,
क्या चला पवन पर शत्रु-प्रकाश बुझाने!
या नृप-हिंसा-विष भरा, विना रण ठाने
निज वैरि-वृन्द को प्रेत-पुरी पहुँचाने!
झंझा के पीछे सिन्धु शान्त हो जैसे
धारण करता है भाव पूर्व के ऐसे!
कर उसे विलोड़ित तरल तरंगे क्रम से—
होती हैं जल में लीन स्वयं विभ्रम से।
वैसे ही हुआ यथेष्ट नवाब हृदय फिर,
निश्वास अनन्तर शान्त, सुशीतल, सुस्थिर।

नत दृष्टि किये, निज दशा निरीक्षण करके;
वह प्रकटित करने चला भाव भीतर के—
"क्यों आज?"—गला रुँध गया शोक के कारण
अति कठिन हो गया उसे धैर्य्य का धारण।
"क्यों आज तबीयत नहीं कहीं लगती है?
विष भरी हुई-सी दीख रही जगती है!
क्यों चिन्ताकुल है चित्त आज यों चंचल?
विधवा-लोचन-जल और अनाथ-रुदन-जल;
अपहृत सतीत्वधनवती नारियों के मुख,
निर्दयता से बध किये हुओं के भी दुख;
कर सके न जिसका सहज विनोद विदूरित,
क्यों उसकी आँखें आज अश्रु परिपूरित?
अरि-शिविर-ओर मैं दृष्टि डालता हूँ जब,
प्रत्येक ज्योति में हाय! न जाने क्यों तब—
अंकित निज अत्याचार देखता हूँ सब;
होता है ज्ञात कि भस्म हुआ अन्तर अब।
भ्रम मान उसे निज नेत्र पोंछता हूँ झट,
पर वह कलंक क्या पोंछ सकेगा यह पट!
फिर नेत्र पोंछ जो उधर दृष्टि लाता हूँ,
तो वही चित्र सुस्पष्ट पुनः पाता हूँ।
ऊपर देखूँ तो बहु विभीषिका वाली,
दिखलाई देतीं मुझे मूर्तियाँ काली।
प्रति तारा में प्रति पाप-चित्र-सा मेरा,
दिखलाता है सब ओर मुझे अन्धेरा।
जिन पापों को करते न पलक भी झँपता,
क्यों उनका चित्र विलोक आज हूँ कँपता?
करने में पुण्य कि पाप समान सरल हैं,
पर भिन्न भिन्न परिणाम परीक्षा स्थल हैं।
इस वंग राज्य में दीन प्रजाजन सारे,
दिन भर भिक्षा कर श्रान्त-क्लान्त बेचारे।
रिक्तोदर, पेड़ों तले, भूमि पर निर्भय—
सोते हैं सम्प्रति शान्ति लाभ कर सुख मय।
उनका राजा मैं इस सु-शयनशाला में—
जलता हूँ क्यों भू-गगन-शोच-ज्वाला में?

हा विधे, मुझे क्यों शून्य दीखती धरती?
क्या निद्रा भी है राजदण्ड से डरती!
क्या होगा मेरा—जय कि पराजय रण में,
आकुल हूँ क्या मैं यही सोच क्षण क्षण में?
यदि मैं नितान्त ही वहाँ हार जाऊँगा
तो प्राण किसी विध क्या न बचा पाऊँगा?
जीते जी तो मैं योग न रण में दूँगा,
क्यों कर अलक्ष्य में निहत शत्रु से हूँगा?
यदि भागी निश्चय चमू पराजय पाकर
तो आश्रय लूँगा दौड़ दुर्ग में जा कर।
मुझ-सा यों कौन भविष्य सोच करता है?
यों सोच कर्म्म-फल—पूर्व कथा मरता है?
करताल, खंजरी आदि बजाकर सुख से,
कर-ताल लगाकर, भाव जता कर मुख से,
करते हैं सम्प्रति नृत्य गान सब प्रहरी;
निश्वास रोकती नहीं शोच-विष-लहरी।
सब मोद-मग्न हैं, नहीं किसी को कुछ भय—
क्या होगा रण में—जय कि नितान्त पराजय?
अथवा क्यों भय घन उन्हें घेर छावेगा?
है वहाँ कौन-सा राज्य कि जो जावेगा?
वे क्यों चिन्तित हों? मृत्यु? मृत्यु तो जग में—
है दीनों के हित तुच्छ प्राप्त पग पग में।
मेरे सन्तोष हितार्थ हुए कितने क्षय?
दुःखी का जीवन मरण-तुल्य है, फिर भय?
मारे या पाले भूप यथेच्छाचारी,
उस एक जीवहित बनी प्रजा यह सारी।
मेरा जो हो, हो, उन्हें कौन सी शंका?
(कुटियों को क्या, जल जाय जले जो लंका)
जो आँधी पेड़ उखाड़ फेंक देती है,
वह तुच्छ तृणों का कहो कि क्या लेती है?
हा! यों ही इस आसन्न समर में पड़ कर,
मैं खोऊँ अपना राज्य मरूँ या लड़कर—
तो उन्हें? शून्य होगा न वंग-सिंहासन,
यदि गया एक नृप करे दूसरा शासन।

अथवा क्या कहना मान मीरजाफर का,
हो गया सैन्यदल सकल उसी के कर का?
यह कौन कहे? या समर-साज यह सारा,
षड्यन्त्र मात्र है, मुझे भुलाने हारा।
सम्भव है कल ये श्वान मुझे मिल मारें,
या दें क्लाइव के हाथ, कुटिलता धारें।
हैं मग्न तभी तो, या कि दुष्ट अति दुर्मति,
मारेगा मुझको आज यहीं सेनापति!
निश्चय विद्रोही हुए नीच ये सारे,
किस साहस से अन्यथा अभयता धारे—
क्लाइव लेकर लघु सैन्य सामना करता?
मम विपुल वाहिनी से न तनिक भी डरता?
होगा ऐसा जड़ कौन स्रोत ले सर का,
जो वेग रोकने चले महासागर का?
या व्यजन-वायु से चले फेरने आँधी?
निःसंशय सबने कमर पाप पर बाँधी।
मैं मूर्ख हूँ कि निज नाश किया निज कर से;
निश्चिन्त क्यों न हो गया मीरजाफर से?
क्यों जीता रक्खा उसे भूल शपथों में?
भूला क्यों क्लाइव पत्र-पंक्ति-विपथों में?
है किसे ज्ञात, अँगरेज छली हैं इतने?
इतने झूठे हैं, अहं बली हैं इतने?
कहने में निज पर किन्तु सदा करने में;
मृगजल मिथ्या विश्वास भाव करने में!
हा! जाऊँ अब मैं कहाँ? बचूँ क्या करके?
विश्वासघ्नों ने मुझे डुबाया धरके।
हा! ईश्वर, मैं उन्नीस वर्ष का बालक—
षड्यन्त्र-जाल में फँसा कि जो है घालक।
मम रक्षक भक्षक बना मीरजाफर खल,
यदि किसी तरह से परित्राण पाऊँ कल;
तो विद्रोही उसके समेत जो सब हैं
मारूँगा उन्हें सवंश आप ही अब मैं।
फिर अँगरेजों के उष्णरक्त को पीकर,
हूँगा कृतार्थ निश्चिन्त भाव से जी कर।

यह क्या है?'' सुन पद-शब्द कँपा वह थर थर,
सोचा कि आ गया काल मीरजाफर-चर।
झट कोने में जा छिपा, किन्तु जब जाना,
यम दूत नहीं, निज दास मात्र पहचाना।
तब बैठ गया भय-विकल, थाम कर निज सिर,
कुछ काल सोच कर यही किया उसने स्थिर—
''जो हो कपाल में, लिखूँ पत्र क्लाइव को,
मैं विना युद्ध ही राज-छत्र क्लाइव को—
दे दूँगा, पीछे मुझे न यदि वह मारे,
केवल इतनी ही दया हृदय में धारे।''
तब कम्पित कर से लगा पत्र लिखने वह,
फिर ठहर गया कुछ सोच और बोला यह—
''क्लाइव का क्या विश्वास, राज्य-धन लेकर,
सब कुछ लेकर फिर''—इसी समय भय देकर—
कोने में छाया पड़ी किसी की लटपट,
छिप गया पुनः वह फेंक लेखनी झटपट!
फिर शत्रु समझ कँप रही देह थी दबकी,
पर बेगम की अनुचरी मात्र थी अब की!
इस वार अभागा बैठ गया हत मृत-सा,
गति रही न कोई, हुआ विकार-विकृत-सा?
नीचे से धरती लगी खिसकने ऐसे—
फाँसी वाले की पाद-पट्टिका जैसे!
यों प्राण काँपने लगे वेग से झट झट—
निकलेंगे मानो अभी तोड़ मानस-पट।
वह चिन्तित बैठा रहा देर तक यों ही,
गिरने दो आँसू चार उमड़ते त्यों ही।
''अब नहीं, और अब नहीं सहा जाता है,
यह चित्त किसी विध चैन नहीं पाता है।
मैं पैर पड़ूँगा वृद्ध मीरजाफर के,
निज राजदण्ड, असि, मुकुट सामने धरके।
माँगूँगा उससे प्राणदान की भिक्षा,
उपजेगी उसमें क्या न दया न तितिक्षा''?
वह सचिव-शिविर की ओर चला पागल-सा,
विस्फारित लोचना, कम्पपूर्ण चलदल-सा।

पर ज्यों ही अपने शिविर-द्वार पर आया,
तम में शत शत यम रूप देख चिल्लाया।
''वंचक-नृशंस ने हाय! मुझे यह मारा''
मूर्च्छित होकर गिर पड़ा वहीं बेचारा।
तत्क्षण बिजली का वेग-विभा दिखलाकर,
रक्खा बेगम ने उसे अंक में आकर।
वह शिविर मध्य निज शयन मंच पर बैठी,
थी स्वामी के ही सोच-सिन्धु में पैठी।
नीरव निज अंचल भिगो रही थी रोकर,
पति के अदृष्ट के लिए अधीरा होकर।
पागल-सा जाता देख उसे घबराई,
पीछे पीछे थी चली आप भी आई।
कान्ता का अंग-स्पर्श सरस मृदु पाकर,
होकर सचेत कुछ देर बाद बंगेश्वर।
धारण करके उस प्रेम मूर्ति को उर पर,
रोने अबोध शिशु सदृश लगा अति कातर।
सुन रुदन सेविकावृन्द दौड़ द्रुत आया,
सबने शय्या पर उसे तुरन्त लिटाया।
तारा-परिवृत-विधु अस्ता-शैल पर आया,
''स्वामी, यह क्या?'' बोली विषादिनी जाया।
फिर अस्फुट स्वर से बोल उठा बेचारा—
''वंचक नृशंस ने हाय! मुझे यह मारा''
था ग्रीष्म-निशा का मिटा अभी न अँधेरा,
जिसने नीरव भू गगन सभी था घेरा।
धरती की ओर निहार मिलन, मन मारे,
टिमटिमा रहे थे शिविर-दीप-सम तारे।
झिल्ली-रव-मिस हत वंग भूमि रोती थी,
भवितव्य सोच कर अति अधीर होती थी।
उठता था वह रव भेद पलासी प्रांगण,
आतुर नवाब ने सुना उसे एक क्षण।
था मानो वह कुछ नियति-निदेश तिमिर में;
फिर काँप उठा हत भाग्य सभीत शिविर में।
''वंचक नृशंस ने हाय! मुझे यह मारा''
कहते कहते तनु शिथिल हो गया सारा।

उस समय निदाघ-प्रभात-पूर्व का स्पर्शन,
विचरण करता था आम्र विपिन में सन सन।
वातायन-पथ से वही पवन था आता,
जो था नवाब पर व्यजन विशेष डुलाता।
अति आर्त अनिद्रा और सोच के मारे,
टँक पलकों से वह उभय दृगों के तारे।
दुःस्वप्न देखने लगा सुप्त रहते भी,
मुहँ सूखे, सूखे रुधिर जिन्हें कहते भी।

× × ×

प्रथम स्वप्न

रे दुराचार, कुछ दया न आई तुझको,
मारा था तूने राज्य-लोभ-वश मुझको।
कल उसका प्रतिफल तुझे मिलेगा पापी,
होगा मुझ-सा सन्तप्त स्वयं सन्तापी!

द्वितीय स्वप्न

चाची हूँ देख सिराज, वही मैं तेरी;
तेरे हाथों क्या दशा हुई थी मेरी?
मुझ विधवा का धन-राज्य छीन कर सारा,
तूने निकाल कर मुझे भूख से मारा।
जिसके हितार्थ दुष्कर्म किये हैं ऐसे,
रक्खेगा अब वह राज्य सोच तू कैसे?

तृतीय स्वप्न

मारा था तूने हमें डुबाकर जल में,
डूबेगा कल तू आप अवश्य अतल में।

चतुर्थ स्वप्न

रे दुर्जन, देख हुसेनकुली हूँ मैं वह,
मारा था तूने जिसे, अमानुष, अब रह;
मम सत्य शाप से रक्त बहेगा तेरा,
तूने जहाँ कि था रुधिर बहाया मेरा।
जी भर कर पापी, आज और तू सो ले,

कल नहीं खुलेंगे नेत्र किसी के खोले।

पंचम स्वप्न

भर कर अति भीषण पाप-वासना मन में
तूने हमको था हरा बालिकापन में।
देकर कलंक ले लिये प्राण-धन सारे,
होगा विनष्ट तू क्यों न अरे, हत्यारे?

षष्ठ स्वप्न

रे क्रूर, याद है, अन्धकूप में तूने
मारा था कैसे हमें, दुःख दे दूने?
देकर सहायता कल स्वदेशियों को हम,
देंगे तुझको प्रतिदान समर में यम-सम।
करके अधीनता-रुधिरमग्न वंगालय,
अपनी अभिलाषा पूर्ण करेंगे निश्चय।
देखेगा तू दुर्वृत्त, और जानेगा,
समझेगा अच्छी तरह और मानेगा।
प्रतिहिंसा जीते हुए ब्रिटन की जैसी,
मरने पर भी वह जागरूक है जैसी।

× × × ×

तब तमोनिशा के अन्त समय में समुदित,
दीखी अम्बर में वक्र रजत रेखा सित।
भवितव्य सोच कर वंग भूमि की गति का
कंकाल शेष रह गया शर्वरी-पति का!
भीषण, सशस्त्र, रणमूर्ति देखकर भय से
शशि छिपा हुआ था कहीं सशंक हृदय से,
आकर दिखलाई दिया अहा! वह इस क्षण—
वृक्षान्तराल से देख पलासी प्रांगण।
होगी विदीर्ण बहु शस्त्र जाल से जो कल,
वह रंग भूमि है आज सुनिद्रित, निश्चल।
तब उठा मौन विधु, मौन चन्द्रिका ने चल—
आलिंगनार्थ देखा सुवंग-वसुधातल।
देखा, चिर-पिंजर-पिकी वंग-भू रोई,
दूर्वादल पर मुक्ताश्रु देख ले कोई।

देखा, कितने फल-फूल आर्द्र हो आये,
जिन पर दुखिया के नेत्र-नीर-कण छाये।
देखा शिविरों की पंक्ति छटा यों धारे,
ज्यों धवल बालुका-स्तूप समुद्र किनारे।
या गो-गृह वाले रण-क्षेत्र में कौरव
सम्मोहन-वाण-विमुख पड़े हैं नीरव।
सुख-शान्ति मूर्ति, संसार-स्वामिनी निद्रा,
राज्यच्युत-सी है आज अतीव दरिद्रा।
नर-नयनों में विस्तार नहीं है उसका,
इस रण-भूमि-पर निस्तार नहीं है उसका।
यदि अनजाने वह नेत्र किसी के मींचे,
उसको अलक्ष्यकर—सुधा स्पर्श से सींचे।
तो प्रहरी पद-रव और पवन-सनसन से,
झट चौंक भागती ऊँघ अभुक्त नयन से।
भय ने सबका सुख-भोग मिटाया ऐसे,
बन गयी भीष्म-शर-सेज पलासी जैसे।
सन्नाटा मचा नवाब-शिविर-घेरों में,
चुपचाप दास जन जाग रहे डेरों में।
जलते हैं केवल दीप, वायु आता है,
पर सर सर करके समय निकल जाता है।
निष्प्रभ नवाब मुख स्वेद-कणों से छाया,
दरसाता-सा है विकट स्वप्न की छाया।
शय्या पर बैठी वही सुन्दरी मुख से,
दृग भरे, पसीना पोंछ रही प्रिय-दुख से।
कोमल कर का रूमाल हुआ जब गीला,
तब उसने अंचल लिया चारु चटकीला।
अपलक आँखों से प्रेम-सुधा बरसाती,
अवनत मुख से निज दुःख-दशा दरसाती।
प्रिय-मुख विषादिनी वधू निहार रही थी,
सब सुध बुध अपनी आप विसार रही थी।
मुँह घेर विलम्बित केश पड़े थे जाकर—
पति की छाती पर और नरम तकिये पर।
प्रिय कण्ठ तले थी एक मृदुल भुज-लतिका,
मुख पोंछ रही थी अन्य पाणि से पति का।

रह रह दृग-जल से भीग, प्रेम से झुक झुक
प्रिय वदन प्रेयसी चूम रही थी रुक रुक।
प्रस्वेद पोंछते समय सती के लोचन,
करते सुर-दुर्लभ अश्रु-वारि थे मोचन।
राघव-सिर रख उरु-उपाधान पर वन में,
उनका पथ-पीड़ित वदन विलोक विजन में।
हत विधि वैदेही जो सुअश्रु बरसी थी,
जिनको विलोक स्वर्गीय सुधा तरसी थी।
या घन वन में जब घोर त्रियाम तिमिर था,
निज गोदी में मृत प्राण नाथ का सिर था।
दुखिया सावित्री जो सुअश्रु बरसी थी,
जिनसे कि मर्त्य में अमर-रसा सरसी थी।
वे ही सुअश्रु इस निशामध्य यह बाला
बरसा बरसा कर बुझा रही है ज्वाला।
उनके आगे क्या तुच्छ वंग-सिंहासन?
क्या है सुरेन्द्र-पद या कि अमरपुर-शासन?
इस ओर शिविर में चौंक चौंक पग पग पर,
अस्थिर क्लाइव निशि बिता रहा है जग कर।
मन में विचार भवितव्य अनिश्चित अपना,
पड़ता है रह रह विकल वीर को कँपना।
"लेकर इतना लघु सैन्य" सोचता है यह—
"क्या हरा सकूँगा मैं अपार सेना वह?
यदि विजय कहीं रण मध्य हुई न हमारी,
तो होगी आशा विफल ब्रिटन की सारी।
दुर्लंघ्य जलधि को लाँघ, शत्रु से घिर कर,
जा कौन सकेगा तब स्वदेश को फिर कर?
पहले तो मेरा सैन्य अल्प संख्यक है,
फिर उसमें रण-पटु नहीं एक जन तक है।
शिशु-सदृश मूढ़ गति समर मध्य सबकी है,
अधिकों ने रख लेखिनी अभी असि ली है।
तृण काट सकेंगे वज्र-जाल को कैसे?
तो लौटूँ, है क्या लाभ मरण से ऐसे?
तो लौटूँ? लौटूँ कहाँ? देश को जाऊँ?
पर जाऊँ तब तो परित्राण जब पाऊँ।

मैं पैरों पड़ इस काल शत्रु के रोऊँ,
तो भी यह सम्भव नहीं मुक्त जो होऊँ।
यह खल हम सबको मार रुधिर चक्खेगा
या कारागृह में बाँध बन्द रक्खेगा।
तो फिर क्यों भागूँ? युद्ध-निरत होऊँगा,
मैं समर-सेज पर शूर-सदृश सोऊँगा,
हम हैं वीरों के पुत्र, समर-व्यवसायी,
यदि होंगे भी तो शूर-सदृश भू शायी।
स्वातन्त्र्य और वीरत्व हमारे धन हैं;
अर्पित उनके ही लिए सदा जीवन हैं।
असि रहते माँ की लाज न जाने देंगे;
सित तनु में असित कलंक न आने देंगे।
रिपु को मारूँ या मरूँ, करूँगा रण मैं;
करता हूँ लो, यह खड्ग उठाकर प्रण मैं।
लौटूँगा हे इंग्लैण्ड, विजय गौरव से,
अन्यथा सदा के लिए विदा अब सब से।"
जब तक हो चिन्तित चित्त कुछेक ठिकाने
खिंच गया दूसरी ओर ध्यान अनजाने।
प्रेमाकुल कोई ब्रिटिश युवक गाता था;
सुनकर करुणा से हृदय भरा आता था।

गीत

मेरी केरोलीना, प्यारी,
माँगूँ दिदा आज क्या कह कर मैं तुझसे सुकुमारी!
वाणी नहीं निकलती मुख से,
हृदय फटा जाता है दुख से।
उद्वेलित है प्रिये, प्रेम का पारावार अपार,
शत शत तरल तरंगें उसमें उठती हैं प्रतिवार।
प्रति तरंग पर मेरे प्राण,
गाते हैं तेरा ही गान।
करते हैं वे प्रति तरंग का चुम्बन वारी वारी।
मेरी केरोलीना, प्यारी!

मेरी केरोलीना प्यारी,
यदि समुद्र के एक प्रान्त में उगे चन्द्र छवि धारी।

जाता है उसका प्रकाश घक,
इस सीमा से उस सीमा तक।
करने लगता है रत्नाकर रजत चन्द्रिका-हास,
वैसे ही करती है यद्यपि तू इंग्लैण्ड निवास।
भारत में तव रूपा लोक,
क्या अन्तर सकता है रोक?
इस अभाग्य के उर में उसकी झलक रही द्युति न्यारी।
मेरी केरोलीना, प्यारी!

मेरी केरोलीना, प्यारी!
बैठ दुराकांक्षा-नौका पर जिस दिन अति अविचारी।
तरकर परम प्रबलतर सागर,
छोड़ प्रेम का पूर्ण सुधाधर,
इस देशान्तर में आया था तेरा प्रेमी हाय!
वार वार हे प्रिये वही दिन अन्य विचार विहाय!
इस रण-प्रांगण में सविषाद,
आता है इस जन को याद।
उछल रहा है स्मृति-झंझा वश प्रणय जलधिलयकारी।
मेरी केरोलीना, प्यारी!

मेरी केरोलीना, प्यारी!
रखकर सुन्दर सरल वदन पर तरल हास बलिहारी!
प्रिये, कहा था तूने—"प्यारे,
पहनाने के लिए हमारे,
लाओगे न गोलकुण्डा के हीरों का तुम हार?"
करके ग्रीवा भंग अहा! फिर सजल-नयन-शर मार।
धर कर मेरा बायाँ हाथ,
था यह कहा—"और कुछ नाथ",
नहीं चाहती केरोलीना प्यारी सदा तुम्हारी।
मेरी केरोलीना, प्यारी!

मेरी केरोलीना, प्यारी!
प्रिये आज, इस दुर्विध के ये प्रेम-अश्रु जो भारी
अविरल आँखों से हैं बहते
यदि न तरल होते थिर रहते,
तो इनसे जो हार गूँथ कर देता मैं उपहार,
उनके निकट गोलकुण्डा का हीर-हार क्या छार!

आलोकित करके प्रति अश्रु
रहती तू उसमें रुचिर भ्रु!
तुझे छोड़ रखती क्या उसका मूल्य मही वेचारी!
मेरी केरोलीना, प्यारी!

मेरी केरोलीना, प्यारी!
थी बस यही एक ही मेरी शेष निशा अँधियारी।
अन्तिम यही चन्द्र था मेरा,
जो किरणों से मेट अँधेरा,
देता है निज अमृतकरों से अवनी को आह्लाद
हाय! प्रिये, क्या इस विषाद मय चिरवियोग के बाद
मेरे अन्ध हृदय को और,
देकर इस जीवन में ठौर,
तेरा रूप करेगा अब फिर आलोकित अविकारी?
मेरी केरोलीना, प्यारी!

मेरी केरोलीना, प्यारी!
किंवा कल,—इसका विचार भी है अति हृदय विदारी
कल उस भीषण समर स्थल में,
हतविधि की आँखों में, पल में,
हो जावेगी अन्धकारमय वह आशा वह रूप,
तो फिर अश्रुसिक्त छोटा सा तेरा चित्र अनूप
छाती पर रख प्रेम समेत,
आऊँगा मैं मृत्यु-निकेत।
तुझे पुकार जन्म भर के हित शक्ति लगा कर सारी—
मेरी केरोलीना, प्यारी!

मेरी केरोलीना, प्यारी!
जाती है निशि, फिर यह निशि यह उडु-कुसुमों की क्यारी
फिर यह अति निर्मल नभ नीला,
यह चिर चारु चन्द्र चटकीला,
मेरी इन आँखों में प्रेयसि, होगा क्या प्रतिभात!
सम्भव है, मेरे जीवन का अन्तिम यही प्रभात
दृग-जल से कालिख धो आज,
पूर्वाचल पर रहा विराज।
अब न पुकारेगा यह हतविधि तेरा प्रेम पुजारी।
मेरी केरोलीना, प्यारी!

चुप हुआ युवक ज्यों शेष तान सह तन्मय,
मन-प्राण हो गये नैश समीरण में लय।
क्लाइव-कर्णों में वही मृदुस्वर छाया,
उर द्रवित हो गया, एक अश्रु बह आया।
निकला सुदीर्घ निश्वास सहित मुखसे तब—
''प्रियतमे, मेस्किलिन,-हाय? जन्म भर को अब—''

चतुर्थ सर्ग

(युद्ध)

करके यवन गणों के सुख की निशि का निपट निपात,
हुआ पलासी के प्रांगण में मानों नया प्रभात।
यवन-भाग्य आरक्त गगन में अंकित करके स्पष्ट,
धीरे धीरे उठा दिवाकर पाकर मानों कष्ट।
शान्तोज्वल कर-निकर भूमि को चिर स्नेह से चूम,
घुसा आम्र वन में क्रीड़ा से पत्र-पथों में घूम।
हुआ श्वेत-मुख शतपत्रों पर उसका विम्ब-विकास,
पाया निज में नव स्फूर्ति का क्लाइव ने आभास।
देख स्वप्न के पीछे रवि को कम्पित हो तत्काल,
निकला-सा समझा सिराज ने विधि का लोचन लाल!
बीती नीरव निशा अभी तक नीरव था संसार,
करता था न पवन भी मानों रण-तल पर संचार।
हिलता पत्ता तक न था कि था सन्नाटा भरपूर,
लेता था न साँस भी मानों कोई सैनिक-शूर।
निश्चल सी थी दूर जाह्नवी, वीचि-विहीन तड़ाग;
डालों पर बैठे थे नीरव गीध, चिल्लिका, काग।
अचल पलासी प्रांगण रण की देख रहा था राह,
रुक जाता है प्रलय-पूर्व ज्यों पूरा प्रकृति-प्रवाह।
बजा ब्रिटिश-रण वाद्य इसी क्षण करके घन-घन घोर।
कम्पित कर समरस्थल को,
कम्पित कर गंगाजल को,
कम्पित करके आम्र-विपिन को गूँजा रव सब ओर।
नाचा सुनकर उसे नसों में सैन्य जनों का रक्त।

माँ की गोदी में बच्चे–
उछले सुन कर स्वर सच्चे,
उत्साहित होकर शय्या पर बैठे रुग्ण अशक्त।
गरज उठा तब समर-रंग से बज नवाब का डोल।
ऐसी गहरी गमक उठी,
जिससे धरती धमक उठी,
होने लगा वायु-मण्डल भी वारंवार विलोल।
भीषण, मिली हुई, ध्वनि सुन कर चौंक चौंक तत्काल।
अरघा लिए हुए द्विजवर,
हल थामें किसान सत्वर,
ठिठके वज्राहत पन्थी ज्यों, हुआ हाल बेहाल।
करके अहा अर्द्ध निष्कोषित तब अपनी तलवार,
एक वार पृथ्वी तल को,
एक वार गगन स्थल को,
देखा सैनिक गण ने मानों यही आखिरी वार।
भागीरथी-भक्त आर्य्यों ने भक्ति-भाव के साथ।
क्षण भर पूर्ण दृष्टि भरके,
गंगा के दर्शन कर के,
नाद किया "जय गंगा माई" जोड़ जोड़ कर हाथ।
निमिष मात्र में सैन्य जनों ने इंगित के अनुसार
बन्दूकें निज कन्धों पर,
ले लीं दर्प सहित तन कर,
संगीनों से हुआ कण्टकित युद्धस्थल इस वार,
वेगशालिनी सरिता जैसे करके भैरव घोर,
जाती है द्रुत हहराकर,
उमड़ उमड़ कर, लहराकर,
करने को प्रतिकूल शैल पर तडित्प्रहार कठोर।
अथवा देख मृगों को वन में क्षुधित व्याघ्र विकराल।
देर न करके वह पल भर,
पथ में गुल्म-लता दल कर,
करने को आक्रमण तीर-सा जाता है तत्काल।
वैसे ही तत्क्षण सिराज के सज्जित सैनिक-शूर।
आम्र-विपिन को लक्ष्य किये,
एक स्रोत से शस्त्र लिये,

दौड़े चण्ड दण्डधर यम-सम, रण के मद में चूर।
कोई सौ तोपों ने सहसा एक साथ रण ठान,
भीषण अनल वृष्टियाँ कीं,
शत संहार-सृष्टियाँ कीं,
तिरोधान हो गये सैकड़ों वीर ब्रिटिश-सन्तान।
शराघात पाकर सुप्तोत्थित ज्यों शार्दूल दुरन्त।
हयारूढ़, निर्भीकमना,
खींचे हुए लगाम, तना,
सेना को सँभालने क्लाइव आया वहाँ तुरन्त।
'सम्मुख! सम्मुख!' गरज उठा वह दिखलाकर गाम्भीर्य
कर की असि चमचमा उठी,
मुख-मुद्रा तमतमा उठी,
दीप्त हुआ फिर निर्वापित-सा ब्रिटिश-सैन्य बलवीर्य।
करके तब उसकी तोपों ने वज्रनाद निस्सीम।
मानों उत्तर देने को,
अथवा बदला लेने को,
उगली कालान्तक कृशानु की ज्वाला तत्क्षण भीम।
समझ कृषक ने विना मेघ के भीषण वज्राघात।
देखा ऊपर को डर कर,
छाती काँप उठी थर थर,
हुआ चौंकने से सिर पर का कान्ता-कलश-निपात।
घुसा कोटरों में कल कल कर पक्षि-समूह सशंक।
बाँ बाँ बाँ करके गायें,
भागीं झट दायें बायें,
गृह-द्वार पर पहुँच हाँफने लगी मौन सातंक।
फिर भी, फिर भी उन तोपों का वही विकट हुंकार!
किया धुएँ ने अन्धेरा,
दशों दिशाओं को घेरा,
बजे ब्रिटिश-रणवाद्य-भंयकर कर झर झर झंकार।
फिर भी फिर भी उन तोपों का वही विकट हुंकार।
कम्पित करके भूतल को,
और विदीर्ण रणस्थल को,
उठा भीम रव, फटा गगन-सा, बरसे वज्रांगार!
उसी भीम रव से प्रमत्त हो श्वेत शूर, सम-वेश,

धूम धूसरित देह तभी,
पैदल और सवार सभी,
टूट पड़े अरिदल के ऊपर, लोहा बजा विशेष।
आँखें झुलसाकर क्या बिजली मचा रही यह धूम?
शत शत असियाँ फिरती हैं,
शत्रु-सिरों पर गिरती हैं,
करके निज प्रतिविम्ब निरीक्षण रवि-किरणों में घूम।
गोला एक अचानक छूटा लाल लाल विकराल।
लगा पैर में वह आकर,
जिससे घनाघात पाकर,
पृथ्वी पर गिर पड़ा पेड़-सा मीर मदन तत्काल।
हुर्रे हुर्रे कहकर तत्क्षण गरज उठे अँगरेज।
तब नवाब के सैनिक गण,
भय से छोड़ छोड़कर रण,
भाग उठे पीछे को फिर कर सह न सके वह तेज।
''लौटो, लौटो, अरे यवनगण,'' गरजा मोहनलाल—
''ठहरो, ठहरो, क्षत्रियगण'',
भागे यदि तुम तजकर रण,
तो निश्चय ही निकट समझना तुम सब अपना काल।
भागे यदि तुम लोग भीरु सम छोड़ आज संग्राम।
इसे जान रखना तो फिर,
धड़ पर नहीं रहेगा सिर,
जाना होगा तुम्हें सबान्धव एक साथ यम-धाम।
पाओगे न कहीं भारत में तुम विश्राम-स्थान।
क्यों नवाब का सिर खानें—
आये थे वल दिखलानें?
नहीं बचोगे, नहीं बचोगे, अरे यवन-सन्तान!
सेनापति छी! छी! यह क्या हैं? धिक है तुम्हें न लाज।
किस प्रकार यों यहाँ अहो!
कठपुतली की तरह कहो,
एक ओर तुम खड़े हुए हो धारण कर रण-साज?
यह देखो यह देखो, देखो ज्यों चित्रित प्राचीर
सैनिक-पंक्ति तुम्हारी है,
खड़ी अकारण सारी है,

समर-सिन्धु की लहरें क्या वह गिनती है गम्भीर?
क्या तुम नहीं देखते हो यह सत्यानाश समक्ष?
जाता है स्वतन्त्रता-धन,
और वंग का सिंहासन,
डूब रहा सर्वस्व सामने है अब किस पर लक्ष?
क्या विचारते हो कि शत्रु जन दे कर तुम को हार
समर छोड़ घर जावेंगे,
फिर न यहाँ पर आवेंगे,
होगा फिर भी वंग देश में यवनों का अधिकार?
मूर्ख हुए तुम, कोहनूर मणि पाकर मिट्टी खोद।
करके उसे कौन निक्षेप,
घर जाता है मिट्टी लेप?
या कि कंकड़ों से बदले में भर कर अपनी गोद?
किंवा किये वंग में हैं जो तुमने अत्याचार।
दिये तुम्हारे सौ दुख भोग,
मरे अभागे हिन्दू लोग,
उसका प्रायश्चित्त-काल सा आया है इस वार?
मत समझो इन वैरिजनों को वणिक मात्र सामान्य।
देखोगे तुम इनके हाय!
राजा, राज्य और व्यवसाय
समर-विपणि में आयुध-विनिमय, लाभ विजय प्राधान्य।
गाँठ बाँध रक्खो, यदि रण में हुआ पराजय प्राप्त।
तो दासत्व-शृंखला-भार,
नहीं मिटेगा किसी प्रकार,
जीवन—संशय उपजावेगा पारतन्त्र्य-विष व्याप्त।
है तुम से पददलित आज जो हिन्दू जाति अनाथ।
एक शृंखला ही में तब,
इसे समझ रक्खो तुम सब,
बँधना होगा तुम्हें शीघ्र ही यहाँ उसी के साथ।
अति अधीनता और अनादर सह सह कर अनिवार।
कैसे तुम पाओगे त्राण?
किस प्रकार रक्खोगे प्राण?
हृदय जलेगा, हृदय जलेगा, होगा तप्तांगार।
शताब्दियों तक गीध सैकड़ों तीक्ष्ण चंचु-शर तानें।

यह हृत्पिण्ड विदीर्ण करें,
इस प्रकार हम क्यों न मरें,
यह स्वीकार हमें है, फिर भी, फिर भी हे भगवान!
कभी एक दिन—किसी एक दिन—जन्म जन्म में हाय!
बस, परतन्त्र न हों हम लोग,
करें न अतुल यातना-भोग—
पड़ कर निर्मम नर-गृद्धों के हाथों में निरुपाय।
मत खोओ, मत खोओ, तुम ओ, मूर्ख यवन, यह रत्न।
यह सु-दिव्य धन खोओगे,
तो जीवन भर रोओगे,
पा न सकोगे इसे कभी फिर करके लाख प्रयत्न।
वीरप्रसू मुगल-महिलाएँ हैं सदैव विख्यात।
कुल-कुठार ये सब ऐसे,
जने उन्होंने हैं कैसे?
चंचल हुई यवन-लक्ष्मी अब निश्चय है यह बात।
पहनाया था प्रणय-कुसुममय हार जहाँ अनमोल।
किस मुँह से ओ मोहासक्त,
अरे भीरु, अज्ञान, अशक्त,
पहनावेगा उसी कण्ठ में दास्य-शृंखला, बोल?
हाय! चिरोपार्जित वह अपना कुल-गौरव सिर मौर।
कैसे तुम वह मंजु मयंक,
करते हो मसिमय-सकलंक?
उससे अधिक यवन लोगों का क्या गौरव है और?
भुवन-विदित भुजवल से अर्जित उसी सुयश के हेतु।
वनिता-दुहिताओं के अर्थ,
असि लो, असि लो, बनो समर्थ,
भारत के हित युद्ध करो सब, फहराओ जयकेतु।
कहाँ वीर क्षत्रियगण रण में यम सम विषम विशेष?
छी! छी! छी यह कैसी बात?
करके कुल-गौरव का घात,
दिखलाते हो शत्रुजनों को पृष्ठ देश अनिमेष!
वीरों की सन्तति हो तुम सब वीरों के अवतार।
कैसे भागे जाते हो?
कुल को दाग लगाते हो!

होकर सिंह-कुमार कार्य्य में बनते हो तुम स्यार!
कैसे निज क्षत्रिय समाज में फिर कर तुम यों आज–
दिखलाओगे अपना मुख?
इस जीवन में है क्या सुख?
पत्नि, पुत्र हँसेंगे तुम पर, नहीं लगेगी लाज?
विश्रुत है क्षत्रिय वीरों का साहस मात्र सहाय।
उस वीरत्व-विभाकर में,
ग्रहण लगा कर तुम घर में–
आज घुसोगे कहो, कौन सी आशा लेकर हाय!
क्या है भला तुच्छ जीवन यह रहता हो यदि मान?
रक्खेंगे, रक्खेंगे मान,
जावें तो जावें ये प्राण।
साधेंगे, साधेंगे हम निज स्वामी का कल्याण।
तो फिर चलो, बन्धुगण फिर से लौटो, चलो अबाध्य।
देखें अँगरेजों का दल,
सित शरीर में कितना बल।
जीते आर्य्य-सुतों को रण में, किससे है यह साध्य?
वीर पूर्वजों का शोणित है हम में ओतप्रोत।
रहते अपने दम में दम,
रण से नहीं हटेंगे हम।
रुक न जायगा श्वेतांगों का जब तक रक्त-स्रोत।
भारत-वीर्य्य दिखावेंगे हम लेकर उन से वैर।
बल से हिमगिरि को टालें,
या वे उसको ढा डालें।
टला सकेंगे किन्तु न रण में हमें एक भी पैर।
यदि दिनकर को भी उखाड़ कर अपने बल से शत्रु।
करें समुद्र-निमग्न अभी,
पर क्षत्रिय दल को न कभी
टला सकेंगे रण में बल से या कौशल से शत्रु।
चलो, चलो, हे वीर बन्धुगण, अब असह्य है देर।
देखें, कौन विजय पावे,
कौन अधिक बल दिखलावे।
भारत-वीर्य्य दिखावेंगे हम शत्रुजनों को घेर"।
सुन यह भाषण फिरा यवन-दल, लौटे क्षत्रिय वीर।

ज्यों सागर के कल कल्लोल,
चलते हैं दल बाँध विलोल।
चलता है जिस समय भयंकर चण्डोद्दण्ड समीर।
हुआ तुमुल संग्राम वहाँ फिर भीषण शस्त्राघात।
उगल उगल कर पावक, घूम,
गरजी घन घन तोपें घूम।
होता है मेघों में जैसे उग्र अशनि-सम्पात।
निर्दय-हृदय-नियति देवी ने किया निरन्तर नाच।
अभी उधर तो अभी इधर,
समझे उसको कौन किधर?
अब की वार ब्रिटिश वीरों को लगी हार की आँच।
तूर्य्यध्वनि सुन पड़ी अचानक प्रस्तुत कार्य्य विरुद्ध—
"रुको वीर, विश्राम करो,
अब न और संग्राम करो।
आज्ञा है नवाब साहब की अब कल होगा युद्ध!"
लिए हुए तलवार उठे के उठे रह गये हाथ।
अगले पैर न पड़ पाये,
गये वहीं हय ठहराये।
चकित हुई सेना नवाब की, रुकी एक ही साथ।
शिखर-वाहिनी शैल-नदी ज्यों लेकर जल-प्रवाह।
लता गुल्म सह वृक्ष उखाड़,
छिन्न भिन्न कर उनके भाड़।
अर्द्ध मार्ग में शैल-रुद्ध हो तो पाने को राह।
अचल शिलाओं से लड़ लड़ कर उनको किसी प्रकार।
एक बार यदि टला सके,
अपनी ऐसी चला सके।
तो वह शिला उखाड़ भूमि पर गिरती है अनिवार।
त्यों ही एक वार टल पाया ज्यों ही यवन-समूह।
आगे को संगीन किये,
मानों मघवा वज्र लिये।
टूट पड़ा पीछे से यम-सम अँगरेजों का व्यूह।
विंधी किसी की पीठ, किसकी का कण्ठ, किसी का वक्ष।
वृष्टि-बुन्द-सम जहाँ तहाँ,
वैरी गिरने लगे वहाँ।

खप्पर भरे समर-चण्डी के और काल के कक्ष।
झन झन करके घन घन घन सम ब्रिटिश-वाद्य-संघर्ष।
कम्पित कर समरस्थल को,
कम्पित कर गंगाजल को,
वंग-विजय की उच्च घोषणा करने लगा सहर्ष।
मूर्च्छित होकर अस्ताचल पर गिर कर घूर्ण विघूर्ण।
निष्प्रभ शोणित लोहित काय,
गया अस्त होने रवि हाय!
गया अस्त होने यवनों का गौरव-रवि सम्पूर्ण।
शान्त हुआ नर-तरु उखाड़ कर खर तर समर-समीर,
वृष्टि रुकी, सविषाद पवन है बहता शिथिल शरीर।
मूर्च्छित मोहनलाल पड़ा था, हुआ उसे जब चेत,
देखा उसने म्लान मुख, नयन खोल रण-खेत।
क्षत शरीर से रुधिर बहा तब करके शोकोद्‌गार
बोल उठा वह यों अस्तंगत रवि की ओर निहार—
'कहाँ चले, फिर कर तो देखो, एक वार दिनराज!
तुम डूबे तो डूब जायगा यवन राज्य भी आज।
आवेगी उनके अभाग्य की अटल अँधेरी रात,
निर्मम होकर चले न जाना करके यों पविपात।
उदित हुए थे आज जहाँ तुम कैसे भाव विलोक,
अस्त हो रहे हो अब कैसी दशा देख, हा शोक!
देव, तुम्हारा अर्द्धावर्तन हुआ न जब तक पूर्ण,
अर्द्धधरा का भाग्य-चक्र यह कैसा हुआ विघूर्ण।
क्या ही अद्‌भुत है अदृष्ट-गति, सरल और अति वक्र,
पलक न पड़ते पड़ते कैसा फिरता है चिर चक्र।
किसकी उन्नति किसकी अवनति होगी एकाएक,
कर सकता है क्षण भर पहले इसका कौन विवेक?
कल था जहाँ सुरेन्द्र-सदन-सा, विजन विपिन है आज;
समय-स्रोत बहा देता है कितने राज-समाज!
युवक सिराजुद्दौला पड़ कर उसी स्रोत में हाय!
आज पलासी में खो बैठा राजमुकुट निरुपाय।
भला कहाँ वह ब्रिटन, कहाँ यह भारत हे भगवान,
कितने गिरि, वन, सिन्धु बीच में अर्द्धधरा व्यवधान।
नहीं देखता है भारत के चन्द्र, सूर्य्य वह देश।

और देखता नहीं ब्रिटिन के चन्द्र, सूर्य्य यह देश।
कभी वायु सा मन कल्पना गयी न इतनी दूर,
कह सकता है कौन भला फिर है वह कितनी दूर?
वह आकाश-कुसुम है अथवा शून्यस्थित मन्दार,
भारत के इंग्लैण्ड-विषय में थे बस यही विचार।
आज वही इंग्लैण्ड स्वप्न-सा, विस्मय पूर्ण, विचित्र,
भारत-भाग्य-गगन में सहसा उदित हुआ है मित्र!
शीघ्र अस्त होगा न सूर्य्य वह होकर सध्याकृष्ट,
कभी अस्त होगा कि न होगा, जानें इसे अदृष्ट।
और बहुत दिन यवन अभागे छोड़ राज्य की लाज,
वंग-रंग भू पर न सजेंगे परिस्तान के साज।
होगा अब निश्चय ही होगा उनका विभव विलीन,
आज नहीं तो कल या परसों भारत ब्रिटन-अधीन।
किस क्षण में था किया प्रभाकर, तुमने आज प्रभात?
बीती थी किस क्षण में आहा! बीत चुकी जो रात?
भारत-हृदय-गगन में करके अन्धकार भरपूर,
स्वतन्त्रता की अन्तिम आशा चली गयी अति दूर।
देख देख यह यवन-पतन वह महाराष्ट्र उत्थान,
गाता था न कौन हत हिन्दू उस आशा का गान!
किन्तु जहाँ अब अस्त हुए तुम और क्या कहूँ हन्त!
बुझ जावेगी तिमिर छोड़ वह आशा ज्योति ज्वलन्त।
हाय! डुबा कर शोक सिन्धु में तुम यह दुर्विध देश,
डूब गये हो क्या नितान्त ही अब हे देव दिनेश!
तो जाओ, क्या कहूँ और मैं, जाओ अपने धाम,
अब न लौटना, भारत में है क्या प्रकाश का काम?
आजीवन कारागृह में ही करते हैं जो वास,
लज्जा का कारण होता है उनके लिए प्रकाश।
कल जब खोलोगे सहस्र कर, पूर्व दिशा का द्वार,
देखोगे तब तुम भारत में नये दृश्य का ज्वार!
आज अस्त तो कल फिर समुदित होगे तुम आदित्य!
दिवस गया फिर आ जावेगा यही नियम है नित्य।
किन्तु न लौटेगा यवनों का गौरव-रवि अब और;
भारत का यह दिन फिरने का नहीं किसी भी तौर।
लौटेंगे न कभी मृत तनु में गये हुए वे प्राण,

रण में निहत हुए जो हत विधि पा न सकेंगे त्राण।
मृत देहों से दबी आज जो रूखी सूखी घास,
दिखलावेगी कुछ दिन में फिर निज नव शक्ति विकास।
मृत देहों के नीचे दब कर आज पा रही ताप,
एक वर्ष के बीच जमेंगी उनके ऊपर आप!
आओ सन्ध्ये, अहो! तुम्हारे भूरि भाल पर भव्य,
दमक रहे नक्षत्र रत्न हैं दिखला कर द्युति नव्य।
किंवा सुन कर यवन जनों के दारुण दुख का हाल,
हाथों से पीटा है तुमने अपना दीर्घ कपाल।
निकले इसीलिए हैं क्या ये शोणित-विन्दु नितान्त?
तो आओ, तुम शीघ्र पसारो निज धूसर पट प्रान्त।
हत भाग्यों के वदन छिपा लो दुःख-विकृत अति दीन,
तिमिर-वृष्टि कर समर भूमि को करो उसी में लीन।
कल सन्ध्या के समय अभागे वनिता-वृन्द-समक्ष,
फुला रहे थे अहंकार से उद्धत अपने वक्ष।
रजनी में करते थे सुख से उनके साथ विहार,
फिर प्रभात के समय हुए थे लड़ने को तैयार।
होने पर मध्याह्न हुए थे रण मदमत्त सगर्व,
पड़े हुए हैं अब सन्ध्या को रण-शय्या पर सर्व।
अश्वी-अश्व, विपक्षी-बान्धव, रवि न हो सका अस्त,
पड़े एक ही साथ समर में क्षत्रिय-यवन समस्त!
होता था आमोद पूर्ण निशि होने पर जो वंग,
उठते थे आकाश स्पर्शी जिसमें नाट्य-तरंग।
हाहाकार आज छाया है उसमें चारों ओर,
जलते नहीं कहीं भी दीपक, अन्धकार है घोर।
पतिहीना पत्नियाँ विकल हैं, भ्राता भ्रातृ-विहीन,
पुत्र-विहीन पिता पृथ्वी पर लोट रहे हैं दीन।
भारत के रोने धोने का नहीं यहीं विश्राम,
नहीं पलासी के संगर का यही पूर्ण परिणाम।
निकला जो यह स्रोत शक्ति का वंग भूमि को फोड़,
शीघ्र कुमारी से हिमगिरि तक घूमेगा जल-जोड़।
जलधि लाँघ लंका पहुँचेगा, होगा दीर्घाकार,
क्रम क्रम से होगा फिर इसमें झंझागति-संचार।
होगा बली पूर्ण बल से यह नद-सदृश, अथाह,

किसका बल है रोक सके तब इसका प्रबल प्रवाह?
आज पलासी में जो सित घन हुआ अचानक प्राप्त,
सारे भारत भाग्यगगन में बढ़कर होगा व्याप्त।
प्रलय-वृष्टि होगी झंझायुत, अन्धकार सर्वत्र,
उड़ जावेंगे सभी पुराने राजा, राजच्छत्र।
किन्तु शान्त हो जावेगी जब झंझायुत वह वृष्टि,
भारत-गगन मध्य तब होगी शान्ति-सुधाकर सृष्टि।
आज तुम्हारा क्या ही सुख का दिन हे श्वेतद्वीप!
लगा तुम्हारे हाथ आज जो रम्य रत्न दृग-दीप।
एक वार ईर्ष्या-आशावश होकर सब यूरोप,
देखेगा इसको विस्मय से विस्फारित दृग रोप।
तो जाओ झट झंझागति से हे समीर, साह्लाद,
दो जाकर इंग्लैण्डराज को तुम यह शुभ संवाद।
सुनकर श्वेतांगियाँ सिन्धु में नाचेंगी तत्काल,
यथा नाचते हैं मानस में मिलकर मंजु मराल।
प्रतिध्वनित करके वे सारा द्वीप गिरा-गुंजार,
ब्रिटिश-विजय के गीत सगौरव गावेंगी बहु वार।
और आज भारत का—उसका है, जो सदा अधीन।
नहीं असुख का दिन भारत का—उसका जो चिरदीन।
इस पिंजड़े से उस पिंजड़े में हो जावे जो बन्द,
तो क्या सुख, क्या असुख विहग को?
कब है वह स्वच्छन्द।
पर-वश स्वर्ग-वास से अच्छा निजवश नरक-निवास,
स्ववश भिखारी भी राजा है पर-वश नृप भी दास।
नहीं चाहिए हमें स्वर्ग-सुख नन्दनवन के संग,
यदि मिल सके किन्तु हा! सहसा हुआ स्वप्न वह भंग।
जो हो, पर-वश भी भारत का नहीं असुख-दिन आज,
कारण? हत बल हुआ आज से उद्धत यवन समाज।
धनी, निर्धनी, मध्यवित्त या अबल, सबल सब लोग,
किया करेंगे यहाँ आज से निर्भय निद्रा-भोग।
हुआ राज्य-अभिनय यवनों का इतने दिन में पूर्ण,
गिरी यवनिका और हुई वह चटक मटक सब चूर्ण।
यवन राज्य होगा विस्मृति-गृह काल-गर्भ में लीन,
अब प्रवेश कर दिखलावेंगे नव नट नाट्य नवीन।

करके अति उच्छ्वसित हृदय को आज यहाँ सविषाद,
वह सुदीर्घ अभिनय आता है अंक अंक कर याद।
कितना सुख दुःख पूर्ण बनाया विधि ने भारत-भाल?
प्रिय पुत्रों के हित वह कितना रोया है चिरकाल?
सदा अभागे ने झेले हैं कितने विषमय बाण?
और सहे कितने उत्पीड़न करके उर पाषाण?
अब भी प्राण काँप उठते हैं अत्याचार विचार,
खर तर असि-रसना के बल से हाय! धर्म्म-विस्तार?
किन्तु व्यर्थ उस दीर्घ कथा से अब क्या? निस्सन्देह,
भरे यवन-अत्याचारों से इतिहासों के गेह।
भरे, किन्तु क्या रत्न न थे उस कलंकाब्धि के बीच!
हुए यवन सम्राट यहाँ जो सभी हुए क्या नीच?
अधम अलाउद्दीन और था उद्धत आलमगीर,
तो क्या न थे साथ ही विश्रुत बाबर, अकबर धीर?
लिपटी है गोधूलि दिवा के अंचल में चुपचाप,
इसीलिए कितनी ही धुँधली जँचे क्यों न वह आप।
यदि न दिवाकर होता, जो है विश्व-दीप विख्यात,
तो फिर हमें रात ही जैसा दिन भी होता ज्ञात।
ऐसे ही स्वतन्त्र समदर्शी आर्य्य राज्य के बाद,
है निज जाति-प्रवण सिद्ध जो यवन राज्य अविवाद।
कहा जाय कितना ही कलुषित वाम और अति वंक,
पर अन्यत्र न जँचता शायद वह इतना सकलंक।
संशय है, जँचता कि न जँचता रावण घृण्य चरित्र,
खींचा जाता यदि न राम के सम्मुख उसका चित्र।
उस सुख-दुःख स्मृति से अब क्या यथा जले पर लौंन,
यवन-अभाग्य आ रहा है वह नैश तिमिर-सा मौन।
जो सन्ध्या औरंगजेब के अस्त समय सज साज,
यवन-लोक में आयी थी यह उसकी निशि है आज।
तम में यवनराज्य डूबेगा, रह जावेगी याद,
होंगे तत्समाधि-गृह दिल्ली और मुर्शिदाबाद!
न था जगत में यवनों का-सा वीर्य्य और ऐश्वर्य्य,
अस्तोदय पर्यन्त विदित था उनका विक्रमवर्य्य।
उसी विकट विक्रान्त जाति का सिंहासन सुविशाल,
गिरि-सम था विप्लव-समुद्र में अटल पाँच सौ साल।

कौन जानता था कि राज्य वह आज एक ही साथ,
गौड़-मन्त्रणा से गत होगा वणिग्गणों के हाथ!
अथवा कर्म्म-दोष से विधि जब हो जाता है वाम,
करता है तृण भी छाती पर कठिन कुलिश का काम।
जिस बलवती जाति ने आकर भारत में अनिवार्य्य,
किया पाँच सौ वर्ष पूर्व था राज्य-स्थापन-कार्य्य।
हैं क्या सारे कुल-कुठार ये उसी जाति से जात?
खो बैठे हैं जो कि आज वह राजमुकुट विख्यात।
सन्तत खड्ग खुला रख रण में रहती थी जो जाति,
थी सर्वत्र सदा ही जिसके शौर्य, वीर्य्य की ख्याति।
वही जाति बन रही हाय! अब विषय-वासना-वास,
झूल रही अबला-अंचल में करती हुई विलास।
कुछ दिन पीछे क्यों कि अटल हैं विधि के सभी विधान,
क्रीड़ा-पट पर दीख पड़ेंगे दुर्बिंध मुगल-पठान।
अथवा उन बेचारों पर क्यों करूँ व्यर्थ ही रोष?
दोष दैव का और अभागे भारत का है दोष।
होगा कोई राज्य चिरस्थिर यहाँ न ध्रुव-सा धीर,
है किस विष से व्याप्त न जानें इसका नीर समीर।
आता है जो विकट वीर भी यहाँ सतेज, दुरन्त,
वामा-मृदु बनता है करके वामा-स्पर्श तुरन्त।
नस नस में बहने लगती है प्रबल इन्द्रियासक्ति।
नारी बनते हैं नर, बनती भोग-लालसा शक्ति।
आर्य्य जाति के साथ यहाँ जो आया शौर्य-प्रवाह,
फला कौन-सा रत्न न अनुपम उसके भीतर आह!
कोहनूर वह एक मुकुट में ब्रिटिशराज्ञ, तुम जोड़—
गौरी के ललाट-लोचन की किया करोगी होड़।
देकर आर्य्य-हृदय-रत्नाकर यह भारत साह्लाद—
कितने कोटि कोहनूरों से पूजेगा तव पाद।
भारत में जिस समय हुई थी श्रुति-मन्त्रों की सृष्टि।
था मानो गर्भस्थ रोम तब खुली नहीं थी दृष्टि।
निज बल से जिस आर्य्य जाति ने फहराकर जयकेतु,
पृथुल पहाड़ काट कर बाँधा दुर्गम-सागर सेतु।
जिसके अस्त्रों से अनन्त में रोका गया दिनेश,

कम्पित रहा रसातल में भी वसुधा-वाहन शेष।
विश्व विदित जिसके बाणों ने नभ को भेद नितान्त,
चामीकर चम्पक समूह का हरण किया अश्रान्त।
जिसके पदाघात से गज भी हुए गगन में क्षिप्त,
तीनों लोक हुए हैं उज्ज्वल जिसके यश से लिप्त।
जिसने अपने अनुपम बल से जीता है संसार,
जिसका कीर्ति-कथामृत अब भी पीता है संसार।
अरे विधाता, उसी जाति ने किया कौन-सा पाप?
जिससे भोग रही वह अब यों अवनति मय अभिशाप!
जिस सिंहासन पर रावण-रिपु रामचन्द्र भगवान—
बैठा करते, बैठा करते कुरु-कुलपति श्रीमान।
रखते थे जिनके चरणों में मुकुट असंख्यक भूप,
कुरुक्षेत्र-विजयी विश्रुत वे दया-दान के रूप।
धर्म्मपुत्र श्रीमान युधिष्ठिर बैठा करते नित्य,
जिनकी गाथा से सु-गौरवित हुआ आर्य्य-साहित्य
उसी श्रेष्ठ सिंहासन पर, क्या कहूँ,—शरम की बात,
बैठा क्रीत दास यवनों का—मूर्तिमान उत्पात!
'युद्ध विना शूच्यग्र भू न मैं दूँगा किसी प्रकार'
जिसके विश्रुत पुरावृत्त में है यह व्यक्त विचार।
उसी जाति ने पानीपत में आत्मघात कर ओह!
पराधीन कर दिया देश को किया आत्मविद्रोह।
सत्रह यवन सवारों से ही डर कर घर से भाग,
सोने का वंगीय राज्य भी दिया उसीने त्याग!
देकर उस शूच्यग्र भूमि के बदले निस्संकोच,
विदेशियों को सारा भारत किया नहीं कुछ सोच!
यों परावलम्बी होकर वह सुख से हैं हा हन्त!
होगा कहाँ—दैव ही जानें—इस अवनति का अन्त?
पानीपत में अस्त हुआ जो भारत-भानु हताश,
समुदित हुआ न वह भारत में करके पुनः प्रकाश।
पूर्ण पाँच सौ वर्ष बाद उस नीलाचल पर, दूर,
दीख पड़ा उसका कटाक्ष कुछ आशा से भरपूर।
किन्तु पलासी में पाकर इस सित घन ने सुविकास,
अन्धकार मय किया अचानक भारत का आकाश।
करके इस मेघाडम्बर को वही प्रभाकर पार,

भारत में क्या कभी उदित अब होगा किसी प्रकार?
उदय-अस्त प्राकृतिक नियम हैं मानो नियति-निमेष;
किंवा कब तक रह सकती है घन की छाया शेष?
आज पलासी-रण-शोणित में करके जिसे निमग्न,
नहीं कहेंगे, नहीं सुनेंगे भारत वासी भग्न।
भूल जायँगे एक वार ही वे चिर दिन के अर्थ,
अये कल्पने, उस आशा को कहती है क्यों व्यर्थ?
रहे पलासी क्षेत्र, रहें वे आहत सैनिक लोग,
उनका तरल रुधिर लावेगा शीघ्र युगान्तर-योग।''
तत्क्षण बहा विदीर्ण वक्ष से रक्त-स्रोत अमन्द,
मोहनलाल न बोल सका फिर हुए विलोचन बन्द!

पंचम सर्ग
(आशा का अन्त)

घर घर उत्सव मचा हुआ है आज मुर्शिदाबाद में,
उछल रहा संगीत-सिन्धु-रस मग्न सभी आह्लाद में।
दीपों की माला पहने है सरस सुन्दरी यामिनी,
बनी राजधानी है नूतन पतिंबरा-सी कामिनी।
अधम मीरजाफर अफीम से झींम रहा है झूम कर,
झँपक लाल दृग झलक रहे हैं पलक जाल में घूम कर।
उसे पलासी-जेताओं ने, जिनका नहीं जवाब है,
वंग, विहार, उड़ीसा का अब माना नया नवाब है?
फैला कर यह मकड़-जाल वह धूर्त जालिया बेहया,
अमीचन्द हठशील, सेठ शठ, कपट-तीर्थ करने गया।
नेत्र द्वय हो रहे निमीलित, मुद्रा अति गम्भीर है,
पट्टवस्त्र परिधान किये हैं, कम्प विहीन शरीर है।
मुख-मयंक पर राहु कि घन की छाया मानो आ पड़ी,
कारागृह में रहने से है हुई मूँछ-दाढ़ी बड़ी।
उत्तरीय है पड़ा गले में और जानु पर हाथ है,
कर्म्म-भोग की नीरवगणना करन्यास के साथ है।
रह कर यों मुंगेर दुर्ग में सहकर मन ही मन व्यथा,
कृष्णनगरपति कृष्णचन्द्र नृप पूजा रत हैं सर्वथा!
क्यों पूजा का ढोंग किया है इस प्रकार नरराज ने?
उनके प्राण-दण्ड की आज्ञा भेजी यहाँ सिराज ने।
पूजा कर नृप-दण्ड सहेंगे काल दण्ड-सा वे अभी,
अभी? किन्तु क्या पूर्ण सहज में होगी यह पूजा कभी?
यह पूजा सामान्य नहीं है इस पर ही तो त्राण है,

जब तक पूजा करते हैं वे तब तक उनका प्राण है।
पूरा होता नहीं इसी से, कैसा गहरा ध्यान है!
नहीं इस समय मानो उनको बाहर का कुछ ज्ञान है!
दीर्घश्वास छोड़ते हैं बस, क्या अभाग्य, क्या दैन्य है!
वायु-शब्द से चौंक सोचते आया क्लाइव-सैन्य है।
अये कल्पने कहाँ? लौट आ पुनः मुर्शिदाबाद को,
कौन कहाँ जाता है तज कर यों उत्सव-अह्लाद को?
जाता है कौन अन्ध वन में है मंजु-कुंज को छोड़के?
उठती है आलोक-राशि वह देख, तिमिर को तोड़ के।
नीचे से उठकर ऊपर को द्युति-धारा-सी बह चली,
है दिग्दाह कि दावानल से जलती दूर वनस्थली?
उत्सव का कोलाहल सुनकर होता ऐसा भान है—
उठा दूर आमोद-विपिन में यथा एक तूफान है।
आज ब्रिटिश की विजय घोषणा जन जन करता जा रहा,
उसे पत्र-मर्मर, समीर-रव, गंगा-जल भी गा रहा!
शत-सहस्र-दृग-जल-रेखाएँ उसका चित्र बना रहीं,
कितनी मुदित मुखाकृतियाँ हैं उसका भाव जना रहीं!
और भारतादृष्ट-ग्रन्थ में अमिट अक्षरों से अहा!
देखो वह व्योमस्थ विधाता 'ब्रिटिश-विजय' है लिख रहा।
यत्र तत्र एकत्र पौर जन करते हैं आलोचना,
क्लाइव-शौर्य्य बखान रहे हैं सत्यशील, उन्नतमना,
कितनों के मत में क्लाइव की विजय मन्त्र-बल से हुई,
ऐसी बात कभी नर-बल से किंवा कौशल से हुई!
मूर्खों के कल्पना-स्रोत में उठता जब उच्छ्वास है,
यों ही वहाँ असम्भव सम्भव होता विना प्रयास है।
वर्षा में ज्यों शुष्क नदी भी होती ओतप्रोत है,
बहा रही उत्सव में त्यों यह नगरी मनुज स्रोत है।
अभिषेकोपलक्ष्य में सज्जित नव नवाब-प्रासाद है,
राग-रंग मय मोद मचा है; कल कोलाहल नाद है।
सभी देखते हैं, सुनते हैं, फैल रहा आलोक है,
दर्शक जन आते जाते हैं, नहीं किसी की रोक है।
सम्मुख सौरभ-पूर्ण सभा है, इन्द्र-सभा देखो यहीं,
किया विगत विप्लव ने उसका कुछ भी रूपान्तर नहीं।
वही स्तम्भ हैं, वहीं द्वार है, वही प्रकाश, वही मही,

वही राग है, वही रंग है, वही साज, सज्जा वही।
वही छत्र है, वही दण्ड है, है सिंहासन भी वही,
वही विलासमयी बालाएँ और सभ्य जन भी वही।
वही नृत्य है, वही गान है, जो कुछ है सो सब वही,
केवल एक सिराजुद्दौला नहीं हाय! क्या अब वही!
हुआ मीरजाफर का मानो सार्थक जीवन आज है,
उसके सम्मुख आज अवनि पर यवन-स्वर्ग का साज है!
बैठा है अहिफेन-मुग्ध वह निज प्रशंसकों से घिरा,
फुला रहे हैं चाटुकार जन हृदय सुना कर गुण-गिरा।
वृद्धवयस-वश श्लथ श्रवणों के विवरों में सुखदायिका,
ढाल रहीं संगीत-सुधा हैं कोकिलकण्ठी नायिका।
ताल ताल पर नाच रहा है वह विनोदिनी-व्रात यों—
सुन कोकिल-झंकार सलिल में नलिनी नाचे प्रात ज्यों।
ताम्बूलारुण अधरों पर है मधुर हास्य मोहक महा,
इसी हास्य ने हाय! अरे, ओ, मत्त मीरजाफर, यहाँ—
राज्य भ्रष्ट सिराजुद्दौला को था आनन्दित किया,
जिसके सिंहासन को तूने छल-बल से है हर लिया।
तुझको भी राज्यच्युत करके जो सिंहासन पायगा,
यही हास्य उसके आगे भी अपनी झलक दिखायगा!
नहीं मीरजाफर भूला है नृत्य, गान, मुसकान में,
भूल रहा है प्रशंसकों के तोषामोद-विधान में।
विषय पलासी-युद्ध, प्रशंसक बातें वही बना रहे,
कैसे बल, कौशल से उसने पाया राज्य, जना रहे।
सच होतीं यदि उनकी बातें तो इतिहासों में वहाँ—
नाम मीरजाफर का होता क्लाइव का अब है जहाँ।
मूर्ख यवन, इन प्रशंसकों की बातों में तू भूल कर,
आनन्दित हो ले न आज क्यों जितना चाहे फूल कर।
कल अँगरेजों के इंगित पर नचना होगा इस तरह—
नाच रहीं संगीत-ताल पर ये नर्तकियाँ जिस तरह!
भविष्यान्ध, तू नहीं जानता, भूला है किस भाव से?
तेरा भाग्य अधिक अस्थिर है भीम भँवर की नाव से।
गोरे वणिग्गणों के हाथों, नहीं जानता तू अभी,
होगा पण्य-पदार्थ वंग का सिंहासन-शासन सभी!
सुरभित हर्म्यान्तर में, जिसमें राज्य विभव भरपूर है।

बना ठना मीरन कुमार वह बैठा मद में चूर है।
पास एक तो सुरा दूसरे रमणी अधरामृत वहीं,
अनल सहायक प्रबल प्रभंजन कसर कोर कुछ भी नहीं।
पामर चाटुकार-गण सम्मुख बैठा हुआ विनोद से—
चित्र खींचता है भविष्य का, रँग कर स्वर्गामोद से।
सोच रहा है पापी मीरन-शासन जब वह पायगा—
तब विपक्षियों के निज कर से कितने शीश उड़ायगा!
इसी समय, नर-घातक-सा था जिसके माथे पर लिखा,
उपल हृदय, अघ-लोह-वर्म्म युत, आँखों में थी खर शिखा।
दुष्प्रवृत्तियों से विकृताकृति एक भृत्य पहुँचा विकट,
आभूतल मस्तक नत करके, हाथ जोड़ आया निकट।
बोला यों—''युवराज जाह्नवी-तिमिर-गर्भ-खनि में अभी,
पहुँचा दीं दुर्विध नवाब की वे रमणी-मणियाँ सभी।
कैसा हृदय-द्रावक क्रन्दन हाय! उन्होंने था किया,''
बोल सका वह फिर न, किसी ने मानो गला दबा दिया।
नीरव जड़-सा खड़ा रहा वह कुछ क्षण तक सिर नत किये,
बोला फिर—''युवराज, हाय! इस निज दग्धोदर के लिए—
कितने अघ कितनी हत्याएँ की हैं पर अब बस यहीं,
हा हा कर कभी जीवन भर भूलूँगा वह मैं नहीं—
जो मुमूर्षु उन अबलाओं के कण्ठों से निर्गत हुआ,
गंगाजल को भेद तिमिर में जिसने नभ को था छुआ।
नियति-वचन-सा सुना गया तब यह उस हाहाकार में—
'विना दोष हम अबलाओं को डुबा दिया मँझधार में।'
विना मेघ के वज्रपात से मीरन मारा जायगा,
अधम मीरजाफर भी सत्वर पूरा प्रतिफल पायगा।''
सुन पापी नारीहन्ता की बातें ये निर्मम निरी,
मीरन के तन में पैरों से सिर तक बिजली-सी फिरी।
अचल भाव से दृष्टि लगाकर कुछ क्षण तक प्राचीर में,
कम्प हुआ फिर सहसा उसके मद से विवश शरीर में।
बिला गया सारा विनोद वह महातंक-सा आ अड़ा,
इसी समय में अँगरेजों का हिप हिप हुर्रे सुन पड़ा।
अँगरेजों की शिविर-श्रेणी है अदूर, उद्यान में,
जलते हैं तम में प्रदीप ज्यों तारे व्योम-वितान में।
शत शत रत्नों ने सूना कर वंग-राज्य-भण्डार को—

बढ़ा दिया है अँगरेजों के सुख, विहार, व्यापार को।
मोद-सिन्धु में हृदय मग्न है, साज-बाज सब आ जुटा,
हा! कै वार विजेताओं से यों ही भारत है लुटा।
हा! माँ भारत-भूमि, दैव ने तुम्हें स्वर्ण-सू क्यों किया?
क्यों मधुमय मधुचक्र रूप में मरण मक्खियों को दिया?
कौन मारता उनको रखतीं यदि मधु-सुधा न वे सदा,
होती स्वर्ण-प्रसू न यदि तुम तो क्यों लुटतीं सर्वदा?
यदि होती अफरीका की मरुभूमि कि स्विस पाषाण तुम,
तो उत्पीड़न से तो मातः, पातीं जग में त्राण तुम।
पुत्र तुम्हारे हीन न होते यों अवला-सुकुमार तव,
उन सबकी नस नस में होता उष्ण रुधिर संचार तब।
सबल, सजीव पुरुष-सिंहों से होती तुम परिपूर्ण माँ,
जागरूक होता दिगन्त में तेज तुम्हारा तूर्ण माँ,
वंग देश का भाग्य आज दिन होता अन्य प्रकार का,
अये कल्पने, काम नहीं उस आशा के विस्तार का।
ब्रिटिश-शिविर तेरे सम्मुख है, चल हे चपले, तू वहाँ—
बैठे हैं वे युवक मेज को घेर कुरसियों पर जहाँ।
आया जो बल-वीर्य्य जीत कर प्रवल पलासी-युद्ध है,
हार सुरा के हाथों सम्प्रति हुआ वही अवरुद्ध है।
भग्न काँच के गिलास सुरा की शून्य बोतलें हैं पड़ीं।
छाया है मद-मोद, हुईं सब चिन्ताएँ हट कर खड़ीं।
कोई पृथ्वी पर गिरता है, तन-मन की कुछ सुध नहीं,
कोई तन त्रिभंग कर उठता पर गिर पड़ता है वहीं।
गिलास शून्य या अर्द्ध शून्य हैं रक्खे हुए कतार से,
पूर्ण किये जाते हैं फिर वे बोतल की कलधार से।
देख एक को एक परस्पर मदिरारुण कृश दृष्टि से,
चूम एक को एक परस्पर प्रणय सम्मिलन सृष्टि से।
उठे शून्य-से इन्द्रजाल से सहसा सैनिक शूर वे,
गाने लगे सुरा से विजड़ित स्वर भर कर भरपूर वे—

गान

मिलकर आज परम सुख के दिन गाओ, सभी ब्रिटन की जय,
वह है वीरप्रसू, जगत में अति अजेय हैं ब्रिटिश-तनय।
ब्रिटिश-कीर्ति फैलाने को यह पात्र पूर्ण मधु पान करो,

और प्रेम पूर्वक मिल कर सब तीन वार यह गान करो—
हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे।
जलधि राज्य परिखा है जिसकी, नृपति श्रेष्ठ ब्रिटिश पति है,
महिमा महा द्वितीय जार्ज की, जल थल में अबाध गति है।
करे दीर्घ जीवी प्रभु उनको पियो यही इच्छा करके,
गाओ तीन वार मिलकर सब मन में महा मोद भर के,—
हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे।
किया पलासी-युद्ध-विजय है क्रीड़ा सहित, सिंह-बल से,
गाओ उनकी विजय जय-ध्वनि उठे गगन में भूतल से।
ढालो मधु ढालो, फिर ढालो, उनकी कुशल मनाओ सब,
आओ मिल कर पियो प्रेम से, तीन वार फिर गाओ सब—
हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे।
ढालो अब की वार याद कर हिम सम स्वच्छ वक्षवाली,
ब्रिटिश अनूढाएँ वर वदनी, जिनके होठों पर लाली,
उनके नयन विलास याद कर भरे गिलास खाली कर दो,
तीन वार उल्लास पूर्ण यह गान गगन भर में भर दो—
हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे।
नीरव निशि में वह हर्ष-ध्वनि गूँज उठी आकाश में,
गूँजी उपवन और पवन में, उपवनस्थ आवास में।
जगकर तरु-नीड़ों में खग-गण कल कल रव करने लगे,
समझ लुटेरों का कोलाहल जग गृहस्थ डरने लगे।
पहुँची सभामध्य मीरन के कानों में भी ध्वनि वही,
कारागृह में एक अंगना शोच मग्न थी हो रही।
तन्द्रा टूटी, चौंक पड़ी वह भय से यथा कुरंगिनी,
थी दुखिया सिराज की बेगम वही शिविर की संगिनी।
मुख पर शोक-मेघ की छाया हुई और भी गाढ़ थी,
रेखा-चिह्न कपोलों पर कर चुकी अश्रु-जल बाढ़ थी।
रही युगल लोचन कमलों में आभा वह न विलास की,
बिला गयी होठों की लाली बिजली वह मृदु हास की,
वे दृग युग, वह स्वर्ण वर्ण, वह वदन विभा का पात्र-सा
और सुन्दरी का सुगात्र वह है अब छाया मात्र-सा।
तैर देर तक शोच-तरंगों पर कोमलतर तनुलता,
भूतल पर अवसन्न पड़ी थी सुप्ता और न जाग्रता।
विजातीय गीत-ध्वनि सुन कर काँप उठी, उठ तीर ज्यों,

मानो अरि सर्वस्व लूटने आये, हुई अधीर यों।
समझ सिंह-गर्जन-सा उसको रह न सकी फिर वह खड़ी,
तत्क्षण छिन्न लता-सी ललना मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।
कुछ क्षण में चैतन्य लाभ कर वह यों लगी विचारने–
"निश्चय अरि आते हैं मेरे प्राणनाथ को मारने।
उन्हें सदा के लिए देख लूँ एक बार" कह कामिनी,
चली निकलने रुद्ध कक्ष से पागल-सी, ज्यों दामिनी।
तत्क्षण लगा कपाट भाल में, स्वर्ण मूर्ति-सी गिर पड़ी,
झर झर झरने लगी साथ ही लोहित शोणित की झड़ी।
उसके कारण आर्द्र हो गया यों आनन मण्डल अमल–
हुआ रक्तचन्दन से चर्चित मानो सोने का कमल।
हा अदृष्ट? मृदु शय्या पर भी होती थी जिसको व्यथा,
वह यों गच पर पड़ी हुई है, क्या कहिए विधि की कथा!
पिपीलिका-दंशन से जिसको शत किंकरियाँ घेर के–
करती थीं बहु विध परिचर्या विना तनिक भी देर के।
लोहे के प्रहार से भूपर पड़ी अकेली अब वही,
फुल्ल कमलिनी क्षत यों, रानी हाय! रंकिनी हो रही।
प्राण नहीं जाते हैं अथवा कैसे जावेंगे कहो?
होता नहीं दुःख का जीवन इतना कोमलतर अहो?
मरण दुःखियों को मिलता तो दुःख कौन फिर झेलता,
दुःखी जन जीते न यहाँ तो दुःख कहाँ फिर खेलता?
प्राण नहीं जाते हैं, वामा फिर उसाँस भर कर जगी,
ध्यान न था निज रक्तपात का, प्रिय चिन्ता ही थी लगी–
किस प्रकार उद्धार पा सके प्यारा प्राणाधार वह,
कैसे उर पर प्राप्त प्रेम का हो फिर पारावार वह।
'अरे विधाता!' निविड़ तिमिर में साध्वी निज कर जोड़ के,
रक्तविन्दुसह अश्रुवृष्टि से भीग धैर्य को छोड़ के।
ऊर्द्ध दृष्टि कर धीरे धीरे बोल उठी गद्गद हुई–
'अरे विधाता, दुखिया पर कुछ दया दिखा अब हद हुई।
सही नहीं जाती है अब यह पीड़ा अबला प्राण से,
माना प्रिय नृशंस हैं मेरे, क्रूर हृदय, पाषाण-से,
पर इतने पर भी दुखिया पर रत है वह उनका हिया,
वैसे ही दुखिया ने उनको आत्मसमर्पण है किया।
कोई ऐसा मन्त्र सुना दे तू दुखिया के कान में,

छूकर ये कारा-कपाट मैं खोलूँ जिससे आन में।
नीरव प्रातःकाल समय ज्यों कोमल कर विस्तार से
ऊषा असित कपाट खोलती पूर्व दिशा के द्वार से।
अथवा हृदय हीन जिस विधि ने निर्दयता के साथ में,
राज्य और सिंहासन देकर शत्रुजनों के हाथ में।
नरहन्ता के हाथ किया है बन्दी यों वंगेश को,
उसके आगे रोने से क्या मेटेगा वह क्लेश को?
मैं पतिगतचित्ता साध्वी हूँ कोई रोक न पायगा,
मेरे छूने से अवश्य ही द्वार आप खुल जायगा।
प्रिय के प्रेम पन्थ में क्या है गिरि, वन, सागर, ह्लादिनी?
यह तो केवल तुच्छ द्वार है" यों कह कर उन्मादिनी,
मृदुल करों से कठिन कपाटों में धक्के देने लगी,
यथा काटने चले चंचु से दृढ़ पिंजर वन की खगी।
रमणी के शोणित से कारा द्वार कलंकित तब हुआ,
गिरा कपाटों पर कितना जल जो आँखों से था चुआ।
"राज्य छीन कर भी रे पापी, मीरन, हुआ न तुष्ट तू,
अत्याचार हाय! अबला पर करता है यों दुष्ट तू,
मर जाऊँ मैं यहाँ भले ही तेरे अत्याचार से,
एक बूँद भी तूझे न दूँगी पति-रति-पारावार से।
रमणी का पशुत्व बल से जो नीच चाहता है प्रणय,
सलिल चाहता है पावक में और उपल में वह हृदय।"
रमणी-रोदन से न लोहमय द्वार द्रवित होकर खुला,
आश्रय हीन लता-सी भू पर बैठ गयी वह व्याकुला।
रुधिर स्रोत, शोक के कारण, श्रान्त, भ्रान्त-सी हो गयी!
बैठ न सकी लेट कर दुखिया शीघ्र सदा को सो गयी!
नीरव अवनी, निद्रित नगरी, अर्द्ध निशा आरब्ध थी,
शान्त हुई थी उत्सव-झंझा, प्रकृति परम निस्तब्ध थी!
पहरे वालों का पद-रव था, झिल्ली की झनकार थी,
दूर वायु-शंकित श्वानों की भों भों भरी पुकार थी।
कारा-वातायन में केवल कल समीर-संचार था,
और सभी नीरव थे मानो सन्न हुआ संसार था।
केवल नीरव निशा शिशिर मय आँसू थी वरसा रही,
रमणी-मरण शोक से नीरव भिगो रही थी वह मही।
कारागृह के कक्षान्तर में, जब कि भुवन भर सो रहा,

वातायन पर वक्ष टेक नत खड़ा कौन वह रो रहा?
सुना अभागे ने रमणी का करुणा पूर्ण विलाप है,
हृदय विदीर्ण हुआ पद पद पर उमड़ा दृग जल आप है।
पद पद पर क्रम क्रम से मानो घटती आयी आयु है,
अन्तिम पद पर हुई अन्त में लय-सी जीवन-वायु है।
प्रस्तर-प्रतिमा बना अभागा खड़ा निपट निस्पन्द है,
अनिश्वास नासा, अपलक दृग, क्या नाड़ी भी बन्द है?
झंझागति से पूर्वस्मृति ही खर धारा-सी आ रही,
घटित हुईं जो जो घटनाएँ सबको सम्मुख ला रही।
शैशव-सुख, कैशोर-रंग-रस, राज्य लाभ, अन्याय वह,
प्रजा-क्षोभ, रण हार, पलायन, पकड़ा जाना हाय! वह।
बन्दी बनना, प्रिय पत्नी का आना कारागार में,
एक एक कर सारी बातें आने लगीं विचार में।
अन्तिम चिन्ता—दावानल में आँधी का आना यथा,
सिर घूमा, गिर पड़ा अभागा, सह न सका भारी व्यथा।
कहाँ कुसुम-कोमल शय्या वह, कहाँ शिला की सेज यह?
चिन्ता-कुज्झटिका से आवृत हुआ निपट निस्तेज वह।
कुज्झटिका मय उसी तिमिर में मानस नयनों से अहा?
देखा दुर्विध ने कि भयानक ज्वाल-जलधि लहरा रहा।
गर्ज रहा है वह घन-रव से भँवर भरा निस्सीम है,
उछल रहा दिग्व्यापी जिस में वह्नि-वीचि-दल भीम है।
अगणित मनुज पड़े जलते हैं उस नीलानल-जाल में,
नहीं अवधि गणना है कोई जिनकी तीनों काल में।
देह-मांस हटता सटता है तप्त तरंगाघात से,
चिल्लाते हैं दग्ध देह जन उस भीषण पविपात से।
सुन वह हाहाकार देख वह दुरित दृश्य वह ज्वाल यों,
काँप न उठते बेचारे के सिर तक के भी बाल क्यों?
दुर्विध ने उस अनल-जलधि में गिरते देखा आपको,
कह सकता है कौन हाय! उस महा तीक्ष्णतर ताप को।
करते हैं खरदंशन कितने कीट हड्डियों में घुसे,
सभी ओर से ग्रसा गरज कर नीलानल ने है उसे।
कैसे तरे, भुजाएँ दोनों पावक ने हैं नष्ट कीं,
डूब उठा वह शिथिल शिला सम परिसीमा है कष्ट की,
अकस्मात चिल्लाकर हत विधि हुआ काँप कर उठ खड़ा,

किन्तु देख असिधर यम सम्मुख फिर चिल्ला कर गिर पड़ा!
यही सिराजुद्दौला है क्या, वह नवाब है क्या यही?
सुन कर जिसका नाम वंग में थर्रा उठती थी मही!
जिसका ऐसा उग्र तेज था पड़ा यही क्या है यहाँ?
कहाँ सिराजं, तुम्हारा वैभव? सिंहासन, परिजन कहाँ?
राजदण्ड, महिषी-मण्डल वह कहाँ, कहाँ वह साज है?
नीर तुम्हारे नयनों से क्यों बहता अविरल आज है?
यह मुहम्मदी बेग तुम्हारा अनुचर जो विख्यात है,
इसके पैरों पड़ते हो तुम कहो, कौन-सी बात है;
दो दिन पहले जिस अनुचर की ओर देखना भी न था,
आज उसी से जीवन भिक्षा! क्या कहिए विधि की कथा!
शत शत नर जिसके पैरों में रोते थे आकृष्ट हो,
अनुचर-चरणों में रोता है वही, धन्य दुरदृष्ट को।
सीखी न थी, न दी थी जिसने क्षमा किसी को भूल से,
माँग रहा है आज उसे ही वह अपने प्रतिकूल से!
क्या ही विस्मय पूर्ण विलक्षण विधि का अटल विधान है,
जिसका जैसा दान जगत में वैसा ही प्रतिदान है,
अत्याचारी युवक अभागे, तेरी विनती व्यर्थ है,
विधि विपरीत कार्य्य करने में होता कौन समर्थ है?
पैरों पड़ या हाथ जोड़ तू, यह बस निष्फल जायगा,
जैसा-कर्म्म बीज बोया है वैसा ही फल पायगा।
इन्द्रिय-सुख के लिए कौन-सा पाप न तू करता रहा?
कितने स्त्री पुरुषों का शोणित तेरे हाथों से बहा?
तू अपने को था औरों का भाग्य-विधाता मानता,
अपना भाग्य किन्तु ऐसा है, इसे तू न था जानता।
रे निष्ठुर, कृतघ्न, किंकर, हा! तू यह क्या करने चला,
कह, नवाब का वध करने को उद्यत है तू क्यों भला?
मरता है जो स्वयं मारने से उसको क्या? क्षान्त हो,
निज अनुतापों से मरता है मार न उसको शान्त हो।
ठहर, ठहर, यह पाप न कर तू, करता है कुविचार क्यों?
अरे, आप ही आप मरे के ऊपर असि-प्रहार क्यों?
शृंगच्युत हो शिलाखण्ड जो गिर कर नीचे आ रहा,
फिर उस पर प्रहार क्यों! वह तो आप लुढ़कता जा रहा।
पद-भ्रष्ट नक्षत्र तुल्य हत भाग्य पतित है सर्वथा,

उसे मारना वृथा, रहे वह गत गौरव का ध्वज यथा।
खोकर निज सम्मान, राज्य, धन, सिंहासन संसार में,
अपना जीवन शेष अभागा काटे कारागार में।
निशा गभीर, गभीर प्रकृति है, विश्व चराचर शान्त है,
कृष्ण पक्ष का निविड़ नैश तम हुआ गभीर नितान्त है।
माँ वसुन्धरे, हिंस्र जन्तु भी निद्रित हैं इस रात में,
मनुज-पाप-लिप्सा लगती है हा! अब भी अपघात में।
वंग भूमि, क्या देख रही हो? जाओ अब पाताल तुम,
न लो, न लो, अपने माथे पर यह कलंक विकराल तुम।
क्या करता है, क्या करता है, रह रे किंकर क्रूर तू?
तोल तीक्ष्ण तलवार न सहसा, इसे फेंक दे दूर तू।
ठहर क्षमा कर, ठहर क्षमा कर, मान, न यों हठ ठान तू,
नरक घटित होगा यवनों का इस अघ से सच जान तू।
दुर्बल दीपक के प्रकाश में दमक उठी असि, जब गिरी—
भू पर गिरा सिराज-शीश कट और रुधिर धारा फिरी।
बुझा इसी क्षण घर का दीपक जो प्रकाश था सो गया,
भारत की अन्तिम आशा का अन्त अचानक हो गया।

वृत्र-संहार

श्रीराम

निवेदन

जिन दिनों अनुवादक बंगला के काव्यों के अनुवाद में प्रवृत्त था, उसने 'वृत्र-संहार' का अनुवाद करने की भी चेष्टा की थी। उसी भाव से, जिससे प्रेरित होकर स्वर्गीय हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय ने इसकी रचना की थी। एक दो सर्गों का अनुवाद हो भी गया था। किन्तु फिर काम रुक गया और रुका सो रुका। वे अनुवादित अंश भी कहाँ गये, पता नहीं। उस ओर ध्यान ही न रह गया।

समय बीतता गया और बात पुरानी हो गयी।

अब चालीस वर्ष के पश्चात् एक दिन 'वृत्र-संहार' दिखाई दिया तो उस समय का स्मरण आ गया और उस कार्य की अपूर्णता खल गयी। शारीरिक और मानसिक स्थिति अब वैसी अनुकूल न रह गयी थी। फिर मन ने कहा 'मेघनाद-वध' के समान 'वृत्र-संहार' का भी अनुवाद हो सकता तो बंगला के दोनों प्रसिद्ध महाकाव्यों का हिन्दीकरण हो जाता। क्यों न एक वार पुनः प्रयत्न किया जाय। पुस्तक उठा ली और आगा-पीछा सोचे विना कार्य आरम्भ कर दिया। मूल ग्रन्थ एक वार फिर पढ़ लेने की भी इच्छा न की। उसे पढ़े बहुत दिन हो गये थे। एक धुँधली-सी स्मृति ही उसकी मन में रह गयी थी। सोचा, पूरी पुस्तक पढ़ने पर उसकी गुरुता से मन पहले ही थककर हार न मान ले। एक ही सुविधा थी। इस प्रयास में दिन का काम समाप्त होने पर रात को निद्रा में व्याघात पड़ने की चिन्ता न थी, जिसके भय से अब किसी बड़ी-सी मौलिक रचना का साहस नहीं होता। रात को भी निद्रा न आना और सिर घूमते रहना भयानक स्थिति है।

जो हो, इस वार किसी प्रकार अनुवाद पूरा हो गया। इसका सन्तोष है। पाठकों को इससे कितना सन्तोष होगा, यह कैसे कहा जाय। 'मेघनाद-वध' के अनुवाद में उसकी टीकाओं से जो सुविधा थी, 'वृत्र-संहार' के अनुवाद में वह भी प्राप्त न हो सकी। इस कारण भी त्रुटियाँ तो होंगी ही। फिर भी आशा है, कवि के कृतित्व का परिचय पाठक पा ही जायँगे।

शब्दानुवाद करने की अपेक्षा मूल का आशय ही, ग्रहण करने की चेष्टा की गयी है। विस्तार से बचने के लिए। पाठकों के समय का भी मूल्य होता है। विशेष कर आजकल के समय में। 'पलाशिर युद्ध' के अनुवाद में भी विस्तार का सामना करना पड़ा था। वृत्र-संहार में भी ऐसा हुआ है। एक उदाहरण लीजिए।

दैत्यों के साथ जयन्त के युद्ध में यह तो ठीक है कि जैसे तिमि मत्स्य अपनी पूँछ के प्रहारों से समुद्र को हिलोड़ डालता है वैसे ही जयन्त ने अपनी तलवार से दैत्य-दल को दलित कर दिया। परन्तु इसके साथ यहाँ उपमान (तिमि) की उस बात के वर्णन की क्या आवश्यकता थी कि वह दूर-दूर का पानी खींचकर मुँह बन्द कर लेता है और सिर के रन्ध्रों से (फुहारे-सा) ऊपर की ओर फेंक देता है। 'उपमा एक देशस्य' के अनुसार भी यह आवश्यक नहीं। कालिदास ने 'रघुवंश' में कहा है–

ससत्वमादाय नदीमुखाम्भः
सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात्
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्धै
रूर्ध्वं-वितन्वन्ति जलप्रवाहान्।

परन्तु यह सीधा मत्स्य का ही वर्णन है। अतएव उपयुक्त है। सुन्दर है, इसका कहना ही क्या?

कवि के युद्ध-वर्णन बड़े प्रभविष्णु हैं। तथापि उनकी वार-वार आवृत्ति होने से उनमें द्विरुक्तियाँ भी आ गयी हैं। सर्वत्र वही शिंजिनी-क्रीड़ा, वे ही क्षिप्त तारक, वही भंग शैल-शृंग और वे ही समुद्र की तरंगें। ऊबकर अन्त में कुछ भिन्न रूप में कह दिया गया है। और भी दो-चार स्थलों पर ऐसा हो सकता है।

अनुवादक ने काट-छाँट ही नहीं की यदा-कदा आवश्यक अथवा प्रसंगानुकूल समझकर अपनी ओर से उसने कुछ जोड़ भी दिया है। ऐसी पंक्तियाँ थोड़ी ही हैं। वे सम्मानपूर्वक कवि को समर्पित हैं। इस चपलता का एक-आध स्पष्टीकरण कर देना उचित जान पड़ता है। आरम्भ में ही देखिए–

देव रसातल में कष्ट का जीवन जी रहे हैं। कवि वहाँ की दुःस्थिति का वर्णन करते हुए कहता है, पाताल की परिधि सौ-सौ योजन फैली हुई है। यह कहना क्यों आवश्यक हुआ? इससे न कि वहाँ दूर-दूर तक धुन्ध, धूम, और अँधेरा छाया है। परन्तु इससे यह भी प्रकट होता है कि और चाहे जो हो, उस पुरी में रहने की संकीर्णता नहीं है। अतएव यहाँ कोई ऐसी बात आवश्यक जान पड़ी कि इतने पर भी देवों को कोई सुविधा नहीं। इस कारण–

"शत शत योजन परिधि फैली उसकी"

इस पंक्ति के आगे एक पंक्ति जोड़ दी गयी है—

तो भी साँस रोधती है सिकुड़ी-सी शीत से!

इसी प्रकार नैमिषारण्य में नये सकट की आशंका से जब इन्द्राणी अपने पुत्र जयन्त का स्मरण करती है, तब चपला को ज्ञान पड़ता है; जयन्त के आने में विलम्ब हो रहा है। वह कहती है—

"देवराज्ञि, अब भी
आये क्यों कुमार नहीं, कोई बड़ी बाधा क्या
अटका रही है उन्हें?"

एक बाधा तो यह हो सकती है कि सचमुच जयन्त के सामने कोई ऐसी बात हो गयी है, जिसके कारण उसे पहुँचने में विलम्ब हुआ। दूसरी यह शंका हो सकती है कि शची की पुकार ही उस तक नहीं पहुँच पायी। परन्तु ये दोनों ही बातें नहीं हुईं। हुआ यही कि—

युग-सम जान पड़ते हैं पल ऐसे में।

इसीलिए आरम्भ में यह पंक्ति बढ़ा दी गयी।

लेखक का यह कार्य अनौचित्य की सीमा में न आ जाय, इसलिए ऐसी पंक्तियाँ कोष्ठक में रख दी गयी हैं कि साथ रहकर भी वे अलग रहें। यह पाठकों की इच्छा पर है, वे उन्हें स्वीकार करें अथवा त्याग दें।

काव्य का नाम 'वृत्र-संहार' शुद्ध तो है, किन्तु संहार का अर्थ नाश ही नहीं, संहति अथवा समूह भी होता है, जैसे 'ऋतु-संहार' और 'वेणी-संहार'। इसके स्थान पर 'वृत्र-वध' नाम हो सकता था। वह परम्परा के अनुसार भी होता। जैसे 'शिशुपाल-वध' और 'मेघनाद-वध'। महर्षि वाल्मीकि के आदि काव्य को भी 'पौलस्यवध' कहते सुना गया है। फिर भी कवि का दिया नाम परिवर्तित करना ठीक न लगा।

'मेघनाद-वध' के समान 'वृत्र-संहार' की भी बहुत-सी अनुकूल और प्रतिकूल आलोचनाएँ हुई हैं और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। दोष अथवा त्रुटियाँ कहाँ नहीं होतीं। परन्तु 'वृत्र-संहार' का अपना एक सन्देश है। दधीचि के आत्मबलिदान का कहना ही क्या, कवि की वाणी हमें निराश हुए बिना निरन्तर कर्म-निरत रहने की प्रेरणा देती है।

जान ऐसा पड़ता है कि महाकाव्य लिखते हुए भी कवि का मुख्य लक्ष्य देश-प्रेम और जातीय उद्‌बोधन ही रहा। परतन्त्रता का प्रतिकार ही उसे इष्ट था। अपना देश-काल वह कभी नहीं भूला। देश पराधीन था और काल कठिन।

1857 का विद्रोह दब गया था। परन्तु क्या वह समाप्त हो गया था? हमारे कवि और लेखक पराधीनता के विरुद्ध हमें निरन्तर उद्‌बुद्ध करते रहे। बंगाल में जिन्होंने यह कार्य किया, हेमचन्द्र उनमें अन्यतम हैं। वे प्रबल पुरुषार्थवादी हैं और उसके द्वारा भाग्य-लिपि भी परिवर्तित करना सम्भव समझते हैं।

सम्भवतः अपने जातीय उद्‌बोधन के कारण ही एक समय 'वृत्र-संहार' लोक-प्रियता में 'मेघनाद-वध' को भी पीछे छोड़ गया था।

वंकिम बाबू ने लिखा था—"मधुसूदन की भेरी नीरव हो गयी है। किन्तु हेमचन्द्र की वीणा अक्षय हो!"

विश्वनाथ शास्त्री ने कहा था—"बंगाली जो चाहते थे, हेमचन्द्र की प्रतिभा ने वही उन्हें दिया।"

अश्विनीकुमार चट्टोपाध्याय का कहना है—"जहाँ तक प्रति-कृत की रक्षा की बात है, हम 'मेघनाद-वध' को प्राथमिकता देंगे। परन्तु ग्रन्थ-रक्षा के समय 'वृत्र-संहार' ही अग्रस्थान का अधिकारी है।"

कालीप्रसन्न घोष के शब्दों में—" 'वृत्र-संहार' सब प्रकार से सर्वांग-सुन्दर महाकाव्य है। बंगला साहित्य में ऐसा महाकाव्य कभी नहीं प्रकट हुआ, भविष्य में भी प्रकट होने की विशेष आशा नहीं।"

भविष्य में तो गुरुदेव की गीति कविता की कंकण-किंकणी के आघात से महाकाव्य की कल्पना ही कण-कण होकर बिखर गयी!

कहते हैं, हेमचन्द्र में जाति-द्वेष की भावना प्रबल थी। ऐसा होता तो वे इन्दुबाला जैसी सरल, सुकुमार और उदार सृष्टि कैसे करते। रुद्रपीड़ का व्यक्तित्व भी सुसंस्कृत है। इससे उनकी उदारता ही प्रकट होती है, संकीर्णता नहीं।

हाँ, प्रतिशोध की भावना उनमें प्रबल थी। उसे तीव्र से तीव्रतम बनाने के लिए ही जान पड़ता है उन्होंने निकन्धर दैत्य के हाथों इन्द्राणी की दुर्दशा दिखाई है।

अन्त में अपनी जानी-अनजानी त्रुटियों के लिए क्षमा माँगकर अनुवादक अपनी और राष्ट्र भारती की ओर से हेमचन्द्र की आत्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है। उसके इस प्रयत्न से उनकी कीर्ति बंगाल के बाहर भी फैले, यही कामना है और इसीमें उसके श्रम की सार्थकता।

विजया दशमी
2019

कवि

हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय का जन्म 17 अपैल सन् 1838 में हुआ था। 1859 में उन्होंने बी.ए. पास किया। फिर बी.एल. होकर कुछ दिन वकालत करके वे मुंसिफ हो गये। थोड़े ही दिनों में उसे छोड़कर फिर वकालत करने लगे। इस वार उन्हें अच्छी सफलता मिली और वे सरकारी वकील बना दिये गये। परन्तु दुर्भाग्य से उनकी आँखों में विकार आ गया और उनकी ज्योति जाती रही। उनके कष्टों का अन्त काशी में उनकी मृत्यु के ही साथ हुआ। उनके अनुज डाक्टर पूर्णचन्द्र वन्द्योपाध्याय वहाँ के प्रसिद्ध डाक्टर और सम्मानित नागरिक थे।

छात्र जीवन से ही हेमचन्द्र साहित्य-साधना करने लगे थे। उन्होंने अनेक काव्यों की रचना की। परन्तु 'वृत्र-संहार' ही उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है।

कथा-वस्तु

प्रथम सर्ग

वृत्रासुर ने स्वर्ग पर अधिकार कर लिया है। सुर पराजित होकर पाताल में पड़े हैं। इन्द्र कुमेरु पर्वत पर नियति को प्रसन्न करने के लिए तपस्या कर रहा है। परन्तु देव अपनी स्थिति से अधीर होकर चुप नहीं बैठना चाहते। वे वृत्रासुर को भले ही न जीत सकें, उसे सुख से नहीं बैठने देना चाहते। भाग्य का फेर बताकर वरुण उन्हें रोकते हैं, पर इस निश्चय के आगे उनकी बात नहीं मानी जाती और सब युद्ध के लिए निकल पड़ते हैं।

द्वितीय सर्ग

वृत्रासुर स्वर्ग के सुख भोग में मग्न है। वसन्त के साथ स्वयं कामदेव सशरीर वहाँ उपस्थित है। रति फूलमाला गूँथकर वृत्र की गृहिणी को अर्पण करती है। मूर्तिमन्त छहों राग-रागिनियों के साथ दैत्य दम्पति की सेवा में निरत हैं। इतने पर भी दैत्य-वामा सन्तुष्ट नहीं है। वह कहती है, जब तक इन्द्राणी आकर उसकी सेवा में न रहे तब तक स्वर्गविजय व्यर्थ है। इसके लिए वह वृत्रासुर को प्रेरित करती है।

तृतीय सर्ग

वृत्रासुर सभा में आकर भीषण नामक एक दानव योद्धा को आज्ञा देता है कि वह इन्द्राणी को कौशल से नहीं हो तो बल से लाकर ऐन्द्रिला की सेवा में उपस्थित करे। किन्तु सुमित्र मन्त्री निवेदन करता है कि देवगण स्वर्ग के चारों ओर देखे गये हैं। उनके इस आक्रमण के समय भीषण जैसे भट को बाहर भेजना क्या उचित होगा? परन्तु अपने भाग्य का भरोसा दिलाकर वृत्र उसे चुप कर देता है।

चतुर्थ सर्ग

शची अपनी सखी चपला के साथ दुःख के दिन काटती हुई नैमिषारण्य में दिखाई पड़ती है। वह अपनी दुर्गति पर आक्षेप कर रही है। इतने में वहाँ कामदेव आकर

उसको आसन्न विपत्ति की सूचना देता है। शची यह सुनकर स्तब्ध हो जाती है। फिर जयन्त का स्मरण करती है।

पंचम सर्ग

माता के स्मरण पर जयन्त जब तक प्रस्तुत होकर पाताल से वहाँ आवे, तब तक चपला अधीर होकर इन्द्राणी को वैकुण्ठ, अथवा कैलास चलकर लक्ष्मी, किंवा भवानी के आश्रय में परित्राण पाने का परामर्श देती है। परन्तु मानिनी देव-महिषी इसे अस्वीकार कर देती है। तब तक जयन्त आ जाता है और माँ-बेटे का मिलन होता है। उसकी छाती पर शिव के दिये हुए वृत्र के त्रिशूल का चिह्न देखकर वह करुणा करती है और उसे फिर युद्ध के लिए बुलाने पर पछताती है। जयन्त उसे आश्वासन देता है।

इसी बीच भीषण दानव भी वहाँ आ पहुँचता है और जयन्त के हाथों मारा जाता है।

षष्ठ सर्ग

भीषण का निधन सुनकर वृत्र स्वयं ही नैमिषारण्य जाना चाहता है। परन्तु उसका पुत्र रुद्रपीड़ अपने रहते हुए उसका कष्ट करना अनुचित समझता है और सौ चुने हुए सैनिकों के साथ स्वयं प्रस्थान करता है।

देवों ने स्वर्ग पर घेरा डाल रक्खा था। रुद्रपीड़ के साथियों ने परामर्श दिया कि लड़कर मार्ग पाने में विलम्ब न करके इस समय कौशल से काम निकाल लिया जाय। जैसे छल-कौशल से भीषण के चर ने पुरी में प्रवेश किया था, वैसे ही बहाना बनाकर हम लोग निकल चलें। रुद्रपीड़ युद्ध के ही पक्ष में था, परन्तु उसने साथियों की बात मान ली। एक सैनिक श्वेत पताका लेकर देव सेना में भेजा गया। उसने कहा—ऐन्द्रिला के पिता का गन्धर्वों से झगड़ा हो गया है। यह समाचार लेकर वहाँ से दूत आया है और हम लोग उसी की सहायता के लिए जा रहे हैं। वस्तुतः यह दूत भीषण का ही चर था, जो इसी बहाने पुरी में प्रवेश पा सका था। देवों ने सोचा, इस समय जितने दानव स्वर्ग से बाहर चले जायँ, उतना ही अच्छा है। उन्होंने शत्रुओं को निकल जाने दिया।

सप्तम सर्ग

इन्द्र अपनी तपस्या के बीच हुए प्राकृतिक परिवर्तन देखकर आश्चर्य प्रकट करता है। अन्त में नियति उसके समक्ष प्रकट होती है। परन्तु विधि-विधान से अन्यथा कुछ करने में असमर्थता बताकर केवल वृत्र की मृत्यु का समय बता देती है और इन्द्र से शंकर के समीप जाने को कहती है।

इन्द्र स्वप्नदूत का स्मरण करके उसे बुलाता है और अब तक जो कुछ हुआ है उसकी सूचना देवों को देने का आदेश देकर कैलास की ओर प्रस्थित होता है।

अष्टम सर्ग

रुद्रपीड़ की प्रिया भोली-भाली इन्दुबाला अमरावती के एक सुन्दर कक्ष में दिखाई देती है। वह प्रिय के वियोग में अस्थिर हो रही है। रति उसे समझाती है, परन्तु पति की युद्ध-लालसा उसे अच्छी नहीं लगती। वह बड़ी ही सदय हृदया और उदाराशया है। शची के लिए भी उसे दुःख होता है और अपनी सास ऐन्द्रिला की मनोवृत्ति उसकी समझ में नहीं आती। उसे तो दूसरों के स्थान पर आक्रमण करना भी अनुचित लगता है। कहती है,—हम यहाँ आये ही क्यों। हमारा भी अपना देश है। वह चाहती है, दैत्य-राज ने बल से जिसका जो कुछ छीन लिया है, वह उसे लौटाकर वे अपने घर लौट चलें।

वह अधीरता से पति के लौटने की प्रतीक्षा करती है। रति उसकी प्रशंसा करती हुई कहती है—तुम दैत्यकुल में धन्य हो इन्द्राणी को विना देखें भी तुम्हें उनके लिए पीड़ा होती है। उन्हें देखतीं तो न जानें इतनी दुःखित न होतीं। वह कहती है,—देवराज्ञी को दासी बनाना कैसी बात है। मैं प्राणनाथ के चरण पकड़कर उन्हें ऐसा करने से रोकूँगी। अबला पर बल दिखलाने में क्या पौरुष है। रति, मुझे पृथ्वी पर ज़हाँ इन्द्राणी हैं, वहाँ ले चलो। रति कहती है,—यह कैसे हो सकता है। बाहर चारों ओर दैत्यों के वैरी देव छाये हुए हैं। उन्होंने आक्रमण कर दिया है। यह सुनकर वह सिहर उठती है और युद्ध की भीषणता मानो प्रत्यक्ष देखकर उसकी कुत्सा करने लगती है।

फिर लौटकर आने वाले पति के लिए फूल मालाएँ गूँथने की चेष्टा करती हुई उसी की चिन्ता करके बीच-बीच में चौंक उठती है।

नवम सर्ग

सौ वीरों के साथ रुद्रपीड़ नैमिषारण्य में पहुँचता है।

वहाँ जयन्त के साथ उसका युद्ध होता है। बहुत दैत्य मारे जाते हैं, परन्तु अन्त में उसके प्रहार से जयन्त मूर्च्छित हो जाता है। शची को देखकर रुद्रपीड़ के मन में आदर और करुणा उत्पन्न होती है। परन्तु पिता की आज्ञा उसे पूरी करनी थी। एक दैत्य शची को बालों के बल टाँग लेता है और उसे लेकर सब स्वर्ग लौट जाते हैं।

दशम सर्ग

इन्द्र ऊपर के और ऊपर से नीचे के अनेक दृश्य देखता हुआ कैलास पहुँचता है।

भगवान शंकर पार्वतीजी के साथ नाना कथा-वार्ता के आनन्द में मग्न हो रहे थे। वे अनेक गूढ़ विषयों की व्याख्या कर रहे थे। इन्द्र ने दोनों को प्रणाम किया। भवानी ने सदयता से इन्द्र से उसके आने का कारण पूछा। उसने अनुयोग के स्वर में कहा—"महादेवि, देवों की जो दुर्दशा वृत्र ने की है, वह क्या आप भूल गयी हैं। शिव के त्रिशूल के बल से दैत्य ने अमरावती पर अधिकार कर लिया है। देवगण विताड़ित होकर कष्ट और अपमान सह रहे हैं। शची वन में भटक रही है। देवियाँ न जानें किस रूप में कहाँ छिपी हैं। मैं नियति के निर्देश से आपकी शरण में आया हूँ।" भवानी यह सब सुनकर व्यथित हुईं और उन्होंने भगवान शंकर को उलहना दिया कि तुम आगा-पीछा किये विना चाहे जिसे जैसा वर दे देते हो। अब शीघ्र ही वृत्र के वध का उपाय करो। शिव ने इन्द्र को आश्वासन दिया। इसी समय इन्द्राणी की कातर पुकार से उनकी जटाएँ हिलने लगीं। भवानी ने कहा—दुष्ट दैत्य नैमिषारण्य से उन्हें हरकर लिये जाते हैं। सुनते ही इन्द्र हुंकार भरकर स्वर्ग की ओर झपटता है। महादेव उसे रोकते हैं।

इन्द्र क्षुब्ध होकर कहता है,—आपके ही कारण यह सब हो रहा है। आपको क्या यही अभीष्ट था?

इन्द्र को प्रबोध देते हुए दैत्यों के इस दुराचरण पर विरूपाक्ष क्रुद्ध हुए और भवानी को शंका हुई, कहीं प्रलय न हो जाय। उन्होंने उन्हें शान्त किया। शिव ने शान्त होकर इन्द्र से कहा,—ऋषि दधीचि की अस्थियों से बने वज्र के द्वारा वृत्र का वध होगा। तुम वदरिकाश्रम में उनके समीप जाकर उनसे यह बात कहो। उदारमना ऋषि देवकार्य के लिए तुरन्त अपना बलिदान करने को प्रस्तुत हो जायँगे। इन्द्र ने दोनों को प्रणाम करके दधीचि के आश्रम की ओर प्रस्थान किया।

एकादश सर्ग

देवों को हराकर दैत्य विजय का उत्सव मनाते हैं। रुद्रपीड़ के विजय गीत गाये जा रहे हैं। ऐन्द्रिला के नाट्य गृह में वृत्र विजयी रुद्रपीड़ का मुख देखकर हर्षित हो रहा है। ऐन्द्रिला उत्सुक होकर शचीहरण की बात सुनना चाहती है। रुद्रपीड़ उसे एक साधारण घटना बताकर यहाँ के विजय-समाचार सुनना चाहता है। उसे खेद है, इस युद्ध में वह उपस्थित न था।

ऐन्द्रिला ने शची के विषय में पूछा, वह कैसी है। अनेक बहानों से उसने शची की शोभा और गरिमा का वर्णन सुना। सुनकर उसका मुँह उतर गया। वह ईर्ष्या से जल उठी और बोली—जिसे देखो वही ऐसी-वैसी बातें सुनाता है। शची ऐसी है, वैसी है! मैं देखूँगी, वह मेरी सेवा में कैसी कुशलता दिखाती है। रुद्रपीड़ ने नम्र होकर कहा—जो दासी होने आई है, वह सब कुछ करेगी ही, माँ, तुम क्यों क्षुब्ध होकर अपना बड़प्पन घटाती हो। ऐन्द्रिला ने और भी क्षुब्ध होकर कहा—बच्चे,

तुम मेरी मनःस्थिति क्या जानो। आज मैं उससे महावर लगवाये बिना न रहूँगी।

सहसा शंकर के कोप चिह्न दिखाई देते हैं। ऐन्द्रिला का कंकण खिसक पड़ता है, रुद्रपीड़ को रोमांच हो आता है और वृत्रासुर के पलक झँप जाते हैं। वह बोल उठता है—यह रुद्र का रोषानल है।

द्वादश सर्ग

कवि इस सर्ग के प्रारम्भ में सरस्वती की वन्दना करता है।

फिर सुमेरु गिरि पर हाथ में शिव का दिया त्रिशूल लिये एकाकी वृत्र दिखाई देता है। वह चिन्तित है। सोचता है, क्या शची के हरण के कारण शिव ने कोप किया है? क्या उसके सौभाग्य की ज्योति बुझने जा रही है? उसने लम्बी साँस लेकर आकाश की ओर देखा और शिव के उद्देश्य से प्रणाम करके त्रिशूल की पूजा की। फिर वह वैजयन्तधाम की ओर लौटा। द्वार पर ऐन्द्रिला ने उसे आगे बढ़कर लिया। परन्तु वृत्र कुछ नहीं बोला। उसे चिन्तित देखकर चतुर दानवी भी चुपचाप उसे भीतर ले गयी। वहाँ आसनस्थ होकर दैत्यराज ने उसकी भर्त्सना की कि उसी के अनौचित्य के कारण शिव असन्तुष्ट हो गये हैं और अब कुशल नहीं। दानवी ने सँभलकर उसकी आशंका को व्यर्थ बताया। परन्तु उसने शिव के क्रोध से बचने के लिए शची को छोड़ना ही ठीक समझा।

रति को बुलाकर उसने शची को बुला लाने की आज्ञा दी। फिर वह बाहर निकला और कोट पर चढ़कर उसने रणक्षेत्र की ओर देखा। दैत्यों के असंख्य रुण्ड-मुण्ड पड़े देखकर वह विचलित हो उठा। उसने दाँत पीसकर इसका प्रतिशोध लेने का निश्चय किया। दूसरी ओर देव हारकर भी विरत नहीं हुए। कार्तिकेय के सेनापतित्व में फिर उनका कोलाहल सुनाई पड़ने लगा।

त्रयोदश सर्ग

अलकनन्दा नदी के तीर पर उतरकर इन्द्र प्राकृतिक दृश्य देखता हुआ दधीचि मुनि के आश्रम की ओर बढ़ता है। मार्ग में एक स्थान पर उसे अनेक देवसुन्दरियाँ दिखाई देती हैं। वे अनेक पशु-पक्षियों के रूपों में वहाँ छिपकर रहती थीं। इन्द्र को देखकर उन्होंने उसका स्वागत किया और अपने कष्टकर जीवन की ग्लानि प्रकट करके उससे पूछा, कब तक हमें इस यातना से मुक्ति मिलेगी। इन्द्र उनका समाधान करके आगे बढ़ता है। उस समय उषा का उदय हो रहा था। महर्षि के आश्रम में प्रातःकालीन उपासना आरम्भ हो रही थी। उसका स्वागत करके महामुनि ने उसके आगमन का कारण पूछा। इन्द्र संकोच-वश कुछ कह न सका। तब ध्यान से सब जानकर वे बहुत प्रसन्न हुए। ऐसे पुण्य कार्य में अपने शरीर का उपयोग देखकर उन्होंने सौभाग्य माना। और समाधि लगाकर शरीर त्याग दिया।

चतुर्दश सर्ग

मन्दाकिनी के किनारे एक प्रस्तर-निर्मित गृह में इन्द्राणी वन्दिनी थी। अपने ही घर में कारा-बद्ध होने पर उसकी मनो-वेदना का क्या कहना। चपला उसके साथ थी। उसने एक-एक स्थान की ओर संकेत करके पूर्व स्मृतियाँ दिलाकर उसका जी बहलाने की चेष्टा की। उसने भी अपने पूर्व वैभव की बातें कहीं। सखी ने उसे सान्त्वना दी।

इसके पूर्व रति उसे जयन्त के मूर्च्छा-भंग की बात बता गयी थी। शची ने वही बात फिर सुनने की इच्छा की और चपला से वही चर्चा करने को कहा।

इतने में रति फिर वहाँ आयी और उसने प्रणाम करके वृत्र की आज्ञा सुनाई। इन्द्राणी तो आज्ञा सुनाने वाली है, सुनने वाली नहीं। उसका स्वाभिमान जाग उठता है और जब तक उसके पति-पुत्र आकर उसे न छुड़ावें, तब तक वह वन्दिनी ही रहना चाहती है। उसने दैत्य की आज्ञा पर उसके समीप जाना अस्वीकार कर दिया।

पंचदश सर्ग

रुद्रपीड़ को सेनापति बनाकर वृत्र स्वर्ग के उत्तर द्वार पर गया। वहाँ प्रभंजन, वरुण और सूर्य ने भयानक युद्ध छेड़ दिया था। पूर्व के द्वार पर रुद्रपीड़ जा डटा। वहाँ अग्नि के साथ जयन्त था।

घोर युद्ध हो रहा था। कभी एक पक्ष आगे बढ़ता, कभी दूसरा। क्रम से देवदल परकोटा लाँघकर आगे बढ़ने लगा। अग्निदेव ने अपनी वाणी से उसे उत्साहित किया। रुद्रपीड़ ने बड़ा पराक्रम दिखाया। परन्तु वह अपने भंग-दल को न जोड़ सका। अनेक दैत्य योद्धा संग्राम में मारे गये। तो भी वृत्र के त्रिशूल के प्रहार से पराजित होकर देवों को फिर भागना पड़ा।

षोडश सर्ग

ऐन्द्रिला के आदेश पर नन्दन वन में कामदेव ने एक सुन्दर निकुंज सजाया। ऐन्द्रिला वहाँ आकर बहुत प्रसन्न हुई। उसकी अवज्ञा करके वृत्र ने इन्द्राणी को छोड़ने की आज्ञा दी थी, वह उसका प्रतिशोध लेना चाहती थी। इतने में रति वहाँ आयी। दानवी ने उससे पूछा—रति, इन्द्राणी कहाँ है? रति ने कहाँ—दैत्येश्वरि, आप स्वयं जानती हैं, देवराज्ञी बड़ी स्वाभिमानिनी हैं। उन्होंने दैत्यराज के द्वारा मुक्ति लेना अस्वीकार कर दिया है। ऐन्द्रिला सुनकर प्रसन्न हो गयी। उसने एक वार स्वयं शची को देखना चाहा। रति से कहाँ—रति, आज तुम जितना सजा सको, उतना मुझे सजा दो। जो कुछ जहाँ हो उसे ले आओ। अपनी कोई प्रसाधन-कुशलता शेष न रक्खो। प्रियतम युद्ध से थके यहाँ आ रहे हैं। आज मैं उन्हें आनन्द में निमग्न

कर देना चाहती हूँ। रति ने आज्ञा का पालन किया और एक प्रतिमा की भाँति उसे सजा दिया। उसने अपनी दानवी सैनिकाओं को भी बुलाकर एक ओर खड़ा कर दिया। कामदेव के कार्य की प्रशंसा करके उससे कहा—जब दैत्यराज युद्ध से लौटकर आवें तब तुम उन्हें यहाँ ले आना।

काम ने उसे बताया, दैत्यराज विजयी होकर लौट आये हैं। परन्तु वे सुखी नहीं हैं। दैत्य-सेना निरन्तर छीजती जा रही है। वे सोचते हैं, ऐसा ही होता रहा तो मैं किसके साथ स्वर्ग का राज्य भोगूँगा।

दैत्यराज के आने पर ऐन्द्रिला ने उसे आगे बढ़कर लिया। वृत्र उसे देखकर सब कुछ भूल गया। उसने कहा—आज तुम्हारी क्या अपूर्व शोभा है! दैत्य महिषी ने उत्तर में कहा—प्रियतम, तुम्हें पुनर्नवता देने के लिए ही यह सारी सज्जा है। वह उसे कुंज में ले गयी।

वहाँ विश्राम लेकर फिर दोनों घूमने निकले। दैत्य ने चेटियों की चमू देखकर कहा—आज तुम्हारे क्या-क्या ठाठ हैं! उसने कहा—प्राणनाथ, अन्ततः इन सबको मैं कहाँ रक्खूँ? ये सब घर-वार किसके हैं—शची रानी के। उसका कहना है, भुवनेश्वरी मैं हूँ। दैत्य सब तस्कर हैं।

सुनकर वृत्रासुर आपे में न रहा। उसने पूछा—रति कहाँ है? काँपती हुई रति सामने आयी और उसने कहा—इन्द्राणी छूटना नहीं चाहतीं। यह सुनते ही वह दाँत पीसकर झपटा। उसी समय ऐन्द्रिला ने मदन का चाप छीनकर और घुटनों के बल बैठकर पुष्पबाण छोड़ा। वृत्रासुर सिहर उठा। उसने जो लौटकर देखा तो ऐन्द्रिला हँसती हुई दिखाई पड़ी। बोली—प्राणेश्वर, एक वन्दिनी के पास तुम्हारा जाना क्या उचित है। वृत्र ने इसके उत्तर में उससे कहा—तब मैं इन्द्राणी को तुम्हारे हाथ छोड़ता हूँ। उसके लिए तुम जो उचित समझे सो करो।

सप्तदश सर्ग

वृत्र की सभा में मन्त्रिजन और सेनापति उपस्थित हैं। प्रधानामात्य सुमित्र ने निवेदन किया—देवों का साहस बढ़ रहा है। दैत्य वीर एक-एक करके मर रहे हैं। ऐसा होने से कैसे चलेगा। वृत्र ने कहा—मन्त्रिवर, तुम ठीक कहते हो। परन्तु स्वर्ग छोड़कर मैं कहाँ जाऊँगा। इसी के लिए मैंने इतना कठिन तप किया है। प्राणों के पण के बिना कौन राज्य भोग करता है। जब तक एक वीर भी शेष रहेगा मैं जूझता रहूँगा।

इतने में समर-सज्जा से सज्जित रुद्रपीड़ आता है। गत युद्ध के लिए लज्जा प्रकट कर उसने पुनः युद्ध की आज्ञा माँगी और विश्वास दिलाया कि इस वार मैं देवों को पराजित किये बिना न रहूँगा। वृत्र ने उसे छाती से लगा लिया और कहा—इस वार इन्द्र स्वयं युद्ध में आ रहा है। मेरे विना उसे और कोई नहीं जीत सकता।

फिर भी तू वीर पुत्र है। मैं तुझे कैसे रोकूँ। उसने भरे हृदय से पुत्र को आशीर्वाद दिया और वह माता से विदा लेने गया।

ऐन्द्रिला उस समय चेटियों को साथ लेकर शची को बाँधने जा रही थी। उसने कहा—माता, सम्भव है, फिर मैं तुम्हारे चरण न छू सकूँ। इन्दुबाला का भार तुम्हें सौंपता हूँ। उस कोमलहृदया को तुम देखना। यह कहते-कहते उसका गला भर आया। ऐन्द्रिला ने कहा—बेटा, तू ऐसी बात क्यों कहता है। जब तक शिव का त्रिशूल हमारे पास है, तब तक चिन्ता की क्या बात है।

माँ से विदा होकर रुद्रपीड़ इन्दुबाला के पास जाता है।

इन्दुबाला कल्पवृक्ष के नीचे स्फटिक शिला पर बैठी सखियों से युद्ध के समाचार सुनकर आँसू बहा रही थी। घर-घर से दैत्यनारियों का क्रन्दन सुनकर उसकी छाती फटी जा रही थी। उसकी समझ में नहीं आता था, देव और दानवों के इस युद्ध से क्या लाभ है। उसने कहा—हाय! क्या यह सृष्टि द्वन्द्वमयी ही है। क्या प्राणिमात्र कपटी, कुटिल और क्रूर ही हैं। किन्तु मेरे प्रिय तो ऐसे नहीं हैं। फिर यह मार-काट क्यों! मैं अब उन्हें इसके लिए नहीं जाने दूँगी।

इतने में रुद्रपीड़ उससे विदा लेने के लिए आ पहुँचा। वह इस निर्मम व्यापार से उसे रोकती है। परन्तु वह कैसे रुकता। अन्त में विलाप करती हुई वह मूर्च्छित हो जाती है। सखियाँ उसकी सँभाल करती हैं। उसका मुख और ललाट चूमकर उदास होता हुआ रुद्रपीड़ चला जाता है।

सचेत होने पर इन्दुबाला पति के कल्याण के लिए शिव की पूजा करती है। परन्तु ज्यों ही वह जल चढ़ाने के लिए घट लेती है, हाथ काँपने से वह मूर्ति पर गिरकर खण्ड-खण्ड हो जाता है।

वह फिर मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है। रति उपचार करके उसे सचेत करती है। और जैसे-तैसे सान्त्वना देती है।

अष्टादश सर्ग

मन्दाकिनी तीर वाले मन्दिर के अलिन्द में शची बैठी है। उसके चरणों के समीप इन्दुबाला है। चपला के साथ रति भी वहाँ उपस्थित है।

सरला इन्दुबाला बच्चों की भाँति शची के मुख की ओर देख रही है और देवराज्ञी नाना कथाएँ कहकर उसका जी बहला रही हैं। अन्त में कहती हैं—बहू, मैं तुम्हें कुछ दे सकने की स्थिति में नहीं हूँ। यह दुःख मुझे साल रहा है। इन्दुबाला कहती है—मैं तो सदा तुम्हारे चरणों में बैठकर तुम्हारी मीठी वाणी सुनना चाहती हूँ। मेरे पति युद्ध में गये हैं। ऐसे समय भी तुम्हारे निकट ही मैं शान्ति पा सकती हूँ। अतः तुमसे यही माँगती हूँ कि तुम मेरे घर चल कर रहो।

इतने में चौंककर रति कहती है—अरे, देखो बाघिन-सी वह ऐन्द्रिला आ रही

है। वह आज हममें से किसी को जीता नहीं छोड़ेगी। इन्दुबाला कहती है—मैंने क्या किया है जो वे मुझे मारेंगी। इन्द्राणी ने कहा—इन्द्राणी क्या आज अपने आश्रितों की रक्षा नहीं कर सकती? चपले, तुम अभी अग्निदेव के पास जाओ और कहो, यहाँ आकर वे दैत्यबाला की रक्षा करें। इन्दुबाले, तुम तनिक भी न डरो।

शस्त्रधारिणी कराल चेटियों के साथ ऐन्द्रिला ने आकर शची की ओर देखा। वह क्षण भर स्तब्ध रह गयी। फिर सँभलकर इन्दुबाला की ओर देख क्रोध से बोली—अरी कुल-कलंकिनी, तू मेरी वैरिन के चरणों में बैठी है। पुत्र के अनुरोध से मैं तुझे स्वयं नहीं मारूँगी। चेटियों के हाथों तेरा वध कराऊँगी। उसने इन्द्राणी पर भी कटाक्ष किया और उसकी छाती को लक्ष्य करके पैर उठाया। इतने में चपला के साथ अग्निदेव आ गये। उनके पीछे जयन्त भी था। शची ने कहा—देखो, दानवी से इस बच्ची को बचाओ। इसी क्षण एक चेटी का खंग छीनकर ऐन्द्रिला शची के लटकते हुए पैरों पर प्रहार करने चली। जयन्त और अनल क्रोध में भर गये। परन्तु स्त्री पर हाथ कैसे उठाते। तत्क्षण ही शिव का गण वीरभद्र वहाँ प्रकट हुआ। उसने अग्नि और जयन्त को शिव की आज्ञा सुनाकर उन दोनों को विदा किया और शची को साथ लेकर वह स्वयं प्रस्थित हुआ। शची माता की भाँति इन्दुबाला को भुजों में बाँधकर ले चली। जाते-जाते वीरभद्र ने ऐन्द्रिला से कहा—जब तक वृत्र का वध नहीं होता, तब तक इन्द्राणी सुमेरु पर रहेंगी। तू यह भी जान रख, अब उसके वध में विलम्ब नहीं।

ऐन्द्रिला स्तम्भित-सी खड़ी रह गयी।

ऊनविंश सर्ग

विश्वकर्मा की शिल्पशाला में जाकर इन्द्र उससे वज्र का निर्माण कराता है। यह शिल्पशाला आजकल की कोई फैक्टरी ही समझिए।

विंश सर्ग

देव और दैत्य मतवाले-से होकर जूझ रहे हैं। सुमेरु के शिखर से इन्द्राणी चपला सखी को वह भयंकर युद्ध दिखाती है। बीच-बीच में वह दैत्य वीरों के नाम पूछती जाती है। इन्दुबाला पूछती है—देवि, तुम इतनी दूर से कैसे देखती हो। मुझे तो कुछ नहीं दिखाई देता। केवल भयंकर शब्द ही सुन पड़ते हैं। परन्तु देवि-दृष्टि तो उसे प्राप्त नहीं। वह कैसे देखे।

रुद्रपीड़ ने उस दिन ऐसा युद्ध किया कि कोई भी देव उससे पार न पा सका। उसने सबको हरा दिया। एकादश रुद्र, अग्नि, वायु, वरुण और कार्तिकेय सबको मुँह की खानी पड़ी। उसके सम्मुख जयन्त को जाते देखकर इन्द्राणी घबरा उठी। उसने चपला के द्वारा उसे आज्ञा दी कि वह रण से विरत हो जाय। विवश होकर

उसे माता की आज्ञा माननी पड़ी। रुद्रपीड़ ने सिंहनाद किया और दैत्यों ने उसका जयजयकार। किन्तु इन्दुबाला की स्थिति दयनीय थी। उससे इन्द्राणी ने कहा—दैत्यबधू, पति की विजय पर भी तुम क्यों प्रसन्न नहीं होती हो। मेरा पुत्र ऐसा पराक्रम दिखाता तो मैं फूली नहीं समाती। आँसू बहाती हुई इन्दुबाला बोली—मैं अपने पति का प्रभाव नहीं चाहती। उनका अहित न हो, यही मनाती हूँ। शची ने उसे धीरज दिया कि इन्द्र यहाँ नहीं हैं। उनके बिना तुम्हारे पति को कोई नहीं मार सकता। तुम निश्चिन्त रहो।

इधर देवों ने कहा—अब तो यही ठीक है कि अग्नि, वायु और सूर्य आदि सब अपने प्रकृत रूप में प्रकट होकर दैत्यों का संहार करें। वरुण का कहना था—तब तो प्रलय हो जायगा, ऐसा करना उचित नहीं।

इसी समय भयंकर शब्द होने लगा और इन्द्र वहाँ आ पहुँचा। उसे देखकर इन्द्राणी के नयन और मन जुड़ा गये।

एकविंश सर्ग

इन्द्राणी के प्रति ऐन्द्रिला का दुर्व्यवहार देखकर कैलास पर भवानी ने दुःखित होकर जया सखी से कहा—हाय! प्राणी पर-पीड़क क्यों होते हैं। वे दूसरों के दुःख का अनुभव क्यों नहीं करते। यदि मैं वृत्र का वध करूँ तो इससे इन्द्र का अगौरव ही होगा। क्षण भर चिन्ता करके वे आकाश मार्ग से ब्रह्मलोक की ओर चल पड़ीं। वहाँ ब्रह्मा की अद्भुत सृष्टि का चमत्कार देखती हुईं उनके पास पहुँचीं और वृत्र के विनाश की विधि बताने के लिए उन्होंने उनसे कहा। ब्रह्मा विचार करके उन्हें वैकुण्ठ ले गये। वहाँ से विष्णु भगवान को साथ लेकर सब शिव के समीप कैलास पर आये। भगवान शंकर ध्यान में डूबे विश्व-ब्रह्माण्ड के विविध कौतुक देख रहे थे।

हरि ने उन्हें स्वर्ग की घटनाएँ बताईं। सुनकर उन्हें खेद हुआ और उन्होंने ब्रह्मा से कहा—कात्यायनी की कामना पूरी करो। अब वृत्रासुर का जीना ठीक नहीं। मेरे वर के कारण ही उसे ऐसी स्पर्द्धा हुई है। परन्तु क्या भक्त के अधीन अकेला मैं ही हूँ, तुम नहीं। फिर भी उसे अब कौन बचायगा। वज्र बन गया है, जिसके हम तीनों ने अपना तेज प्रदान किया है। यों वह अपने दोष से आप ही मर रहा है। ब्रह्मा से मन्त्रणा कर विष्णु भगवान ने उनसे कहा—आप ठीक कहते हैं, फिर भी उमा के अनुरोध से हम वृत्रासुर की भाग्यलिपि मेटने को सहमत हुए हैं। यह कहकर वे ब्रह्मा के साथ अन्तर्धान हो गये। उन्हीं के साथ शंकर भी। फिर तीनों गुणों के साथ परब्रह्म रूप में प्रकट हुए। कठोर आकाशवाणी हुई—

'खण्डित है भाग्य-लिपि वृत्र की अकाल में।'

इधर वैकुण्ठ धाम के निकट एक प्रान्त में कौतुकी भाग्यदेव चिन्ताकुल होकर प्राक्तन की लम्बी लिपि देख रहे थे। उसमें विजय, पराजय, निर्माण, नाश आदि की लीलाएँ हो रही थीं। हर्ष और क्रन्दन गूँज रहे थे। उन्होंने वृत्र का चित्र भी देखा। उसका रूप कालिमा में धुला जा रहा था।

द्वाविंश सर्ग

वृत्र के पार्श्व में ऐन्द्रिला भरी बैठी है। वृत्र ने पूछा—बात क्या है। आज पुत्र ने इतनी बड़ी विजय पाई है, फिर भी तुम उदास हो। यह तो रुद्रपीड़ के लिए अकल्याण की बात है। तुम चाहती क्या हो? छद्म-रूपिणी ऐन्द्रिला ने कहा—मेरे भाग्य में दुःख ही दुःख है। ऐसे समय भी मैं अपना रोना लेकर तुम्हारे पास आयी हूँ। वह उठ खड़ी हुई। वृत्र ने जैसे-तैसे उसे बिठाया। तब मधुर कपट से उसने कहा—तुम रण-रंग की विधि जानते हो, पर रमणी का भाव क्या समझोगे। जब पुत्र रुद्रपीड़ आकर मेरी गोद में बैठेगा और पूछेगा—मेरी इन्दुबाला कहाँ है, जिसे मैं तुम्हें सौंप गया था, तब मैं उससे क्या कहूँगी। वृत्र घबरा गया—हाय! ऐन्द्रिले, तुम यह क्या कहती हो। क्या मेरी इन्दुबाला अब नहीं है? कपट-कष्ट से ऐन्द्रिला ने कहा—हाय! तुम ऐसी अशुभ बात क्यों कहते हो। दुष्टा इन्द्राणी उसे भुलाकर ले गयी है। अमर भी जो न कर सके उस न-मरी ने कर दिखाया। चलो, मैं तुम्हें स्वयं दिखा दूँ।

वृत्र के नासा-पुट काँप उठे और उसकी त्यौरियाँ चढ़ गयीं। ऐन्द्रिला उसे परकोटे पर ले गयी। सम्मुख देव-दैत्यों की सेनाएँ फैली थीं। सुमेरु के शिखर पर इन्द्राणी बैठी थी और उसके पास म्लानमुखी इन्दुबाला। वृत्र साँप के समान गरज उठा। वह ज्यों ही छलाँग मारने को हुआ, त्यों ही उसे सुरासुरों का कोलाहल सुनाई दिया। रणक्षेत्र में रुद्रपीड़ दिखाई दिया। उसे देखकर वह योद्धा सब कुछ भूल गया।

उधर रुद्रपीड़ ने सारथी से कहा—इन्द्र के हाथों मेरी मृत्यु निश्चित है। परन्तु आज का युद्ध अपूर्व होगा। इन्द्र भी जानेगा, वीर का मरण कैसा होता है।

इसके पश्चात् उसने सारथी को निर्देश किया कि मेरी मृत्यु के उपरान्त उसे क्या-क्या करना होगा। इन्दुबाला को सन्देश देते हुए उसके आँसू आ गये और गला रुँध गया।

उसने शृंगनाद किया। कार्तिकेय ने सामने आकर ललकारा और युद्ध आरम्भ हुआ। थोड़े समय में ही रुद्रपीड़ ने देव सेनापति को अपने बाणों से बिद्ध कर दिया। मण्डल बनाकर उसका रथ चारों ओर घूमने लगा। उसका युद्ध देखकर इन्द्र चकित हो गया। वृत्रासुर दूर से ही हाथ फैलाकर उसकी बड़ाई करने लगा। उसे देखकर देव सेना भयभीत होकर चिल्लाने लगी।

रुद्रपीड़ ने धनुष हिलाकर पिता को प्रणाम किया। परन्तु धीरे-धीरे उसका

बल क्षीण होने लगा। वृत्र ने चिल्लाकर कहा—वत्स तनिक ठहरो। मैं अभी अपनी सेना के साथ तुम्हारे पास पहुँचता हूँ। यह कहकर वह तुरन्त परकोटे से नीचे उतरा।

इधर देवरथियों ने उसे घेरकर घोर युद्ध ठान दिया। परन्तु उन्हें फिर भी हारना पड़ा। तब इन्द्र उसके सामने आया और उसने उसकी वीरता बखानी। यह भी कहा—तू श्रान्त हो गया है। आज लौटकर विश्राम कर। परन्तु उसने यह बात नहीं मानी। फिर भी उसने अद्‌भुत पराक्रम दिखाया। अन्त में जो होना था, वही हुआ। उसका सारा शरीर बाणों से बिंध गया और सूत के साथ वह नीचे गिर पड़ा। दानव हाहाकार कर उठे। उसकी मृत्यु पर वैरी देव भी दुःखी हुए।

सुमेरु के शिखर पर इन्द्राणी के भी आँसू आ गये। इन्दुबाला ने व्याकुल होकर पूछा—इस बार कौन गिरा? सहसा चपला के मुँह से निकल गया—रुद्रपीड़! सुनते ही इन्दुबाला इन्द्राणी की गोद में गिर गयी। ग्रीष्म की लपट की मारी लता-सी क्षण भर में वह सूख गयी। "हाय! चपले, तूने यह क्या किया?"—इन्द्राणी ने कहा।

उधर इन्द्र के आगे रुद्रपीड़ के सारथी ने उसका शव ले जाने की याचना की। इन्द्र ने उसकी प्रार्थना ही पूरी नहीं की, अपना पुष्प-रथ भी, उसके शरीर को ले जाने के लिए दिया।

त्रयोविंश सर्ग

वृत्र पुत्र को आश्वासन देकर आया और सभा में पहुँचकर उसने अपनी सेना को तुरन्त सज्जित होने का आदेश दिया। रुद्रपीड़ की बड़ाई करते हुए उसने कहा, उससे दैत्यकुल कृतकृत्य हो गया। कोई भी शत्रु उसके सामने नहीं टिक सका।

इसी समय रुद्रपीड़ का सारथी इन्द्र के पुष्प-रथ में उसका शव लेकर पहुँचा। उसे देखकर और शोक के बाजे सुनकर वृत्र के साथ सारे दैत्य सिहर उठे। जहाँ उत्साह की बातें हो रही थीं, वहाँ भयानक शोक छा गया।

वृत्र ने अपना त्रिशूल फेंक दिया और कहा—अब यह व्यर्थ है। उसने पुत्र के शरीर को छाती से लगा लिया, मानों वह सजीव हो। सारथी ने उसका जो युद्ध वर्णन किया उसे सुनकर वृत्र के नासा-पुट फड़क उठे और छाती फूल गयी। उसने शूल उठा लिया और निर्णायक युद्ध के लिए आदेश दिया।

इसी समय ऐन्द्रिला वहाँ पहुँची और विलाप करने लगी। वृत्र को उसने प्रतिशोध लेने के लिए प्रेरित किया और जब उससे प्रतिशोध का वचन ले लिया, तभी वहाँ से हटी।

वृत्र ने सुमित्र मन्त्री से पुत्र की अन्त्येष्टि के विषय में पूछा। तब तक वहाँ शिव के गण वीरभद्र ने आकर कहा—वृत्र, तुम्हारे पुत्र का शरीर मैं सुमेरु पर्वत पर ले जाना चाहता हूँ। वहाँ स्वयं इन्द्राणी सती इन्दुबाला के साथ उसका अन्तिम

संस्कार करना चाहती हैं। उस पतिप्राणा ने पति के शोक में शरीर त्याग दिया है। दैत्यराज ने रोते हुए उसे अनुमति प्रदान की।

उस रात दैत्यों के घर-घर करुणा की तरंगें लहराने लगीं। दैत्य नारियों ने अपने पति, पुत्र और आत्मीय जनों को मानो अन्तिम वार भेटा।

चतुर्विंश सर्ग

दूसरे दिन इन्द्र ने मुख्य देवों को शिविर सभा में बुलाया। उनमें बहुत से आहत होने से आने में असमर्थ थे। कितने ही अब भी मूर्च्छित पड़े थे। जो आये थे वे भी स्वथ्य न थे। इन्द्र ने दुःख प्रकट करके बताया, अब भीम धनुर्धर हत हो चुका है। परन्तु वृत्रासुर अब भी जीवित है। उससे कैसे निबटा जाय। वज्र तो प्रस्तुत है, परन्तु ब्रह्मा का दिन अभी शेष है। यह कहकर उसने कोष से निकालकर बीच सभा में वज्र रख दिया। वह धकधका उठा। उसके उत्ताप से सब अस्थिर हो उठे। इन्द्र ने उसे फिर कोषगत कर दिया।

अपने कण्ठ की पीड़ा की उपेक्षा कर अग्निदेव ने कहा—मेरी सम्मति में अब अविलम्ब वृत्र का संहार करना चाहिए। कौन कहता है, भाग्य की रेख पर मेख नहीं मारी जा सकती? यदि रुद्रपीड़ के बाणों से मैं पीड़ित न होता तो स्वयं वज्र लेकर उसका वध करता। इन्द्र ने उन्हें समझा-बुझा कर शान्त किया।

तब भास्कर ने क्षुब्ध भाव से कहा—हे सुरेन्द्र, यदि वज्र चलाने में तुम्हें कोई शंका है तो लाओ, वह मुझे दो। मैं अभी देखूँ कि दैत्य का मुण्ड खण्ड-खण्ड होता है वा नहीं। तुम क्यों आगा-पीछा करते हो। आवेश में उन्होंने इन्द्र के लिए कुछ अनुचित बातें कह डालीं। परन्तु वरुण ने उन्हें उत्तर देकर शान्त कर दिया। इन्द्र ने वज्र उनके सामने रख दिया। परन्तु वे उसे उठा भी न सके और लज्जित होकर एक ओर पीछे जा बैठे। देव उनका उपहास कर हँसने लगे। तब इन्द्र ने मधुर वचनों से सबको रोककर कहा—बन्धुओ, गृह-कलह अनर्थ का मूल है।

इतने में शिव का पारिषद महाकाल वहाँ आ उपस्थित हुआ। उसने बताया—वृत्र का भाग्य खण्डित हो चुका है। अब वह वज्र से मारा जायगा। भवानी ने कहा है, अब उसके वध में तुम विलम्ब न करो।

विशाल व्यूह की रचना की गयी। इन्द्र ने आहत देवों के शिविरों में जाकर सबको आश्वस्त किया। फिर व्यहू का परिवेक्षण। इसी समय पुष्प-रथ में सुमेरु से चपला वहाँ आयी। उसने शची का कुशल समाचार सुनाया और पुष्पक के विषय में सब बातें बताईं। इन्द्र ने चपला को शची के लिए अपना शुभ संवाद दिया। इसी बीच चपला वज्र को देखकर मोहित हो गयी। इन्द्र ने हँसकर उसी समय वज्र के साथ उसे विवाह-बन्धन में बाँध दिया। विवाह का उत्सव युद्ध के पश्चात्

निश्चित किया गया।

युद्ध की भेरियाँ बजने लगीं। वृत्र ने अपने अनुरूप पराक्रम प्रकट किया। तीनों लोक काँप उठे। परन्तु पुत्र के प्रतिशोध लेने का संकल्प वह पूरा न कर सका। जयन्त को पीछे करके इन्द्र उसके आगे आ गया। उसने एक साथ दोनों को लक्ष्य करके अमोघ त्रिशूल छोड़ा। शिव से आकर्षित होकर वह बीच में ही अदृश्य हो गया। अन्त में इन्द्र ने वज्र के द्वारा वृत्र का वध कर स्वर्ग का उद्धार कार्य सम्पन्न किया।

ऐन्द्रिला उन्मादिनी होकर तीनों लोकों में घूमने लगी।

कौन कहता है—भाग्य अमिट, अखण्ड है?
सब कुछ सम्भव है, साधन-सुयोग से।

श्रीगणेशाय नमः

वृत्र-संहार

प्रथम सर्ग

अमर रसातल में रहकर क्षुब्ध हैं,
चिन्तित-विषण्ण-अवसन्न हैं, विपन्न हैं।
घोर धूम धुन्ध भरी अन्ध वह नगरी।
छाये घने घन हैं अमा के तम में यथा।
शत-शत योजन परिधि फैली उसकी
(तो भी साँस रोधती है सिकुड़ी-सी शीत से)
अहरह कम्पित है सिन्धु के प्रहारों से,
चारों ओर घोर रव उठता है आप ही।
रहते हैं देव घिरे भीमतर तम से,
राहुग्रस्त सूर्य किंवा चन्द्र हिमावृत ज्यों,
पाण्डु वर्ण धूसरित देह, आधि-व्याधि से
आर्त्त आदितेय गण अन्ध रसातल में।
रहती निरन्तर है चिन्ता उन्हें स्वर्ग की,
कैसे दैत्य दुर्जयों से उसका उद्धार हो।
अस्फुट निनाद उठता है सब ओर से।

लेने लगे देव लम्बी-लम्बी साँस क्रम से,
झटिका के पूर्व जैसे वायूच्छ्‌वास होता है।
आलोड़ित हो उठा अपार सिन्धु उससे,
भर उठा सारा देश उस रव-राशि से;
डूब गया उसमें पयोनिधि का नाद भी,
शत-शत मेघध्वनि मानो शून्य पथ में।

सम्बोधन करके सुरों को महा तेज से
गूँजती गभीर गिरा स्कन्द की यों निकली—
"जागते हो दानवारि देवगण! आज क्या?
मिट गयी अब क्या तुम्हारी रण-श्रान्ति है?
हे अस्वप्न, उठने के अर्थ क्या समर्थ हो?
हा धिक! हा धिक! हे अदिति माँ के लाड़ले,
देव-भोग्य स्वर्ग में है दैत्य-वास अब भी,
निर्वासित हो तुम रसातल में रुद्ध-से।
तुम चिर योद्धा, चिर युद्ध कर दैत्यों से
श्रेष्ठ-ज्येष्ठ पूजित हुए हो चराचर में।
वे ही तुम आज उन्हीं दानवों के त्रास से
त्रस्त-ग्रस्त ऊर्ध्व से अधोगति में हो पड़े।
भूली सुधि भी क्या तुम्हें निज सुरधाम की?
ऐसा क्या प्रताप बल विक्रम है दैत्यों का,
शंकित सभी हो निज शक्ति भूल जिससे?
कहाँ आज विजयी सुरों का शौर्य-वीर्य है,
सौ-सौ वार जिसने दला है, दल दैत्यों का?
धिक हे अमर, घृणा-क्षोभ-हीन मन में
हम सब आज इस अन्धपुर में पड़े,
स्वर्ग का सुरत्व सुरैश्वर्य-सुधा छोड़के,
लेकर कलंकित ललाट दास्य-पंक से।
धिक अमरत्व, यदि असुरों के भय से,
भीत हम हों यों अमरावती में जाने से।
हा क्या! अमरत्व का विपाक यही अन्त में,
दैत्य-पद पीठ पर अंकित किये हुए
भोगें चिर निर्वासन आसन से भ्रष्ट हो?
बोलो हे अमर, यही विक्रम दिखाके क्या
रहना हमें हैं चिरकाल रसातल में,
दैत्य पद-चिह्न धरे माथे पर अपने?"

विचलित हुए देव कार्तिकेय वाणी से,
काँपने लगे वे क्षुब्ध मूर्तिमन्त क्रोध-से।
उच्छ्‌वसित होने लगे नासा-पुट उनके,
ज्वालामुखियों से यथा अग्निस्राव होता है।

डोल उठे जल-थल, नभ भभरा उठा।
पीठ पर तूण बाँध चाप-शर धरके,
शक्ति-शूल-पाशादिक आयुध सँभालके,
वृन्दारक-वृन्त उठा ऊपर को देखके,
फिर-फिर तीक्ष्ण दृष्टि डालके तिमिर में;
अति घनघोर हुहुंकार लगा छोड़ने।

दीप्त खर खंग खींच उद्धत सहज ही,
सबसे प्रथम उष्ण अग्निदेव बोले यों,
उनके वचन मानो छूटते स्फुलिंग थे—
''सेनापते, हममें से कौन ऐसा भीरु है,
इच्छा जो करे न निज स्वर्ग-समुद्धार की?
कौन निज देश में प्रवेश नहीं चाहता?
दानवों से जूझने में डर अब किसको?
डरने का कारण क्या कोई अवशेष है?
देवों का अनादर जो सम्भव था हो चुका,
दैव की विडम्बना से, देवों के अभाग्य से।
स्वर्ग के है नीचे मर्त्य, नीचे उस मर्त्य के
अतल गभीर सिन्धु, उसके भी नीचे हा!
अन्धतम विषम रसातल पुरी यही,
जिसमें छिपे हैं हम दानवों के भय से।
हो रहे हैं अन्ध विवरों के कृमि-कीटों-से।
धुवाँधार और अन्धकार सब ठौर है,
सिर पर सर्वदा समुद्र है गरजता,
प्रबल प्रकम्पक हिमानी सब ओर है।
ऐसे कष्ट सहने पड़ेंगे हमको यहाँ
रहने से, युग से युगों तक सतत ही,—
जब तक अन्त न हो सबका प्रलय में।
किंवा छली-कपटी हो छद्म वेश रखके
धूर्त्तता प्रकट कर, देवों से घृणित जो,
हमको भटकना पड़ेगा सब लोकों में।
डरता रहेगा चित्त, वंचकता अपनी
प्रकट किसी पर न हो जावे कभी कहीं।
कहना क्या आत्मघृणा और आत्मग्लानि का,

सहनी पड़ेंगी हमें यातनाएँ कितनी।
हाय! ऐसे जीवन से अच्छी नहीं मृत्यु क्या?
अथवा प्रकट रूप रखके अलज्ज-सा
घूमना पड़ेगा हमें लोक-निन्दा सहके,
शत्रु-तिरस्कार अलंकार कर अपना,
दासता का चिह्न धरे माथे पर सर्वदा।
करके भृकुटि-भंग दैत्य जब देखेंगे,
किंवा जब अँगुली उठाकर हँसेंगे वे
व्यंग्य कर—'देखो यही स्वर्गपति देव हैं!'
सौ-सौ नरकों की आग उर को जलायगी।
वा देवत्व छोड़कर दैत्योच्छिष्टभोजी हो
रहना पड़ेगा अमरा में हमें भार-सा,
सिर पर टीका लिये दैत्य-पद-रज का।
इसकी अपेक्षा लाख वार उठ व्योम में,
लेकर अमर वीर्य स्रोत में समर के
तैरेंगे सदैव हम, दानवों से जूझेंगे—
जब तक शोणित रहेगा शेष हममें!
अमर बनाया है पितामह ने हमको,
सुमना हमारा नाम विश्रुत है विश्व में।
सर्वाधिक गौरव मिला है हमें लोकों में ।
दैव-वश सम्प्रति हमारी यह गति है!
देव हम, किन्तु कहाँ है देवत्व अपना?
कुछ न बिगाड़ सकें देवायुध दैत्यों का
तब हे अमर्त्य, ऐसे विक्रम का फल क्या?
होता है स्वयं ही अनुकूल कभी भाग्य क्या?
देव हो वा दानव हो, मानव हो अथवा,
काट सके बन्धन जो साहस से उसका,
किंकर उसी का भाग्य देवगण, सुन लो!
आओ, शक्ति-शेल-भिंदिपाल-नागपाश ले
काटें हम भाग्य-जाल दस्युओं को मारके।''
कहते हुए यों अग्निदेव के शरीर से
फूट पड़ीं ज्वालाएँ दिशाओं को जलाती-सी।
अग्नि वचनों से देव उत्तेजित हो उठे,
दौड़े हुहुंकारों से रसातल विदारते।

एक साथ सौ-सौ शस्त्र चारों ओर चमके,
कोटि कोटि कौंधे चकाचौंध भरने लगे।
मिट गया पल में अँधेरा रसातल का,
दमके सुदीप्तिमय दिव्य देह देवों के।

तब श्रीवरुण ने गभीर-धीर रूप में
बढ़के हिलाया निज पाश ज्यों ही शून्य में,
सागर का क्षुब्ध जल शान्त हुआ सहसा,
स्तब्ध हुए देवगण, स्तब्ध हुई वसुधा–
मानो रुका झंझा नाद तीन दिन रात का।
बोले वे–"अमरगण, क्षण भर ठहरो।"
मन्द्ररव गूँज उठा चारों ओर उनका,–
"शान्त हो अमरगण, क्षण भर ठहरो।
उचित बड़ों को नहीं इतनी प्रगल्भता,
उद्धतता ऐसी क्षुद्रमतियों में होती है।
दानवों को मार निज स्वर्ग समुद्धार की
होगी नहीं इच्छा किसे, दैत्यनाशी देवों में,
देव नाम धारी भला कौन ऐसा नारकी,
सम्मत न हो जो इस पावन प्रस्ताव से?
फिर भी प्रतिज्ञा वाक्य बोलने के पहले
उसका फलाफल विचार लेना चाहिए।
साधारण जन की भी सीख कभी शुभ है,
ज्ञानियों की बात कभी होती नहीं अन्यथा।
निष्फल प्रतिज्ञा कर हास्यास्पद होना है,
कार्य सिद्धकारी ही प्रशंसनीय होता है।
भूरि महात्माओं ने कही हैं भूरि वाणियाँ,
कोरी डींग मारने से होता कहीं कार्य है?
चाप शब्द कर्णगत होने के प्रथम ही
होता शर-लक्ष्य धराशायी शराघात से।
तेज बल विक्रम प्रताप शस्त्र देवों के,–
जिनका घमण्ड हम करते हैं इतना,
पहले कहाँ थे, जब दानवों से जूझे थे?
तब क्या न थे वे जब दैत्यपति शूल से
निक्षेपित होके हम आ पड़े पाताल में?

अस्त्र वही, वीर्य वही, और वे ही देव हैं,
दैत्य भी हैं वे ही, दैव उनसे प्रसन्न है।
जा रहे हो तुम किस प्रत्यय से रण में?
भाग्य नहीं?—भागधेय मूढ़ों का प्रलाप है!
भाग्यवान तो है वही साहस है जिसमें।
तो क्यों तीक्ष्ण दुर्निवार तेज इन्द्र शर का
अक्षत ही झेल लिया वक्ष पर वृत्र ने?
क्यों सुरेन्द्र सर्वजयी दैत्य-गर्व-हारी जो
हो गये अचेत चिरचेता, दैत्य-शूल से?
क्यों वही निरत आज ध्यान में नियति के,
करके संकल्प दृढ़ गाढ़तर मन से,
एकाकी सुमेरु के शिखर पर बैठके
काल काटते हैं? ध्यान व्यर्थ है क्या उनका?
बन्धु, मेरी सम्मति में युद्ध अकर्तव्य है,
जब तक वासव सहाय न हों लौटके।
पहले करें हम उन्हीं की सिद्धि-कामना,
पीछे युद्ध-कल्पना यथार्थ होगी आप ही।''

मौन हुए वरुण, दिनेश देव जो महा
तेज से थे दुर्निरीक्ष्य, उठ तब बोले यों,—
''देवगण, सुनो तुम मेरी बात पहले,
फिर सब मिलके विचारो जो उचित हो।
निर्जर अमर जीव श्रेष्ठ हैं त्रिलोकी में,
नन्दन अदिति के चिरायु चिरजीवी हैं।
अक्षय शरीर, अविनाशी वीर्य उनका,
सब कहीं सर्वदा प्रसिद्ध यह सत्य है।
असुर अचिरजीवी, अस्थिर अदृष्ट के,
वे हैं चल-चित्त वाले, शत्रु-परवश हैं।
मित्र, मन्त्री कौन चिर आज्ञा वश उनके?
उनका अनित्य जयोत्साह, प्रभु-भक्ति भी।
तब कब तक वे दुरन्त दुर्निवार हैं,
देव-बल-विक्रम अनन्त है समर में।
कब तक ठहर सकेंगे फिर वे वहाँ?
मेरी यही इच्छा है, निरन्तर समर में

उनको दहें हम असीम भीम तेज से।
युग-युग कल्प-कल्प जूझें हम उनसे,
जले युद्ध-ज्वाला चिरकाल व्योम-व्यापिनी।
जागे देव-तेजोवल घेर दैत्य-दल को,
अविरल रात दिन प्रखर शिखाओं से।
दग्ध हो दनुज-पुत्र-पौत्रों की परम्परा,
दहते हुओं का चिर शोक सहती रहे।
आर्त्त होंगे अन्त में वे अन्तहीन युद्ध में,
क्षण भी विराम सुख जान नहीं पावेंगे।
निश्चय परास्त होंगे एक दिन व्यस्त हो।
भाग्य यदि ऐसा ही प्रबल रहा उनका,
जो वे किसी युग में पराजित न हो सकें।
तो चिर कुफल भोग भोगें वे सुभाग्य का,
जूझकर दुर्मति सदैव देव-रण में।
हा धिक, हा लज्जा, देव-वीर्य रहते हुए
निष्कण्टक स्वर्ग-राज्य भोगें दैत्य दुष्टधी,
देवों की उपेक्षा कर सोवें नींद सुख की;
वर्ग-हीन देव दुःख भोगें यों नरक का।
इन्द्र नहीं हममें, यथार्थ यह बात है,
किन्तु वे न लौटें युग बीतें बहु और भी,
तो क्या अन्धकार में रहेंगे हम ऐसे ही?
उठो हे अमर, दैत्य-कण्टक ही व्योम में,
दाहों दस्युओं को युग-व्यापी युद्ध-वह्नि में।
स्वर्ग के समीपी पर्वतों के शृंग-शृंग से
अस्त्र बरसा के चित्त-शान्ति हरो दैत्यों की।"
सूर्य के यों कहते ही देव झंझा वेग से
दौड़ पड़े मानो तप्त बालु-कण मरु में।
किंवा प्रलयाग्नि में ज्यों विश्व छार-खार हो
आच्छादित करता है अम्बर को उड़के,
देव उड़े अन्तरिक्ष में त्यों घेर रवि को।
सम्मत हो शीघ्र सब रात-दिन भूलके,
चिर रण-स्रोत में प्रवाहित-से हो उठे;
देव-निन्दा-कारी दानवों के दुःख बनके।

द्वितीय सर्ग

क्रीड़ा इस ओर नित्य नन्दन विपिन में
करती है दैत्य-वामा पति-सह प्रेम से।
फूलों से सिंगारती है आप रति उसको,
फूली समाती है नहीं हँस वह लाज से।
पुष्पासन काम के सजाये सब ओर हैं,
अद्भुत सुरभि और सुन्दता छाई है।
कानन विचित्र क्यारियों से हँसता-सा है,
मुनि-मन भूल जायँ देख फूल-शय्याएँ।
मानो मनोहारी वेश रख ऋतुराज ने
मेला-सा लगा दिया है रूप-रंग-गन्ध का;
मुग्ध लुब्ध भ्रमरी-सी घूमती है ऐन्द्रिला।
लेटती कभी है पुष्प-शय्या पर शान्त-सी,
त्रिविध समीर तब आकर त्रिदिव का
अलकों को, पलकों को धीरे सहलाता है।
बैठती कभी है इन्दिरा के कंज-मंच पै,
हँसता है दैत्यपति बैठकर पार्श्व में।
हँसती है रामा रतिदत्त माल्य-धारिणी,
खसते हैं वसन, लजाती-मुसकाती है।
मूर्तिमन्त छहों राग, रागिनियाँ छै गुनी,
उठती हैं नाट्य की तरंगें सुधासयन्दिनी।
उद्दीपित हो रहे स्वरों में सब रस हैं,
स्पर्शाघ्राण अवश, निरत कर्ण मात्र हैं।
सजे पुष्प-बाण पुष्प-चाप कुछ खींचके
सुस्मित मनोभव पलटता है पैंतरे।
तैरती-सी लास्य की विलास की तरंगों में
विद्याधरियाँ हैं काम का भी मन मोहती।

क्रीड़ा करती है दैत्य नन्दिनी यों स्वर्ग में,
विह्वल-सा हो रहा है वृत्रासुर सुख से।
ऐसे ही समय स्वामि-कर धर प्रेम से,
बोली हाव-भावमयी ललना ललक यों—
''सच कहूँ नाथ, तो क्या हम जयी अब भी?
विजित न सेवा करे, तो यह विलास क्या?
स्वर्गपति आज तुम, मैं तुम्हारी प्यारी हूँ,
तो भी धिक् लज्जा, कहाँ पूरी हुई लालसा,
जो तुम्हारे तनिक कटाक्ष से सुलभ है।
वह भी न पा सकूँ तो व्यर्थ यहाँ रहना,
तुममें महेन्द्र-चिह्न देख मैंने तुमको
वरण किया था स्वयं, आशा रखती थी मैं,
पाऊँगी अभीष्ट, किन्तु भाग्य में निराशा थी।
छोड़ा स्वगन्धर्वकुल, किन्तु मैंने पाया क्या,
विफलमनोरथ को मर्त्य किंवा स्वर्ग क्या!
होकर भी राजा वह रंक है जहाँ भी हो,
हाहाकार ही है शून्य जीवन में उसके।
पाके पति तुम-सा हा! मेरी गति भी वही;
पूरी हुई तब भी न मेरी वह कामना।
प्रेमाराध्य, प्रेम करते जो तुम मुझको,
तो हो चुकी होती वह इच्छा पूर्ण कब की।
अब मैं जगाऊँ वह प्रेम कैसे तुममें;
जो था सब दे चुकी हूँ, यौवन भी गत-सा।
हेलित हुई हूँ प्रेम करते ही करते!
इच्छा यदि ऐसी कभी करती शचीन्द्राणी,
पूरा नहीं होता पल और पूरी हो जाती।
धन्य उस इन्द्र पर क्यों न बलि जाऊँ मैं!
प्रेमी तो वही, जो विना माँगे स्वयं देता है।
किन्तु वह प्रेम—''भामा रोनी हँसी हँसके
सजल दृगों से लगी पति मुख देखने।
जड़ित हुआ-सा रहा हास स्वाभिमान में,
सुनकर मौन धीरे-धीरे वृत्र बोला यों—
''हा! क्या कहती हो प्रिये, फिर कहो मैं सुनूँ,
प्रेयसी बधू की कहीं ऐसी दशा होती है।
मेरी भर्त्सना यों करती हो किस दोष से?

क्या नहीं दिया तुम्हें, अदेय मैंने माना क्या?
सारा जग डाल दिया आप इन पैरों में।
मणियों में कौस्तुभ ज्यों नारियों में तुम हो।
वैभव में, गौरव में, शक्ति में, प्रसिद्धि में
और कौन रमणी है तुम-सी त्रिलोकी में?
अन्य कौन लालसा तुम्हारे मन में उठी,
शेष है विशेष तुम्हें अन्य धन कौन-सा?''
चिर अभिमानिनी यों बोली फिर ऐन्द्रिला—
''अब भी क्या वैसी जैसी चाहिए मैं हो सकी,
अब भी जो गौरव शची का, कहाँ मेरा है?
स्वर्ग-स्वामिनी तो कही जाती वही अब भी।
वह निज गौरव से अब भी है सुख में।
अब भी क्या हो सकी हमारी वशवर्तिनी
जब लौं स्वतन्त्र शची, मैं क्या स्वर्ग-स्वामिनी?
उसका महत्त्व कौन भूला है यहाँ-वहाँ?
रति कहती थी, 'शची जब से चली गयी,
आभा विना उसकी सुमेरु श्री-विहीन है।'
सुनती हूँ वह अति रूपवती नारी है,
गर्व और गरिमा बिखेरती-सी जाती है।
गौरव है ग्रीवा में, विशालता है वक्ष में,
सूक्ष्म कटि में है कसे सत्ता की महत्ता-सी।
जी में बड़ी लालसा शची को देखने की है,
कानों और आँखों का विवाद मिटे जिससे।
निकट रहेगी तो सिखावेगी वही मुझे,
विविध विलास, जो लुभा सकेंगे तुमको।
संग सुर सुन्दरियाँ आयँगी जो उसके,
दिव्य बहु कौतुक दिखायँगी, सिखायँगी।
इच्छा यही, दासी हो शची, तो रति देख ले,—
कैसी दीप्ति पाता है सुमेरु फिर उससे।''
वृत्र मुसकाया नेत्र डाल प्रिया-नेत्रों में—
''आहा! यह इच्छा है तुम्हारे मन में प्रिये!''
काम को बुलाके झट पूछा तब उसने—
''सम्प्रति निवास करती है कहाँ इन्द्राणी?''
बोला सदा हँसमुख काम—''मर्त्यलोक में
नैमिष-अरण्यचारिणी है, सखी साथ है।

पति विना, पुत्र विना, स्वर्ग सत्ता-श्री विना
रहती है, सहती है, दहती है दुःख में।''
यह सुन दैत्यराज ऐन्द्रिला से बोला यों,–
''पाओगी सखी सह शची को तुम शीघ्र ही,
पूर्ण होगी सुन्दरि, तुम्हारी मनस्कामना।''
ऐन्द्रिला ने हर्ष से मधुर हँसी हँसके
धर लिया पति-कर अति अनुराग में।
चाप कुछ टंकारा सहास्य तभी काम ने,
साथ ही सिहर उठे दीप्त दैत्य-दम्पती।
गूँज उठे फिर सब राग और रागिनी,
आशीविष भूलें रस-वृष्टियों में जिनकी;
इन्द्रियाँ अवश फिर होने लगीं सुनके।
चौंक-चौंक दम्पति लगे फिर सिहरने।
सुन कभी वीर रस मार-मार करके,
जाता है दनुज मानो फिर भी समर में,
लेता है त्रिशूल दैत्य भूल-सी मिटाने को;
फड़क-फड़क भुज उठते हैं उसके।
बहता कभी है वह करुणा-प्रवाह में,
वार-वार आँखें पोंछती है सुन ऐन्द्रिला।
पकता वात्सल्य कभी, स्तन्य है टपकता,
भर गयी मानो नयी गोद फिर उसकी।
लोट-पोट होती वह हास्य रस में कभी,
कहाँ वस्त्र, कहाँ अलंकार, महामोद में,
अस्थिर-सी गिर-गिर पड़ती है प्रमदा
गोद में दयित की वा सेज पर फूलों की।

विह्वल हो अपसराएँ चलती हैं धीरे से
झलमल अंग, ढलमल-से शरीर हैं।
धर चल अंचल अँगुलियों के पोरों से
चाँप अधरों से उन्हें काँप काँप जाती हैं।
चारों ओर पुष्पहास वास हर्षोच्छ्वास है,
दानव को मोह क्रीड़ा करती है दानवी।
रास की विलास की तरंगें रंग ला रही,
नन्दन निमग्न है उछाह के प्रवाह में।

तृतीय सर्ग

निद्रा त्याग वृत्र उठता है वैजयन्त में,
दानव गन्धर्व यक्ष आदि अति व्यग्र हैं;
नाना द्रव्य ले-लेकर भागते-से जाते हैं।
गृहपथ-अश्व-गज-स्यन्दन सजाते हैं,
पुष्पहार देकर गवाक्ष और द्वारों को
दीप्त करते हैं; दैत्य-केतु फहराते हैं,
अंकित है शूल सह शम्भु नाम जिनमें।
शंख-भेरी-रोर, घनघोर जय घोष है,
शिखर-शिखर पर दुन्दुभि घहरती।
दारित गगन घन टंकारित चापों से,
धक-पक इन्द्र-धरा दानव की धाक से।
ऊँचे जयनाद से है मेरु-चूड़ा काँपती।

वासव-निवास व्योम-विस्तृत हिमाद्रि-सा,
आभा फूट फैलती है उससे स्फटिक की।
मानो राशि-राशि हिम भासता है नभ में।
पुष्पक विमान और ऐरावत द्वार के
दोनों ओर प्रस्तुत हैं सुन्दर सजे-बजे।
इन्द्र-सभा आकर सजाता यक्षराज है,
लाकर विचित्र मणि भूषण बड़े-बड़े,
खम्भे पंक्तिबद्ध खड़े रत्नों से जड़े हुए,
झलमल मोतियों की झालरें चँदोवे में।
हाय! वह इन्द्रासन, देवराज जिस पै
बैठता था, उस पै प्रफुल्ल पारिजात के
पुष्प-गुच्छ चारों ओर रखता कुबेर है;

आकर सुगन्धि लेगा दैत्यराज उनकी।
इन्द्र का मुकुट और राज्यदण्ड उसका
सिंहासन पार्श्व में सजाता ससम्भ्रम है।
एक ओर किन्नर मिलाये वाद्ययन्त्रों को
सन्न-से खड़े हैं चुपचाप तो भी चौकन्ने।
रम्भादिक अप्सराएँ नत हैं प्रतीक्षा में,
सज्जा परिपूर्ण, मात्र तौर्यत्रिक शेष है।
विद्याधर यक्ष किन्नरादि कर जोड़के
सब हैं सभा में खड़े, दीर्घ देह दैत्य हैं।
सुन पड़ा इतने में शृंग-नाद गहरा,
तत्क्षण ही ठनके मृदंग, तन्त्र खनके।
झनके सुनूपुर मधुर अप्सराओं के,
गम की सुगन्धि नयी, चौंक सभा चमकी।
जैसे ही प्रविष्ट हुआ वृत्र सभास्थल में,
होने लगे विरुद बखान जयगान में।
नेत्र तीन वक्ष पीन बाहु लम्बे उसके,
डोलता है पारिजात पुष्पहार ग्रीवा में।
मेघ-सा निविड़ देह वर्ण अति दीप्त है,
जैसे गिरि-शृंग भोर भानु के प्रकाश में।

दर्प-दृष्टि डाल बैठा दैत्य इन्द्रासन पै,
काँपा गृह उसके विशाल वपु भार से।
बोला वह मन्त्री से—"सुमित्र, भेजो शीघ्र ही
भीषण को नैमिष अरण्य में, शची वहाँ
सखियों सहित, उसे लावे वह स्वर्ग में।
कौशल से सम्भव न हो तो फिर बल से;
ऐन्द्रिला की इच्छा पूर्ण करनी है मुझको।
कल अति लज्जित किया गया मैं उससे,
अब भी स्वतन्त्र शची सेवा भूल उसकी।
भीषण से कह दो विलम्ब न हो कार्य में।"
बोला नत मन्त्री—"प्रभो, क्या आश्चर्य इसमें,
इच्छा यदि ऐसी करें माननीया महिषी।
आज्ञा शिरोधार्य, किन्तु प्रार्थना है छोटी-सी।"
वृत्र बोला—"क्या है कहो मन्त्रि, सब जानूँ मैं।"

"स्वामि, यहाँ आ रहे हैं अमर उपद्रवी,
देखी प्रहरी ने कल रात आभा उनकी
करती दिशाएँ दीप्त। लगता है शीघ्र ही
आक्रमण आकर करेंगे वे त्रिदिव में।
भीषण को भेजना उचित है क्या ऐसे में?
शत्रु नहीं साधारण, सुज्ञ, सोच लीजिए।
क्षण भी विराम विना रात दिन जूझेंगे।
अति ही कठिन युद्ध-पद्धति है उनकी,
ऐसे में अशेष योद्धा चाहिए हमें यहाँ।"

सुनकर दैत्यराज हँस पड़ा, बोला यों—
"आयँगे समर-हेतु अमर भला यहाँ,
मन्त्रिवर, बात नहीं क्या यह प्रलाप की?
किसने गढ़ा है इसे? दानवों के भय से
स्वर्ग-मर्त्य छोड़ छिपे देव रसातल में,
देखें फिर स्वर्ग-ओर शक्ति है क्या उनमें?
एक वार दानव-प्रहार सहा जिसने,
वह फिर युद्ध करने क्या कभी आवेगा?
कर सकती है दृष्टिपात भी क्या स्वर्ग की
ओर देव-सेना कभी, मेरे रहते हुए?
रक्षकों ने और कुछ देखा न हो शून्य में
ऋक्ष किंवा उल्कापात, ऊँघने वा सोने में।"
"देखा है उन्होंने भिन्न रूप," कहा मन्त्री ने
"अलग-अलग ज्योतिःपिंड सब ओर थे।
रक्षक प्रधान से ही सुनिए कहे वही।"

वह था पहाड़ जैसा, पूछा दैत्यराज ने—
"ऋक्षभ, बता क्या रात देखा-सुना-समझा?"
बोला वह—"यामिनी के तीसरे पहर में
दीख पड़ा सहसा प्रकाश सब ओर से
ज्योतिर्मय देहधारी, न उडु न उल्का ही।
भीति नहीं होती उडु और उल्कापात से।
दैत्यनाथ, देव ही थे वे दसों दिशाओं में;
कितने थे, संख्या नहीं, दीखते हैं अब भी,

दूर चारों ओर घूम-घूम घेरा डाले-से।''
पूछा पुनः वृत्र ने यों संशय मिटाने को,–
''इन्द्रचाप-ध्वनि भी किसी ने सुनी क्या वहाँ?
इन्द्र होता तो वह सभी को सुन पड़ती।''
''वह तो सुनाई नहीं दी किसी भी दैत्य को।''
यह सुन बोला वृत्र,–''देव यदि सत्य ही
आते हैं यहाँ तो भला इससे क्या भय है?
मैंने उस वार उन्हें भेजा रसातल में,
सारा झगड़ा ही इस वार मिटा दूँगा मैं।
साथ नहीं इन्द्र और देव चले लड़ने!
व्यस्त वातग्रस्त हैं वे, कैसी महा मूर्खता!
मैं संकल्प करता हूँ, दानवजनो, सुनो,
सूर्य को मैं रक्खूँगा बना के रथ-सारथी,
चन्द्र नित्य आरती सँजोवेगा दिनान्त में,
मार्जनी ले वायु सदा मार्ग स्वच्छ रक्खेगा,
धोबी बन वरुण रहेगा दैत्य-सेवा में,
केतुधर होगा स्कन्ध, देव-सेनापति जो।
निर्भय हो दैत्यकुल निज-निज गेह में!
भीषण को भेजो हे सुमित्र, शची के लिए।''
करके समाप्त सभा सुप्रभ सुमेरु की
ओर चला दैत्यपति अतिशय साहसी।

फैला समाचार इस ओर सारे स्वर्ग में,
सिंहनाद पूर्ण हुई सारी अमरावती।
भेरियों के रोर और चापों की टँकोर से,
ऊपर से नीचे तक सारा शून्य सिहरा।
प्रति गृहचूड़ा पर फहरी पताकाएँ,
शम्भु-शूल, शम्भु-नाम अंकित है जिनमें।
घोरतर कोलाहल चारों ओर छा गया,
सारे दैत्य शूर सजे संगर की सज्जा से।

वृत्रासुर-पुत्र वीर रुद्रपीड़ नाम का,
दैत्यकुल-धन्य जो विलक्षण ललाम है,
भूषित विशाल भाल, चौड़ा वक्ष जिसका,–

मानिक मुकुट धरे भृकुटि मरोरता,
आ रहे हैं देव रण-हेतु सुन हर्ष से
धरके सुमित्र-कर मग्न महोल्लास में,
मानो रोक पाता न हो वीरोत्साह अपना।
विश्रुत विकट भट, पहले समर में
अमरों से लड़के सुनाम पाया जिसने,
युद्ध की अनेक भाँति चर्चा करता हुआ
निज गृह ओर चला संग लिये मन्त्री को।

दौड़े दैत्य वीर चारों द्वारों पर स्वर्ग के,
दानव हर्यक्ष बड़े वक्ष वाला पूर्व में,
पश्चिम में ऐरावत ऐरावत-सा बली,
उत्तर में शंकध्वज, शंखध्वनि जिसकी
सुनकर देव काँपें, दक्षिण में सिंह-सा
सिंहजटा द्वार रक्षा करने को पहुँचा।
हैं दुर्धर्ष दर्प भरे भीम भट चारों ही,
छाये कोटि दैत्य परकोटे पर स्वर्ग के,
भीषण असुर गया नैमिष अरण्य को।

चतुर्थ सर्ग

डूबा जा रहा है दिन, नैमिष विपिन में
पास बैठी चपला सखी से शची बोली यों,—
"आलि, और कितने दिनों तक अनाथ-सी
विश्री वेश धारे मैं रहूँगी इस मर्त्य में?
अमरावती के सुख-सा ही यहाँ दुःख है,
जाने कब जा सकूँगी अपने त्रिदिव में।
स्वप्न भी सुरों को नहीं, देखूँ उसे कैसे मैं?
जागते में दीखती है दारुण मरीचिका।
आँखों में अँधेरा और ज्वाला जले जी में है,
आती स्मृति में है एक छाया सुर-धाम की।
होती यदि भ्रान्त तो भी दुःख कुछ भूलती,
धिक है अमर-भाग्य भ्रान्ति भी यहाँ कहाँ!
होती जो सुधा ही यहाँ तो भी कण्ठ सिंचता,
कह सखि, कैसे चिर कष्ट यहाँ काटूँगी?
कारागार-सा है नरलोक यह मुझको,
गाढ़तर वायु, साँस रुँध-रुँध जाती है।
निगड़-निबद्ध-सा कलेजा है कसकता,
छट-पट करती है आयु छूट जाने को!
दृष्टि डालने के लिए दृश्य नहीं मिलता,
आग में दबे-से सभी ठौर हैं धधकते!
मिट्टी यह काँतर-सी काटती है पैरों को,
झाँ-झाँ करते हैं शब्द श्रवणों में झंझा-से।
क्षुद्र क्षिति, कैसे रहूँ, जो है यहाँ स्थूल है,
कैसे इस खर्बता में नरकुल जीता है?
अमरों को मृत्यु नहीं, चिन्ता मृत्यु रूपिणी।

कब तक रहना पड़ेगा इन कष्टों में?
यौवन अनन्त लेके, होके इन्द्रगृहिणी
स्वर्ग-सुख भोग के ये दुःख कैसे झेलूँगी?
मेरी चिर चेतना ही आज बनी वेदना,
नर भले, खाया विष और बचे मरके!
स्वप्ननिद्राहीन, सदा जलते नहीं हैं वे।
इससे भला था, कभी स्वर्ग मैं न देखती,
कोई यत्न मेरी यातना का नहीं दीखता।
पहले सुयश-सुख, पीछे लाज-दुःख तो
जीवित ही मृत्यु जैसे लगते असह्य हैं।
जानती हूँ, तृण नहीं, आँधी तरु तोड़ती;
सर्वसहा भिन्न भार झेले कौन अपना?
तो भी जलता है जी, असह्य घृणा-ग्लानि है।
रह-रह पूर्व-कथा याद मुझे आती है।
गौरव था इन्द्रप्रिया जैसा और किसका?
भूलूँ भला कैसे, जब लेके चाप अपना,
आखंडल मेघ पर बैठ आते-जाते थे।
चपले, स्वयं भी उस अम्बुद के अंगों में
चमक-चमक कैसी क्रीड़ा करती थी तू!
आलि, कैसे गौरव से पार्श्व में मैं पति के
बैठती घटा पर, विचित्र छटा छूटती,
मृदु-मृदु मन्द-मन्द सुघन घहरता,
वायु जब उसको झुलाता-सा डुलाता था।
प्रिय-मुख-कान्ति वह देखी नहीं कब से,
नयनों के साथ जो जुड़ाती मनः प्राण भी।
कब से सुरों के बीच देखा नहीं उनको,
शून्य-सी न हो क्यों सृष्टि आलि, इस दृष्टि में?
खेलती सुमेरु पर सखियों के साथ मैं,
ऊपर अन्नत ग्रह अपलक देखते।
मन्द-मन्द गन्धवह था सानन्द बहता,
कितने विचित्र फूल खिलते थे उससे।
स्वच्छ रश्मि-वृष्टि वहाँ कैसी दृष्टि-मोहिनी
और चिरानन्दमयी मन्दाकिनी भूले क्या,
नन्दन के पार्श्व में जो ऊलती-सी जाती है?

पुण्य जलस्पर्श वह हर्षप्रद कितना,
मेरा वह नन्दन विपिन कहाँ, मैं कहाँ?
आज उसे कौन भोगता है—कौन भोगता?
कौन घूमता है वहाँ, कौन सूँघ-सूँघके
मेरे पारिजात के प्रसून जुठलाता है?
उपमा कहीं भी नहीं मेरे पारिजात की,
धारे वह फूल दैत्यदारा, जिसे विधि ने
हृदय शची का स्निग्ध रखने को है सृजा!
हाय! जिन आसनों पै देवियाँ विराजतीं,
पाप-काया दैत्य-जाया रौंदती है उनको।
और कैसी लज्जा, जिस मेरे शयनीय को
इन्द्र छोड़ छू न सका अन्य कोई देव भी,
करता विमर्दित है वृत्रासुर उसको।
धिक धिक ऐसी व्यथा भोगनी थी मुझको।
यह सिर नीचा कर आज दैत्य-जाया ने
प्राण वेध डाले हैं शची के विष बाण से।
मेरी सप्तकी है बँधी ऐन्द्रिला की कटि में,
मेरा मणि-मुकुट कुबेर उसे देते हैं।
कौन अब मानेगा शची को शची कहके,
सखि, अब उसके समीप कौन आवेगा?
राखी बाँधने को अब लक्ष्मी नहीं आवेंगी,
देने को उन्हें वे प्रिय पद्म कहाँ पाऊँगी?
आहा! उमा-ब्रह्माणी किनारा काट जावेंगी
यह मुख मैं ही उन्हें क्यों कर दिखाऊँगी?
क्या करूँ मैं, जाऊँ कहाँ, मानवों के घर ही,
वार-वार जन्म लेके जीती मरती रहूँ।
जब तक भूली रहूँ तब तक ही जियूँ,
आते ही स्मरण मर जाऊँ मैं पुनः पुनः।
ताप-भावना का अपलाप तभी छूटेगा।
और दुःख शान्त होगा मेरे भ्रान्त चित्त का।"

आया इतने में अभिराम काम सामने,
सादर शची को नमस्कार किया उसने।
प्रश्न किया चपला ने—"मन्मथ! यहाँ कहाँ?

अच्छे तो रहे तुम? सुवर्ण हुआ श्याम क्यों?
रति तो कुशल से है? सुनती हूँ, अधुना
माली बने ऐन्द्रिला की वाटिका सजाते हो।
गूँथ-गूँथ माला तुम दानवी को देते हो,
देती हार-भार मैं तुम्हीं को यदि जानती,
रहते उसी में तुम अन्यमना, जिससे
विश्व त्राण पाता तुम्हारी बाण-बाधा से।
माल्यभागी आज तुम माल्यकारी छी छी छी!
और, लज्जा कुछ भी रही क्या नहीं रति को,
दानवी के चरणों में नूपुर सजाती है!''
''रहो रहो!'' बोली शची—''दोष न दो मार को,
सखि, सुख से है काम, सुख से रहे सदा।
स्वर्गच्युत कौन सह पावेगा नरक यों,
भाग्य भला रति का जो संग रहा पति का।
मदन, सिखा दो मुझे युक्ति चिर सुख की,
कैसे सब भूल मैं मगन रहूँ तुम-सी।''
कोप का कटाक्ष चपला की ओर करके,
सविनय शम्बरारि बोला देवराज्ञी से,—
''वासना को लेकर ही देवि, सुख-दुःख हैं,
मुक्ति के अधीन नहीं; नन्दन को छोड़के
और कहाँ मेरा जी जुड़ायगा त्रिलोकी में?
मेरा चित्त-चाहा वहीं, और तो कहीं नहीं।
नर हों, सुरासुर हों, मेरे सभी सेव्य हैं।
छोड़ नहीं सकता इसी से सुरलोक मैं,
प्रेम जहाँ जिसका है, क्षेम वहीं उसका।
मन-खनि में ही सुख-दुःख दोनों होते हैं;
किन्तु वह बात रहे, हेतु कहूँ आने का।
संकट समीप देख मैं कर्त्तव्य मानके,
आपको सचेत करने के हेतु आया हूँ।
आपका अदृष्ट देवि, निर्दय है अब भी,
कीजिए जो शक्य हो, यहाँ न अब रहिए।
विषधर आ रहा है धरने को आपको।''
''मन्द है शची का भाग्य, संशय क्या इसमें,
मार, यही कहने को तुम यहाँ आये हो?

इन्द्र का इन्द्रत्व गया, स्वर्गच्युत मैं यहाँ,
मदन, अभाग्य होगा इससे अधिक क्या?''
''कष्ट यही तो क्या वह होगा जब रति ज्यों
पैर धोने होंगे देवि, ऐन्द्रिला के, वृत्र के।
ऐसी बात मुँह पर लानी पड़ी मुझको
आपको चिताने के लिए ही—क्षमा कीजिए।
सुन यह ऐन्द्रिला की इच्छा डरा आप मैं,
दैत्य संग बैठकर नन्दन विपिन में
ऐन्द्रिला ने मेरे सामने ही कहा, सुनिए,
'सेवा में शची न हो तो मेरी क्या महत्ता है,
सत्ता क्या तुम्हारी स्वयं, कैसी यह इन्द्रता?
और व्यर्थ ही है हाय मेरा नाम ऐन्द्रिला!
सुनती हूँ वह बड़ी गर्विणी-विलासिनी,
उसका घमण्ड खण्ड-खण्ड कर दूँगी मैं।
दासी कर रक्खूँगी उसे मैं इसी धाम में,
वह निज हाव-भाव मुझको दिखायगी।
देखूँगी चलन-भंगी और अंग-रंजना
उसकी, मिटेगा तभी क्षोभ मेरे मन का।'
वृत्र हुआ लज्जित कथन सुन उसका,
भीषण को आज्ञा हुई आपको ले आने की।
अति बली दैत्य, कौन रक्षक है आपका?''
कुण्डलित फणिनी-सी सहसा शची हुई,
एकटक मन्मथ की ओर लगी देखने,
कर पै कपोल धरे, मौन तथा स्तब्ध हो;
मानो पूर्ण छाया पड़ी ज्योत्स्ना पर राहु की।
स्पन्दहीन देह-मन चेतना अचेत-सी,
आती और जाती न थी नासिका में साँस भी,
चिन्ता ही अचिन्तित-सी घूमती थी चित्त में।
फणि-सम केश धरे देवी घनवाहनी
बोली चपला से—''सखि, सुन लिया तूने? हा!
मेरे भाग्य में था शेष क्या यह नरक भी?
ध्यान उसका क्या, मुझे था न अनुमान भी।
जानती थी, दुर्गति की सीमा पर मैं खड़ी,
ज्ञात मुझे था न, अभी सौ धिक्कार और हैं।

क्यों कर छुवेंगे पद दानवी के कर ये,
और उसे नूपुरादि कैसे पहनायँगे?
जानती हूँ सजना, सजाना नहीं सजनी!
सीखूँ कहाँ जाके दानवी के लिए दासता?
सादर सयत्न पहनाती दक्ष कन्याएँ
भूषण-वसन जिसे नित्य नये ढंग से,
होके वही ऐन्द्रिला की दासी, महावर से
लेकर सिन्दूर तक देगी उसे हाय रे!
धिक इन कानों को, जिन्होंने यह है सुना,
एवं इसे ठौर दिया अपने कुहर में।
और दासीपन क्या, मैं सिंही थी शिवा हुई,
सुनना तभी तो पड़ा आज यह मुझको।
क्यों हे काम, आये तुम कष्ट करके यहाँ,
आके मुझे तुमने सुनाया यह सब क्यों?
रक्खी इस छाती पर क्यों यह महा शिला?
भाग्य में जो होता, वह आता तब भोगती।
पहले ही दास्य दे शची को अशची किया,
(किन्तु तुम्हें दोष क्या तुम्हारा भाव शुद्ध था।)
करनी ही होगी सच ऐन्द्रिला की सेवा क्या,
चपले, हा चपले! शची का नहीं कोई क्या?
डरते थे देव तक जिसके कटाक्ष से,
यक्ष-सिद्ध आदि सब तोष जिसे देते थे,
ऐसे दुर्विपाक में नहीं क्या कहीं कोई भी,
जो उसे बचा ले खल दानवों के त्रास से?
इन्द्र तपोरत तो कहाँ हैं देव दूसरे?
कहाँ सूर्य-चन्द्र, कहाँ पवन-प्रेचता हैं,
अग्नि-स्कन्द और गण देव सब हैं कहाँ?
नाम लेना व्यर्थ ही है अब इन सबका,
जो इन्द्रत्व ही गया तो और कौन आवेगा?
तब भी नहीं है शची अब भी निराश्रिता
इन्द्रजाया जननी है—वीरपुत्रजननी,
आलि, इन्द्र जैसा ही जयन्त जात मेरा है।
शूरसू शची है—तो जयन्त मेरे, तू कहाँ?
तेरी प्रसू जाय हाय! दैत्य-दासी बनने!

मेरे अवलम्ब, बचा आके निज अम्बा को।''

ध्यान किया सुत का शची ने दृढ़ मन से,
विश्व में अबाध अहा! आकर्षण अम्बा का।
गिरि वन सिन्धु पार कर पल भर में,
जाता है ठिकाने और लेके उसे आता है।
माता की मनोध्वनि रसातल में पुत्र को
तत्क्षण सुनाई दी, जयन्त जहाँ था वहीं।
कटि कस भागा भूमि ओर वह व्यग्र-सा।

काम बिदा होके गया फिर सुरधाम को,
देने लगी सान्त्वना शची को सखी चपला।

पंचम सर्ग

(युग सम जान पड़ते हैं पल ऐसे में।)
चपला सखी ने कहा—''देवराज्ञि, अब भी
आये क्यों कुमार नहीं, कोई बड़ी बाधा क्या
अटका रही है उन्हें? मन्मथ की बातों से
भारी भय लगता है, चलिए न मर्त्य से
सत्वर वैकुंठ चलें वा कैलास—दोनों में
आश्रय अवश्य देंगी हमको रमा, उमा।''
बोली शची—''जो भी हो पराश्रय न लूँगी मैं।
परगृह वास में है पूरी परवशता,
आती उससे है आप मन में मलिनता।
चिन्ता, भीति, कुण्ठा सदा, आश्रय प्रदाता की
मति-गति देखकर पड़ता है चलना।
(आश्रय पराया अनस्तित्व मानो अपना,)
स्ववश सभी कुछ स्वतन्त्र रहने में है,
मन अपना है और मति-गति अपनी।
(जिसमें निजत्व नहीं, सुख कहाँ उसमें,)
पर गृहवास मानो सर्प सहवास है।
दोनों अभिशाप हैं ये जीवन के, प्राणों के।
ब्रह्म लोक वा वैकुंठ वा कैलास जो भी हो,
परवशता में कहीं शान्ति नहीं मन को।
सुन सखि, मर्त्य छोड़ मैं कहीं न जाऊँगी।''
बोली सखी दुःख से-''तो रक्खो छद्म वेश ही।''
''छुपके रहूँगी न मैं, छल से मुझे घृणा;
पहले से रहती रही हूँ जिस रूप में,
आगे भी रहूँगी मैं उसी में यहाँ जो भी हो।

साँप डसने को आ रहा है, भले डस ले;
सखि, निज रूप कभी छोड़ेगी नहीं शची।''

सहसा शची का मुख उद्भासित हो उठा,
फूट फैली चारों ओर गरिमा की किरणें।
नयन, कपोल, भाल ज्योतिर्मय हो उठे,
सृष्टि रचना में नया सूर्योदय जैसे हो।
क्षिप्त वा विक्षिप्त घोर जो जन हो, वह भी
स्तब्ध रह जाय खड़ा देख मुख-नेत्र ये।
चपला के चित्त में असीम हर्ष छा गया,
सोचने लगी वह, जगीं अनेक इच्छाएँ।
''नैमिष में नन्दन-सा कानन सजाऊँ मैं,
होगी महेन्द्राणी योग्य तब यह अटवी;
और यह मूर्ति द्युति-पूर्ति तब पायगी।
कपटी असुर मूढ़ होंगे उस माया से,
और यह कान्त काया छू भी नहीं पायँगे।
वैभव वसुन्धरा का पूरा प्रकटाऊँगी,
आज यहाँ इन्द्राणी विराजेंगी यथार्थ ही।''

सोच चपला ने यों शची के बिना जाने ही,
अद्भुत अरण्य प्रकटाया निज माया से।
दिव्य द्रुमराजि पल्लवों से पूर्ण प्रकटी;
चूम चारु पुष्पों को प्रफुल्ल करता हुआ
मलय-सुगन्धि-भरा वायु बहने लगा।
मर्मर निनाद कर किसलय सिहरे,
झूल-झूल फूल-फूल फूल हँसने लगे।
उपवन आमोदित हो गया सुवास से,
कूक उठीं कोकिलाएँ सघन निकुंजों में।
कुंज-पुंज विकसे तरंगित तड़ागों में,
गूँजे अलि, नाचे मोर, कूदे मृग मोद से।
शतदल आभा अवलोकनीय लोक में,
अर्द्ध रवि अर्द्ध शशि शोभा मनोहारिणी,
सुन्दर तरुण थल झलके सुजल में।
रच दिया माया वन चपला ने चाव से।

आ गया जयन्त वहाँ ऐसे ही समय में,
माँ के चरणों में नत होकर खड़ा हुआ।
बहुत दिनों में प्रसू देखे यदि पुत्र को,
तो क्यों सभी चिन्ताएँ मिटें न आप उसकी?
आशा, अभिलाषा और क्षोभ सब मन के
वाष्प बन-बनके तुरन्त उड़ जाते हैं–
प्रातःकाल जैसे कढ़ किरणें अरुण की
छूकर धरा को दूर करती हैं कुहरा।
पा लिया शची ने पुत्र पाके पुनः स्वर्ग-सा,
सूँघा सिर, चूम ठोढ़ी गोद भरी अपनी,–
जैसे भर लेती है सुधांशु से नभस्थली।
मरु जल-वृष्टि के प्रवाह जैसे लेता है,
तरु धरता है नव पल्लव वसन्त में,
निद्रा श्रान्त जन को ज्यों भरती भुजों में है,
पाती है प्रभात-पूर्व शुक्रोदय रात ज्यों,
भर लिया अंक में शची ने त्यों तनय को।
अंचल से धूल झाड़ती है मुख हेरती,
हाथ फेरती है मृदु स्पर्श कर अंगों का,
कातरा शची माँ चपला से कहती है यों–
''देख सखि, कैसा तन टूट गया वत्स का,
सूखा मुख पंकशेष पल्वल के पद्म-सा।
खोलो वत्स, खोलो यह वर्म अभी अपना,
ठीक यह भूषा नहीं सूखे इस तन की।
सह न सकेंगे अंग क्रूर भार इसका,
ठण्डे हो तनिक तुम वसुधा के वायु से।
स्वर्ग के समीर-सा नहीं है यह, फिर भी
शीतल करेगा तुम्हें, सुस्थिर भी, साथ ही
ताप हर लेगा यह अन्ध अधोवास का,
कठिन कवच किन्तु खोलो तुम पहले।''
यों कह शची ने स्वयं खोल दिया उसको,
चौंकी वह देख क्षत चिह्न सुत-वक्ष पै,–
''आहा यह घाव कैसा? पहले तो था नहीं!''
''अम्ब, मेरे वक्ष पर आयुध के स्पर्श का
कोई भी कलंक नहीं, यह शिव का दिया

दैत्य शूल मैंने लिया छाती पर सामने।
व्यग्र न हो अन्य सब अस्त्र यहाँ व्यर्थ हैं;
माँ, यह कलंक नहीं शूल-चिह्न शिव का।''
''वत्स, व्यथा कितनी न जानें तुमने सही;
हाय शिव शूली! चिर वाम तुम मेरे क्यों?
हा शिवे! शची पर तुम्हें भी नहीं ममता,
जानती नहीं मैं, अपराध किया मैंने क्या?
रक्खा है तुम्हारे स्कन्द नन्दन को स्वर्ग में
मैंने सदा कैसे यत्न और कैसे प्यार से;
भव में भवानि, इसे कौन नहीं जानता।
किन्तु शचीनन्दन की हाय! ऐसी दुर्दशा
वृत्र ने की, शिव के त्रिशूल के प्रहार से।
माहेश्वरि, आश्रित तुम्हारा वही दैत्य है!''
बोली वह आत्मज से—''मेरा त्राण हो , न हो;
काम नहीं और तुम्हें अस्त्रधारी होने का।
जानती मैं पहले तो क्या तुम्हें सुमिरती?
सौ-सौ वार ऐन्द्रिला के पैर मैं पलोटूँगी,
छोड़ दूँगी स्वर्ग राज्य उसके लिए स्वयं।
देखना न होगा मुझे फिर इन आँखों से
शूल-व्रण कंज-से तुम्हारे इन अंगों में।''
बोला जननी से यह सुनके जयन्त यों—
''छोड़ूँगा तुम्हें क्या अम्ब, मैं व्यथा के भय से?
चिन्ता तजो, सुस्थिर हो, आशीर्वाद दो मुझे,
झेलूँगा स्ववक्ष पर और शत शूल मैं।
स्मरण किया क्यों मुझे, बात नयी क्या हुई?''

तब चपला ने जो हुआ, सब बता दिया,
सुनके जयन्त जैसे जल उठा आग-सा।
फैल गये नयन सरोष, फूले नथुने।
बोली शची—''शीतल हो वत्स, कुछ टहलो;
देखो यह चन्द्रोदय हो रहा है नभ में।
स्वस्थ हो लो तनिक मृगांक-रस-योग से।
भू पर सुधा रस नहीं है वह स्वर्ग का,
यही एक मात्र कलाधर का प्रकाश है।''

पहना परन्तु पुनः कवच जयन्त ने,
घूमने लगा वह विचार-मग्न वन में।

घूमती थी हर्षित हो चारों ओर चपला,
एक ओर दो जन दिखाई दिये उसको।
एक दूसरे से कहता था, सुना उसने—
''दूत, मुझे ले आये कहो तुम यहाँ कहाँ?
नैमिष अरण्य नहीं, यह उपवन है।
नन्दन समान अति आमोदित गन्ध से,
यों ही नहीं, यत्न से सजे लता-वितान ये।
स्वर्ग की-सी काकली से कूजित सुकुंज हैं,
हँसती हैं किरणें, विकास पूर्ण चन्द्र का।
स्वर्ग में ही घूमते हैं हम भ्रम में पड़े,
आये नहीं भूमि पर, नैमिष यहाँ कहाँ?
दूत बोला—''मैं तो यहीं जानता था उसको,
क्या हुआ न जाने यह, दिग्भ्रम न हो कहीं।
बहुत दिनों से मर्त्यलोक नहीं आया मैं,
नैमिष ही कुंज-मय हो गया है, हो-न-हो।''

इतने में चपला दिखाई पड़ी उनको,
''नैमिष ही है न यह?''—पास आके बोले वे।
उत्तर में चपला ने पूछा आप उनसे—
''खोजते हो नैमिष अरण्य तुम दोनों क्यों?
हाँ यह वही है, सुनो, रहती हूँ मैं यहाँ,
इच्छा क्या तुम्हारी कहो, पूरी कर दूँगी मैं।
नन्दन-सा मैंने सजा, यह वन मेरा है;
दूत तुम किसके हो, वह नर वा नारी?
नर नहीं होगा, वह पारिजात धारी है;
हाय! वह स्वर्ग जहाँ वैभव है देवों का।''

भीषण ने सोचा तब होगी यही इन्द्राणी,
बैठी मर्त्य में है रच दिव्य वन माया से।
हर्षित हो बोला वह—''तुम यह फूल लो,
चीन्हो कहीं तुम न, इसी से चिह्न लाया मैं।
देवदूत हूँ मैं देवि, भेजा मुझे इन्द्र ने,

विश्व में विदित तुम हो शची सुरेश्वरी।
स्वर्गोद्धार हो गया है युद्ध में विजय से,
शान्ति अब स्वर्ग में, इसी से सुरराज ने
भेजा मुझे, सादर मैं ले आऊँ तुम्हें वहाँ।
हँस चपला ने कहा—''वार्त्तावह, मुझको
तुम पहचान नहीं पाये, विना सीखे ही
दूत कार्य करने चले तुम, विशेषतः
है अति कठिन दूत होना पुरुहूत का।
मैं यह कठिन कार्य तुमको सिखाऊँगी।
दूत तुम दूती मैं, परन्तु नये दूत से
काम चल जाय, कौन पूछे तो पुराने को।
क्लेश नये से है नया जो संकेत भूला है—''

''शिव शिव!'' बोला फिर दूतदैत्यपति का
''जान लिया—जान लिया, भूल नहीं इसमें,
संगिनी शची की तुम कमला हरिप्रिया।''
''दूत फिर भूले तुम''—बोली हँस चपला—
''रखते हो अन्य कोई परिचय तुम क्या?
मूढ़ सब ओर मूढ़, जान लिया तुमको,
गूढ़ पहचान मणि और रमणी की है।
कमला नहीं हूँ, मैं शची की सखी चपला,
आशा करती हूँ, तुम आये इन्द्र-आज्ञा से;
अन्यथा निराश होगे और जो हो भाग्य में।''
यह कह एक ओर चल पड़ी चपला,
पीछे चला पारिजात पुष्प लिये दैत्य भी।
मुग्ध हुआ भीषण अरण्य शोभा देखके,
चारों ओर फूली-फली उपवन-कक्षाएँ।
कितने विहंग भृंग उनमें विचरते,
तरुण लताएँ मंजु मंजरियाँ कितनी,
नीचे उतरा हो यथा नन्दन विपिन ही!
पत्र-पत्र में थे पुष्प, गन्ध पुष्प-पुष्प में,
गा रही थीं कोकिलाएँ, नाचते मयूर थे—
ऊँचे उठे चन्द्रकों की मालाएँ पहनके,
झाँकती थीं झोंकों से सरों में फुल्ल बल्लियाँ,

गिर-गिर पड़ते थे मधुप मदान्ध से,
स्निग्ध करते थे क़लकण्ठ रव कानों को।
मध्यस्थल में थी शची बैठी वीर वेश में।
नीरद-से निविड़ सुकेश पीठ पर थे,
मुख पर तेज जैसे भानु का उदय हो,
मानो गढ़ी विधि ने गभीरता की प्रतिमा।
दर्शन से उसके दनुज चौंधिया गया,
स्तब्ध गिरा शून्य, श्रुतिशून्य रहा जड़-सा।

विश्व को बनाके अकस्मात जब ब्रह्मा ने
चेतना जगाई नव मानव के चित्त में,
देखा नया प्रात आदि जात उस जन्तु ने,
तब जो विलक्षण-सी उसकी दशा हुई,
आज इस दानव की हो गयी वही दशा!
संज्ञाहीन चिन्ताहीन सुध नहीं अपनी,
प्राण मानो दृष्टि में ही हो गये प्रविष्ट थे!
रह बहु काल जड़ स्तम्भित दनुज ने
मन-मन सोच कुछ पूछा चपला से यों—
''क्या यही है इन्द्राणी पुरन्दर की गृहिणी?''
''हाँ, यही हैं देवराज्ञी''—चपला से सुनके
भीषण ने मन में विचार किया, ''वस्तुतः
इन्द्राणी यही है महारानी स्वर्ग राज्य की।
ऐन्द्रिला क्या किंकरी की किंकरी भी इसकी
जान नहीं पड़ती है? धन्य शक्र धन्य हो,
जिनके यहाँ है यह ऊषा तमोहारिणी।''
सोचा फिर उसने—मैं कैसे इसे ले जाऊँ,
देखकर जिसकी प्रभा ही मैं अचल हूँ?
कैसे छुऊँ उसको मैं, जान नहीं पाता हूँ,
सिद्ध नहीं हो सकता कार्य यह मुझसे।''
उसने बहुत सोचा फिर भी न समझा,—
कैसे अमरावती में ले जाऊँ शची को मैं।

ऐसे में इतस्ततः विचरते जयन्त ने
भीषण को देखा वहाँ—''रे रे दैत्य कपटी!''

कह वह दौड़ा करवाल लिये काल-सा,
बोला देख भीषण की ओर क्रूर दृष्टि से—
''करता हूँ संवरण खड्ग क्षण भर मैं,
चल अभी कानन के बाहर—अभी—अभी!
जननी का वासस्थल योग्य नहीं युद्ध के;
ठीक नहीं नारियों के आगे युद्ध करना।
चल खल, वर्वर, विलम्ब मत कर तू।''
भीषण की चिन्ता गयी देखके जयन्त को,
हो गया भयंकर विकट रूप उसका।
ऊँचा कर शेल किया सिंहनाद उसने,
होता है घनों का घोर घर्घर ज्यों शून्य में।
''अन्तरित हो माँ!''—कह वेग से जयन्त ने
खड्ग को हिलाकर गरजके, तरजके,
भीषण प्रहार किया, क्षण भर शून्य में
खेली असि और गिरी दैत्य पर गाज-सी।
अलग-अलग रुण्ड-मुण्ड हुए अरि के,
विकट निनादी भट कट गिरा शाल-सा,
वा आग्नेय शैल श्रृंग टूटा फट अग्नि से।
शब्द सुन दौड़ आया संगी दैत्य उसका,
देख उसे शक्रसुत बोला यों उपेक्षा से—
''तुच्छ है तू किंकर, छुऊँगा मैं न तुझको,—
जा, बताना वृत्र को, जयन्त के कृपाण से
तेरा भट भीषण पड़ा है कट धूल में।
और जिसे चाहे वह भेजे फिर लड़ने,
ले जा यह मुंड, भेट देना दैत्यराज को।''
फेंक दिया उसने उठाके सिर शत्रु का,
भौचक-सा वृत्र-चर भाग गया भीत हो;
जीत यों जयन्त जननी के पास आ गया!

षष्ठ सर्ग

सागर के चारों ओर, सिकता की राशि-सी
छा गयी अमर-सेना इन्द्रपुरी घेर के।
सिकता चमकती है भानु-किरणों से ज्यों,
दमक रही है वह तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों से।
दीप्ति गिरि-राजियाँ हैं पास और दूर की,
अस्तोदय शैल-शृंग उज्ज्वल हैं आभा से।
ऐसा लगता है, उग मानो सब ओर से
झलमल हो रहे हैं तारक अनन्त में।

पुर परकोटों पर घूमते असुर हैं,
उपल-शिला-से पीन वक्षस्थल जिनके।
भीम तेज वाले हैं, असीम दर्प वाले हैं,
शस्त्र लिये गरज रहे हैं दीर्घ देह के,
सजग सुसज्ज रण-हेतु मार्ग मार्ग में।
आ रहे हैं—जा रहे हैं, स्वर्ग को हिलाते-से!
ढँकके सुमेरु और वैजयन्त ढँकके,
व्योम को विदारता है सिंहनाद उनका।

युद्धानल जलता है देव और दैत्यों का,
अविरल रात-दिन अस्त्र वृष्टि होती है।
गिरती बिजलियाँ हैं, पड़ती शिलाएँ हैं,
आकुल अनन्त और व्याकुल दिगन्त है।
दोनों दृढ़ निश्चयी हैं। सिन्धु के प्रवाह ज्यों
थमते नहीं हैं गतिशील दल दोनों के।
स्रोतस्विनी धारा-सी प्रवृत्तियाँ हैं दोनों की,

जाती लक्ष-सागर की ओर अविराम हैं।
किंवा महीमण्डल ज्यों नित्य एक गति से
घूमता है शून्य में अनुक्षण रुके विना।
ऐसी गति उनकी, अटूट जैसी होती है
नीरव तरंग-गति, काल के प्रवाह में।
यों विराम हीन देव-दैत्य-रण स्वर्ग के
बाहर विलक्षण प्रकार से है चलता।
हार-जीत निश्चित नहीं है किसी पक्ष की,
कभी एक पक्ष बढ़ता है, कभी दूसरा।

गरज सभा में वृत्र बोला यों सुमित्र से--
''हारे नहीं अब भी अमर, स्वर्ग घेरे हैं;
सिंह के निवास में शृगाल घुस आये हैं;
निर्भय हृदय होके बल दिखला रहे।
मत्त गज-शुंड पर तुंडाघात करके
आस्फालन करते हैं श्वापद ये अब भी।
दैत्य नाम को है धिक आज, सुनो सैनिको;—
अस्त किया अमरों ने दैत्यों को समर में,
शौर्य-वीर्य-विक्रम तुम्हारा वह क्या हुआ,
जिसके प्रभाव से थे दैत्य चिर विजयी।
जीत कर युद्ध में ससागरा वसुन्धरा
विक्रम प्रकट किया वार-वार किसने?
विश्व में है कौन कहाँ ऐसा कहो, मैं सुनूँ,
भय से न काँप उठे दैत्य नाम से ही जो।
देव-दम्भ दूर किया स्वर्ग जीत दैत्यों ने,
भेजा उन्हें शश-सा खदेड़ रसातल में।
कल के पराजित वे आज फिर आये हैं;
उनको न जीत नाम तुमने डुबो दिया।
अच्छा, आज रण में उन्हें मैं स्वयं देखूँगा,
मेटूँगा सदा को जूझने की हौंस उनकी!
लाओ रे त्रिशूल शिवदत्त मेरा विजयी!''
गर्जा शूर सिंहसम शूल धर शूली का।
स्तब्ध सब होके मुख देखा किये उसका,
देखता है जैसे गजयूथ गजराज को,

जब वह वृक्ष बड़ा सूँड़ से उखाड़के,
नभ में उठाके उसे गर्जता है गर्व से।

बढ़ तब वृत्रपुत्र रुद्रपीड़ नाम का,
मानिक का गुच्छा जड़ा जिसके मुकुट में,
इन्द्रायुध छोड़के अभेद्य तन जिसका,
हाथ जोड़ नत हो पिता से कहने लगा—
''दैत्यकुलनाथ, जयी तात, पुत्र प्रार्थी है।
आज्ञा मिले मुझको, मैं जाऊँ आज युद्ध में।
ले लेंगे यशस्वि, यदि सारा यश आप ही,
कैसे हम आत्मज तो पा सकेंगे उसको?
इतना बड़ा जो नाम आपने कमाया है,
क्योंकर उसे रख सकेंगे हम, सोचिए?
जन्म वृथा, कर्म वृथा, ख्याति वृथा वंश की।
व्यर्थ है तनय होना कीर्तिमान जन का,
नित्य स्मरणीय यदि वह भी न हो सके,—
जीवन में जीवन के अन्त में जगत में।
मातृ-पितृ-भाग्य-भोग व्यर्थ पद सम्पदा;
पुत्र अकर्मण्य एक बुद्‌बुद, बना-मिटा!
विजयी पिता का पुत्र विजयी न हो स्वयं,
तो रख सकेगा पद-गौरव क्या अपना?
घूमता फिरेगा वह अन्त में शृगाल-सा,
दानवों से मानवों से देवों से घृणित हो।
भीरु को भी वीर यशोलिप्सा बना देती है;
जीवन भी स्वर्ग भी सुयश ही है वीर का;
बाँधे उस यश का किरीट पितः, पुत्र भी।
पाऊँ अभिषेक आज सेनापति-पद का,
त्रिंशति त्रिकोटि देव आकर प्रणत हों;
इन चरणों की रज सिर पर रक्खें वे।
जान लें, अजेय नहीं एक दैत्यपति ही
एक जन और भी है, आत्मज जो उनका।''
पुत्रमुख ओर देख हर्षित हो हँसके
बोला वृत्र—''रुद्रपीड़, जो तुम्हारी इच्छा है,
पूर्ण करो, बाँधो यशोरश्मियाँ मुकुट में।

चाहता नहीं हूँ मैं तुम्हारा यश हरना,
धन्य तुम विश्व में हो, और भी सुधन्य हो!
तात, तो भी यश नहीं, मेरी युद्ध-साध का
हेतु कुछ और ही है; कैसे मैं कहूँ उसे।
अगणित ऊर्मिमय अम्बुधि की गर्जना
जैसी सुखदायिनी है तीरस्थित जन को,
गहरी निशा में घिरी घन की घनी घटा
कौंधे से विदीर्ण हुई जैसा सुख देती है,
अथवा गंगोत्री के उफनते प्रवाह में
टूट गिरते हैं शैल-शृंग घोर रव से
कर जब कम्पित धरा को धराधर को;
अद्भुत पुलक पूर्ण दृश्य वह पार्श्व से
देखने में जैसा सुख वत्स, मुझे वैसा ही
सुख मिलता है रण-रंग की तरंगों में।
वह सुख और समुत्साह आह! कब से
स्वर्ग जीतने के बाद मैंने नहीं पाया है।
दुःख यही, जीतने को और अब शेष क्या,
मेरा मन म्लान, मानो नोक पर शूल की
समर-विरति का कलंक चिह्न आ गया।
जाओ वीर, युद्ध में, तुम्हारा अभिषेक मैं
करता हूँ सेनापति-पद पर हर्ष से।
लेकर नवीन यश शत्रुओं को शास्ति दे
लौट मेरे सम्मुख खड़े हो इसी रूप में।''
पितृ-पद धूलि ली प्रफुल्ल रुद्रपीड़ ने।

आया इतने में दूत नैमिष अरण्य से,
प्रश्न किया वृत्र ने—''तू लौट कैसे आ सका?
इन्द्राणी कहाँ है और भीषण रहा कहाँ?''
होके कुछ स्वस्थ समाचार दिया दूत ने,
नीरस पलास जैसी काँपती थी रसना;—
''लौटा जब मैं यहाँ प्रभो, सुदूर स्वर्ग से
हिमगिरि होता हुआ, देखी तब पहले
तुंग शैल शृंगों पर अमर-अनीकिनी।
आगे बढ़ा जैसे बना कौशल से, छल से,

आ पहुँचा श्रान्त-सा पुरी के प्रान्त भाग में।
आकर प्राचीर के समीप सोचा मन में,
सूर्यादिक देव यहाँ सतत सतर्क़ हैं।
सूझी एक युक्ति उस कठिन प्रसंग में,
हिमगिरि-पार महिषी की पितृभूमि में
घोर युद्ध हो रहा है असुरों-गन्धर्वों में,
महिषी-समीप मुझे उनके पिता ने ही
भेजा-वृत्त देने और लेने को सहायता।
माना इसे देवों ने प्रसाद-चिह्न और मैं
पाकर प्रवेश इन चरणों में आ सका।''
''दूत, झूठी बात तेरी, सूर्यादिक देव क्या
भीषण के साथ शची को न पहचानते?''
जिह्वा जड़ीभूत हुई यह सुन दूत की,
लटका हो पेड़ से ज्यों पत्ता भीग वर्षा में।
बोला तब वृत्र-मन्त्री—''पीछे छोड़ उनको
ऐसा तो नहीं जो दूत आगे बढ़ आया हो,
सच्चे समाचार दौड़ते हैं तड़िद्गत से।''
''हाय! यही होता कहीं'' आह भरी दूत ने,
बोला नत नेत्र वह—''व्यर्थ यह आशा है,
नैमिष में निर्भय जयन्त सह है शची,
दैत्येश्वर, कैसे कहूँ, भीषण निहत है।''
''भीषण निहत!'' वृत्र बादल-सा गरजा,—
''रे रे रे जयन्त बाल, तेरा दम्भ इतना!
एकाकी हमारे साथ लड़ने चला है तू।
रुद्रपीड़, प्रबल तुम्हारी यशोलिप्सा है,
तृप्त करो उसको दो आहुति जयन्त की।
लाना है शची को अविलम्ब, न हो अन्यथा।
जाओ साथ लेकर सौ सैनिक चुने हुए।''
सचिव सुमित्र तब बोला कर जोड़के—
''विस्तृत पुरी को प्रभो, देव-सेना घेरे है
भेद उसे सहसा कुमार कैसे जावेंगे?
जीतकर जाने में विलम्ब अनिवार्य है;
जाना ही नहीं है, लौटना भी है कुमार को।
देवगण निश्चयी, अभीत अन्य अस्त्रों से,

शिव के त्रिशूल विना मूर्च्छित न होंगे वे।
तो क्या स्वयं आप भी पधारेंगे समर में?''
''मन्त्रि, सेनानी है रुद्रपीड़, मैं न जाऊँगा,
दूँगा मैं इसी को शिवदत्त शूल अपना,
लेकर उसे यह अवाध आवे-जावेगा।''
देने को त्रिशूल रोका उसको सुमित्र ने—
''कैसे पुर रक्षा प्रभो, होगी उसके विना,
संकट पड़ा तो दैत्य होंगे असहाय-से।''
भौंहें चढ़े भाल पर रख दो अँगुलियाँ
वृत्र ने सगर्व कहा—''मंत्रिवर, वृत्र का
जब तक भाग्य यह है, क्या भय उसको?
बाँका नहीं होगा कहीं मेरा एक बाल भी,
उसको असाध्य क्या है भाग्य भला जिसका।
वीर रुद्रपीड़,—तुम लो इस त्रिशूल को।''
बोला रुद्रपीड़—''तात, शूल आप रखिए,
मुझमें नहीं है रुद्रतेज योग्य इसके।
क्यों ले वह अस्त्र वीर, काम में न आवे जो।
किन्तु महामन्त्रि, तुम व्यग्र हो क्यों इतने?
भूल गये क्या तुम, अभेद्य मेरा गात है
इन्द्रायुध छोड़कर,—इन्द्र यहाँ है नहीं;
करके स्वकार्य शीघ्र लौटूँगा अवाध मैं।''
ऐसे समाधान कर मन्त्री और तात का
सज्जित सुवीर चला साथ ले सौ शूरों को।

मन्त्रणा की सबने, पुरी के द्वार रुद्ध हैं,
युद्ध कर जायें किंवा जैसे दूत आया था,
जिसमें विलम्ब न हो, निश्चय रहा यही।
रुद्रपीड़ युद्ध के ही पक्ष में था, उसकी
तीव्र इच्छा हो रही थी यश की, विजय की।
सहज घृणा थी छल-कौशल से मन में।
किन्तु साथियों का मत मानना भी ठीक था,
आगे युक्ति पीछे शक्ति, रीति यह नीति भी।

श्वेत केतु लेके गया दूत देवसेना में,—

''दैत्येश्वरी ऐन्द्रिला के तात की सहायता
करने सौ एक शूर जा रहे हैं और वे
मार्ग चाहते हैं यथारीति''—कहा उसने।
देवों ने विचार किया, वरुण विरुद्ध थे,—
''बाहर जा दानव करें न कुछ दुष्टता।
दुष्ट हैं सहज ही वे, क्या भरोसा उनका?''
भानु बोले—''जायँ वे, परन्तु रहें उनके
पीछे देव योद्धा जो उन्हें फिर न आने दें।''
अग्नि बोले—''जाने दिया जाय उन्हें वा नहीं,
मेरे लिए दोनों में विभेद नहीं कुछ भी।
शत्रुओं से समर कहीं भी हो—यहाँ वहाँ,
नहीं आता-जाता कुछ आगे और पीछे में।''
चंचल समीर-मन सुस्थिर न हो सका,
जिसने कहा जो वही ठीक माना उसने।
सेनापति अग्निभू ने कहा यही अन्त में,—
''शत्रु को अशक्त करना ही युक्ति युक्त है,
अच्छा है, यहाँ से विघ्न-बाधा टले जितनी।''
अनुमति पाकर प्रयाण किया दूत ने,
इष्ट समाचार जा सुनाया रुद्रपीड़ को।
हो गये प्रसन्न सब, और चले शीघ्र ही
नैमिष अरण्य को, जहाँ शची-जयन्त थे।

सप्तम सर्ग

इधर कुमेरु पर सुरपति शक्र ने
करके नियति-पूजा चारों ओर दृष्टि की।
देखके नया-सा विश्व विस्मय हुआ उसे,
बोला वह—"बीत गया काल अहा इतना!
होकर युगान्त नयी सृष्टि मानों हो गयी,
और परिवर्तित हुआ है सब पूर्व का।
चिह्न भी कुमेरु पर थे न जहाँ तृण के,
अभ्रभेदी विटपि खड़े हैं घने कितने।
समतल भू थी जहाँ, भूधर अड़े वहाँ
और जहाँ सागर था, शुष्क मरुस्थल है।
कितने नक्षत्र-ग्रह उदित नये-नये,
सूर्य भी कहीं का कहीं स्थानच्युत-सा हुआ!
इतना समय बीता पूजा में नियति की,
देखूँ और कब लौं न होंगी अनुकूल वे।
पूजता रहूँगा कल्प-कल्प सब भूल मैं,
जानके रहूँगा विधि वृत्रासुर-वध की।"
पूजा का विधान किया पुनरपि इन्द्र ने,
प्रकटी नियति शिला-मूर्ति, क्रूरलोचना।
चिह्न न था उसमें दया का कहीं कोई भी;
भावि-पट हाथ में था, देखती उसी को थी।
बोली रूक्ष वाणी एक वार देख इन्द्र को,—
"व्यर्थ श्रम शक्र, मैं न रुष्ट हूँ, न तुष्ट हूँ।
लेख यह आदि में ही स्रष्टा ने दिया मुझे,
कर नहीं सकती इसे मैं व्यर्थ रंच भी।
इसके विरुद्ध कुछ हो तो विश्व नष्ट हो,

ध्वस्त धरा, शून्य सिन्धु, शैल क्षार-खार हों।
सुर नर चन्द्र सूर्य अणु परमाणु भी
उलट-पुलट जायँ, तीनों लोक बिलटें।
खोकर विपत्ति में विवेक तुम भ्रान्त हो,
सम्भव नहीं है शक्र, साधना असाध्य की।''
''चाहता नहीं मैं देवि, भाग्य-लिपि काटना,
तुम जो न दे सको, उसे भी नहीं माँगता
कैसे वृत्र-नाश होगा और कब देवों की
दुर्गति मिटेगी, कब स्वर्ग हम पायँगे?''
''तुम हो सुरेश, तुम्हें इतना बताती हूँ,
वृत्र का विनाश होगा ब्रह्मा के दिनान्त में।
जाओ शिव-निकट, विशेष वे बतायँगे।''
अन्तर्हित हो गयी नियति, इन्द्र पुलका।
तत्क्षण बुलाके वह बोला स्वप्न दूत से,—
''भद्रभाषी देवदूत, जाओ जहाँ देव हैं,
कहना यों उनसे—मैं पूजा सांग करके
इतने दिनों में यहाँ जागा हूँ समाधि से।
नियति प्रसन्न होके प्रकट बता गयीं,—
वृत्र का विनाश होगा ब्रह्मा के दिनान्त में,
कह गयीं, अन्य तथ्य शंकर बतायँगे।
मैं कैलास जा रहा हूँ उनके निदेश से,
लौटके वहाँ से शीघ्र आ मिलूँगा तुमसे।''

वासव कैलास गया, दूत चला स्वर्ग को,
देव यहाँ आपस में करते विवाद थे।
वृत्र ने क्यों और कहाँ भेजा निज पुत्र को,
और जाने देना उसे ठीक हुआ वा नहीं।
लेकर इसी को तर्क हो रहा था उनमें,
छल गया शत्रु हमें कोई यह मानता।
संशय किसी को रहा, कोई द्विधाहीन था।
चिन्तित वरुण बोले—''मर्त्त्य में हैं इन्द्राणी,
असुर अनर्थ वहाँ जाके न करें कहीं!''
कुछ ने की चिन्ता व्यक्त, कुछ ने उपेक्षा की।—
''देख आवें क्यों न कोई तथ्य?'' कहा स्कन्द ने

''जो कर्त्तव्य होगा जब, पूरा किया जायगा।''
''किन्तु कुछ हो चुका हो तो फिर उपाय क्या?''
उग्र मूर्ति अग्नि बोले—''तर्क काल खोना है,
दैत्य-दाह करने को मैं अकेला जाता हूँ।''
सूर्य बोले—''आवश्यक हो तो ध्यन मात्र से,
एक देव अन्य को बुला सकेगा मर्त्य में।
अस्तु एक दूत भेज देना ही बहुत है।''
ऐसे ही समय वहाँ इन्द्र-दूत आ गया,
तर्क छोड़ उत्सुक इकट्ठे सब हो गये।
इन्द्र का सँदेसा दूत देने लगा उनको,
दूसरा अमृत-सा—''मैं पूजा सांग करके,
इतने दिनों में यहाँ जागा हूँ समाधि से।
नियति प्रसन्न हो बता गयीं प्रकट में—
'वृत्र का विनाश होगा ब्रह्मा के दिनान्त में।'
कह गयीं, अन्य तथ्य शंकर बतायँगे।
मैं कैलास जा रहा हूँ उनके निदेश से,
लौटके वहाँ से शीघ्र आ मिलूँगा तुमसे।''

देव सब एक साथ पुलकित हो गये;
युद्ध में दिखाने चले दर्पोत्साह दुगुना।
उद्यत था शूलध्वजधारी दैत्य दल भी।

अष्टम सर्ग

बैठी वैजयन्त के अनोखे एक कक्ष में
रुद्रपीड़-रामा इन्दुबाला शोच-मग्ना है।
पल्लव लता-सी लगती है कान्त कोमला,
माधुरी तरंग अंग-अंग से उछलती।
गूँथने की डोरी लिये पास बैठी रति है,
ऊरु पै अपूर्ण माला, फूल सब ओर हैं।
केश मुख, ग्रीवा और वक्ष पर फैले हैं,
मानो अर्द्ध चन्द्र घेरे मेघ लहराते हैं।
भाल पर स्वेद-विन्दु धारे बधू सुन्दरी,
रति को विलोक बोली अर्द्ध भग्न स्वर से—
"कब तक स्वर्ग आना सम्भव है मर्त्य से?
क्या शची के साथ कोई रक्षक अमर है,
है तो वह कैसा धीर वीर बलशाली है?
विमना बधू ने कर रख मणिबन्ध पै,
परख सुहाग कहा—"शिव शिव!" चौंकके
बोली रति—"इन्दुबाले, सोच करती हो क्यों?
पति रणकुशल तुम्हारे, कार्य साधेंगे,
आकर मिलेंगे फिर शीघ्र यहाँ तुमसे।
वीर पत्नी तुम हो, डरो न दैत्य-नन्दिनी!"
लेकर उसाँस बोली बाला साश्रुनयनी—
"वीर-पत्नी पुजती है, सुनती हूँ सबसे;
किन्तु भय हाय! कौन जानता है उसका,
सोचता है कौन, कैसे वीर बधू होती है?
उसकी मनोगति क्या, वीरपति जिसका।
रोकती हूँ कितना, न जानें रण-पण क्या,

और यशःस्वाद कैसा, तृष्णा नहीं मिटती!
पल-पल जलती हूँ चिन्ता-भयानल में,
आती नहीं आँच भी क्या उनके हृदय में?"
उठ वह डोल उठी ढुलमुल गति से,
गेह-सज्जा देखने लगी मन भुलाती-सी—
"आहा! यह जातिपुष्प अति प्रिय उनको।
मन इस मंच पर बैठने को होता है।"
बैठी वह भूली-सी—"आहा! ये शस्त्र उनके,
यह कटिबन्ध, कै-कै वार बाँधे खोले हैं
मैंने उन्हें ये सब; उन्होंने कहा मुझसे—
'तुमको सजाके युद्ध करना सिखाऊँगा।'
यह है कवच, शिरस्त्राण यह, बाण ये,
यह असि मैंने कसी उनकी सुकटि में।
प्रिय सब शस्त्र ये उन्हें हैं और मुझको।
एक दिन बाँध इन्हें हर्ष उन्हें दूँगी मैं।
आहा! यह पुष्पचाप काम का दिया हुआ,
पुष्पशर कितने उन्होंने मुझे मारे हैं!
शुष्क गन्धहीन यह आज उन हाथों से
वंचित, निरत हैं वे घोर रण-रंग में।
सबमें सदय हैं वे, युद्ध में अदय हैं।
मृदु मन उनका कठोर कैसे होता है?
मैं भी रमणी हूँ और रमणी शची भी है,
फिर क्यों गये वे दया छोड़ उसे धरने।
क्या होगा शची का, पति पास नहीं उसके?
अति बली मेरे पति, यदि यों विपद में
मैं भी पड़ जाऊँ कभी, सोचकर इसको
घर में भी बैठी हुई काँप उठती हूँ मैं।
एकाकिनी वन में शची की क्या दशा होगी?
दासी न थी सेवा के लिए क्या यहाँ सास की?
जो ब्रह्माण्ड स्वामिनी हैं दानवेन्द्र महिषी,
उनको भटकना हो किंकरी के अर्थ यों!
सेवा करती मैं स्वयं जो वे कहतीं वही,
साध-निधि उनकी भरेगी क्या शची से ही?

स्वर्ग में क्यों आये हम, देश था हमारा भी।
देके पर-पीड़ा यश लेके यह हाय रे!
आशा क्या हमारी नहीं पूरी हुई अब भी?
लौट चलें दैत्यपति देकर जो जिसका,
रति, तो रहे क्यों यह मुँह जली यातना।''
बोली रति–''आहा! तुम दैत्यकुल-मणि हो
देख विना दुःखिनी शची के लिए इतनी,
देखती उन्हें तो व्यथा कितनी न मानतीं,
जान पड़ता है, यहाँ क्षण भी न रुकतीं।
अंगों की गठन वह, कान्ति वह मुख की,
चारु ग्रीवा, ऊरु तथा उरस अनन्य जो,
और वह गरिमा जड़ित गति उनकी,
पूर्णशशिमूर्ति वह इन्द्राणी सुरेश्वरी
देखी जिसने है एक वार, नहीं भूलेगा।
देखेगी रति उस शची को दग्ध नेत्रों से
किंकरी के रूप में उसी के इस धाम में!''
बोली सुकुमार मति इन्दुबाला–''रति, हा!
ऐसी ललना भी किंकरी बनाई जावेगी,
कैसी कामना है यह दैत्य महारानी की?
ले चलो धरा पर मुझे हे काम-कामिनी,
जाकर मैं चरण धरूँगी निज नाथ के।
होने नहीं दूँगी उन्हें निर्दय-हृदय यों,
मेरी विनती न ठुकरायँगे वे, मानेंगे।
व्यर्थ कहाँ प्रिय के समीप प्रिया-प्रार्थना।
युद्ध-साध ऐसी उन्हें तो पूरी करूँगी मैं,
भेजूँगी उन्हें यहाँ, रहूँगी आप वन में।
पौरुष क्या अबला को बल दिखलाने में,
ले चलो धरा पर मुझे हे रति, ले चलो!''
''दैत्यकुलवाले, यह सम्भव है क्या कभी,
बाहर हैं वैरी सुर, भीतर असुर हैं।''
बोली सती–''कैसे फिर लौटेके वे आयँगे,
सजनि, अवश्य कोई मार्ग होगा जाने का।''
''व्यूह भेद जायँगे, तुम्हारे पति वीर हैं;
जानती नहीं हो सुकुमारि, युद्ध तुम तो।''

सिहर गवाक्ष के समीप गयी आतुरा,
आतंकित शंकित हो बोली कामवामा से—
''जान पड़ता है रत, हो रहा है युद्ध ही,
यह सुनो कोलाहल देव और दैत्यों का।
होता है तुमुल युद्ध क्या यहीं से मार्ग है
भूमि पर जाने का? पताका प्राणनाथ की
लगती मुझे है यह शून्य में फहरती,
शंकर के शूल-चिह्न वाली सुविशाल जो।
क्या हुआ न जानें हाय! अब तक, ऐसे में
कैसे स्थिर होऊँ रति, जान नहीं पाती हूँ।
आलि सुनो, कैसा यह घोर सिंहनाद है,
अग्निमय आयुधों ने व्योम ढँक रक्खा है।
नृत्य हो रहा है यह मानो रण-चण्डी का,
मानो लाल आग की शिलाएँ ताल दे रहीं!
हाय! कैसे जानूँ, कौन जूझता है किससे?
पति क्या यही हैं रति, उर अकुलाता है।'''
''युद्ध कहाँ इन्दुबाले, स्वप्न देखती हो क्या?
रुद्रपीड़ भू पर गये हैं, सुन आयी मैं,
भ्रान्ति यह केवल तुम्हारे चल चित्त की।''
सुन कुछ शान्त हुई इन्दुबाला, बोली यों—
''कैसे सहूँ आलि, यह ज्वाला नित्य-नित्य की,
कटते हैं रात-दिन दैत्य-भट कितने।
लगता है, एक दिन अन्त न हो सबका।
कितनी असुरजायें हो गयीं अनाथिनी,
पुत्रहीन हो गये न जाने कितने पिता,
घायल हो मूर्च्छित हो कितने बली पड़े।
युद्ध से क्या लाभ, यह सोचकर देखें जो,
तो क्या उसे मानें कभी आकर सुयश का?
जन्म दैत्यकुल में दे भाग्य ने छला मुझे,
सच कहती हूँ, दिन-रात दहती हूँ मैं।''
''पारिजात-कलिका-सी तुम हो सुकोमला,
इन्दुबाले, पति क्यों तुम्हारे यों कठोर हैं?''
''मत कहो रति, यह, तुम नहीं जानतीं,
देखी नहीं शैल में सुधाम्बुधारा तुमने?

लेकर शची को तुम दोष न दो उनको,
वे हैं वीर युद्धप्रिय लौट उन्हें आने दो।
मेटूँगी शची की व्यथा-वेदना मैं आप ही,
जाकर मैं शुश्रूषा करूँगी स्वयं उनकी।
दूँगी उन्हें लाकर मैं जो कुछ वे चाहेंगी,
महिषी की दासी उन्हें होने नहीं दूँगी मैं,
निश्चय ही। खेद छोड़ो, जाओ निज वास को;
भूले पति-दोष शची—ऐसा ही करूँगी मैं।
सोचती थी, व्यर्थ और फूल नहीं गूँथूँगी,
किन्तु अब नये-नये हार बना रक्खूँगी।
लेकर शची को प्राणनाथ जब लौटेंगे,
उनके गले में पहनाऊँगी उन्हें यहाँ।
और पहनाऊँगी शची को अश्रु पोंछके,
पत्नी विना कौन मेटे पति की मलिनता।''
यह कह बैठ गयी बाला माला गूँथने
लेकर कुसुम-राशि, देख रति बोली यों—
''इन्दुबाले, हार गूँथना क्या तुम्हें आता है?
रति निज हाथों फूल गूँथ जिन्हें देती थी,
तो भी जी जुड़ाता न था, भूरि देवकन्याएँ
सेवा कर जिनकी सुमेरु उजलाती थीं,
आके यहाँ होंगी वही ऐन्द्रिला की सेविका।
देके फूल हार यह दुःख तुम उनका
मेटोगी, बड़ी ही भली और भोली तुम हो!
फूल रज्जु से भी उन्हें पीड़ा नहीं होगी क्या,
दलके प्रथम मूल अंकुर उगाओगी?
दुःखित की पूजा उसे और दुःख देती है।
सिंही घिर आ रही है डाले पद-शृंखला,
यह भी अभाग्य-वश देखना पड़ा मुझे।''
रोती हुई रति अति दुःख से चली गयी,
भीग गयी आप करुणा से दैत्य-नन्दिनी।

सुन मृगयी का शब्द दूर मृगी वन में
चंचल चकित मृत्यु देखे पल-पल में
जैसे, फूल गूँथती हुई भी पति-चिन्ता से
चौंक-चौंक इन्दुबाला हो उठी भयातुरा।

नवम सर्ग

इधर विरोध विना आगे बढ़े सौ बली,
उदयाचलाद्रि हिमवन्त वाले मार्ग से।
शृंग-शृंग पार कर भूमि पर उतरे,
नैमिष अरण्य नियराने लगा क्रम से।

लेकर जयन्त को शची थी अति चिन्तिता
पूछने लगी वह सुरों की बात उससे,—
"अमर कहाँ हैं, कहाँ अमरों के ईश हैं,
क्या हैं समाचार ऊर्ध्व और अधोलोक के?
अमरों की अंगनाएँ आज कहाँ कैसे हैं,
कब तक सम्भव है आपस में मिलना?
आयुध उठाये फिर क्या तुम्हारे तात ने,
किंवा वे नियति की ही पूजा में निमग्न हैं?"

इतने में सिंह भी जिसे सुन सशंक हों,
असुरों का सिंहनाद गूँज उठा नभ में।
काँप उठे गिरि-वन, शक्रसूनु सुनके
दौड़ा उस ओर वृषनाद सुन वृष-सा
झंझारम्भ में ज्यों पंख फैलाकर दम्भ से
सन-सन शब्द सुनता है श्येन, अथवा
विद्युच्छटाच्छन्न घटा-घोर जैसे सुनके,
सुप्रसन्न उच्चैःश्रवा ग्रीवा भंग करता
है, किंवा फणीन्द्र फुफकार सुन हर्ष से
फैलाता सगर्व निज पक्ष पक्षिराज है,
असुर-विराव सुन भाव हुआ वैसा ही,

वासव-तनय नित्य निर्भय जयन्त का!
आगे बढ़ा वीर वन छोड़कर गर्व से।
कालानल तुल्य अंग-अंग की तरंगों की
किरणों से ग्रीवा मुख खड्ग चर्म चमके।
बोला वह क्षण भर घूर रुद्रपीड़ को—
"बहुत दिनों में रण-रंग की तरंगों में,
दैत्यसुत, आज यहाँ भेंट हुई तुझसे।
दानवों के साथ युद्ध-क्रीड़ा के अभाव में,
व्यर्थ पड़े शस्त्र देख मेरा मन दुःखी था।
दूर वह दुःख होगा आज मिल तुझसे,
बहुत दिनों का दाह आज जुड़ा जावेगा।
जूझने का जी न हो तो कौन जूझ पावेगा?
आशा पूर्ण होती नहीं लड़के पतंगों से।
भंग करे जो न गिरि-शृंग गज गर्व से,
तो वृथा ही शक्ति का प्रकाशन है उसका।
लाज गत युद्ध में मिली थी सुर वृन्द को,
पूर्णाहुति दूँगा यहाँ आज उस क्षोभ में।
भूला तू जयन्त-बल, आज जान जावेगा।
रुद्रपीड़, तेरे साथ लड़ने में सुख है।
किन्तु आज वीर नहीं चोर बन आया तू।
होती है इसी से घृणा मारने में तुझको,
सच्चा सुख आज मेरा मन नहीं पायगा।
करूँ तेरे साथी तुच्छ मच्छरों की निन्दा क्या,
साल तरु पाकर एरंड कौन काटेगा?
धौंस तेरी संगर की, हौंस निज मन की,
इच्छा सुरनाथ की करूँगा सब पूरी मैं।"
जलकर क्रोध से कहा यों रुद्रपीड़ ने—
"युद्ध की प्रथा भला जयन्त, तू क्या जानेगा?
अन्यथा न होगा वृत्रनन्दन से कुछ भी,
धीरु-धर्म, वीर-कर्म जानता हूँ सब मैं।
स्वर्ग के समेत सुरवर्ग जीता हमने,
वह हम दानवों का आज तुच्छ दास है।
वासव की वनिता है दास-वनिता स्वतः,
उचित नहीं जो वह हो न प्रभुधाम में।

देगा हमें युद्ध क्या तू युद्ध जानता भी है?
जानता अवश्य कुछ तेरा बाप इन्द्र है।
और जानते हैं देव युद्ध क्या है दैत्यों का,
सब कुछ हार जो पड़े हैं रसातल में।
लज्जा नहीं आती तुझे निन्दा करते हुए,
रण में त्रिलोकजयी वृत्र के कुमार की?
तू निर्लज्ज छूने चला फिर उस अग्नि को,
इतने दिनों तक छिपा था डर जिससे।
तो आ, धर शस्त्र, कर युद्ध बता—किससे
हममें से जूझने को मूढ़, तेरा मन है?''
''व्यर्थ है विलम्ब, एक संग सब आ जाओ;
जूझकर देखो, इन्द्र-सा ही इन्द्रसुत है।''
उच्च सिंहनाद किया यों कह जयन्त ने,
अभ्रभेदी शृंग-रव दानवों ने भी किया।
टंकारे धनुष एक साथ शत शूरों ने,
और घननाद के समान भरी हुंकारें।

होने लगा युद्ध, शर छूटे सन-सन से,
अन्य सब शब्द रणध्वनि में समा गये।
संघर्षण हो रहा था मानो अद्रि-अद्रि में,
आन्दोलित होने लगी सृष्टि शर-वृष्टि से।
मूसल द्रुघण शल्य भल्लादिक ओलों-से
शस्त्र बरसाने लगे दानव, जयन्त के
छूटे तमोहारी शर, टूटते हैं तारे ज्यों।
भागे मृग-सिंह वन छोड़ गिरि-गर्भों में।
पंखों को समेट डर पंछी गिरे डालों से।
धूल उड़ी, अन्तर रहा न दिन-रात में;
उगली गर्भस्थ ज्वाला विश्वम्भरा भूमि ने;
दीप्त शेल शूल शर क्षिप्त दोनों ओर से
छूटे, नभ छिन्न हुआ घात-प्रतिघात से।
काँपी छहरा के क्षोणि, हहराके नदियाँ
उफन-उफन बाँध तोड़ बहने लगीं!
घूर्ण हुआ शून्य, क्षुण्ण गिरि गिरे चूर्ण हों।

देवासुर युद्ध हुआ आधे दिन तक यों,
तब खर खड्ग ले जयन्त महा वायु-सा
किंवा क्षिप्त तारक-सा दल पर दैत्यों के
टूटा, खुल खेल झुलसाता हुआ उसको;
जैसे अद्रिकाय तिम पूँछ के प्रहार से,
सिन्धु को हिलोड़ डालता है जल-क्रीड़ा में;
किंवा शृंग भंग कर जैसे गिरिराज में—
खेलती है वारिद विनोदिनी क्षणप्रभा;
वैसे ही जयन्त दानवों को दलने लगा,
दारुण कृतान्त-सा दिनान्त तक युद्ध में।
विस्मित थे वैरी आप उसके प्रताप से।
वृत्रपुत्र बोला—"रुको, रात अब हो रही;
ठहरो सबेरे तक, जब तक युद्ध में
हारोगे नहीं तुम रहेगी यहीं इन्द्राणी।"
"जो तुम्हारी इच्छा"—कहा रुक के
जयन्त ने—
"मैं नहीं थका, तुम थके हो तो विराम लो।
तुल्य दिन-रात मुझे, ऐसा ही रहूँगा मैं;
चाहो जब युद्ध के लिए मुझे बुला लेना।"

नैमिष में लौट एक वृक्ष तले वैसा ही
बैठ गया वीर पीठ टेक कर काण्ड से।
सोचने लगा वह सबेरे के विषय में—
"कल फिर संगर, तरंगें उठीं आशा की,
दैत्यों का दलन, वध वैरी रुद्रपीड़ का,
जननी का दुःख-नाश और यश स्वर्ग में।
आने लगा हारने का ध्यान भी कभी-कभी,
हाथ-पैर फैलाकर बोला—"कल प्रातः ही!"
गाढ़ चिन्ता मग्न मानो निद्राच्छन्न हो गया।
था अक्लान्त, तो भी हुए नेत्र अलसाये-से,
पत्र सन्धियों से चन्द्र-रश्मियाँ प्रविष्ट हो,
सुन्दर ललाट सहलाने लगीं उसका।

चपला के साथ शची आ अनन्य भाव से,

पुत्र मुख चन्द्रिकाभिषिक्त लगी देखने।
होती कभी आशा उसे और कभी आशंका,
मन में मनाने लगी अब न निशान्त हो।
बोली चपला से कान में ही वह धीरे से—
''देख, शान्त देह पर स्नेहमयी किरणें,
हाथ फेरता है चन्द्र ज्यों मन्दार पुष्प पै।
सुषमा का खेल यह, मेल चन्द्र-चन्द्र का!
आहा! आज देख नहीं पाया पुरन्दर ने,
आलि, जब भेट होगी, उनसे कहूँगी मैं—
देखते तो पुलकित न होते नाथ कितने,
कितना आह्लाद उन्हें होता इस युद्ध का।
पाते सुसंवाद जब, वे काया पसारके
कैसे मिल भेंटते जयन्त जैसे पुत्र को;
देते शुभाशीष क्या-क्या यह मुख चूमके।
अमरों के बीच यदि होती आज स्वर्ग में,
उत्सव मनाती शची तुष्ट कर सबको।
होते सुख-मग्न सभी प्राणी सखि, कितने!
पुलकित-अंग संग लेकर जयन्त को—
विष्णुप्रिया पद्मा को, गिरीशप्रिया गौरी को,
इन्द्रप्रिया-नन्दन को बढ़के दिखाती मैं,
सौ-सौ दानवों से यह कैसा लड़ा एकाकी।
करती विसर्जित हूँ वह सुख मर्त्य में
भू पर, अरण्य चारिणी मैं आज इन्द्राणी।
भय है हृदय में, न जानें, कल क्या न हो,
दुर्विक्रान्त रुद्रपीड़ श्रान्त-सा जयन्त है,
असुरों की अस्त्र-वृष्टि उग्र उल्कापात-सी।''
दुःख से विषण्णु चपला की ओर देखके
लम्बी साँस खींचकर बोली पुनः इन्द्राणी—
''सखि, सुत-चिन्ता कर शृंखलित प्राण हैं,
सन्तति की माया आलि, अति ही दुरन्त है।
जब तक देखा न था पुत्र-मुख सजनी,
चिन्ता न थी दानवों की तिल भर मुझको।
पहले न सोचा कुछ यह मुख देखके,
होकर विवश अब खो बैठी विवेक मैं।

भय लगता है, यहाँ संकट समीप है;
टेरूँ किसे जो मेरे जयन्त का सहाय हो?''

निद्रा भंग होने पर यामिनी के अन्त में,
अर्द्ध चेतना के संग जैसे कहीं पास ही
वेणु रव स्वप्न में मिलाके प्राण धरके
चित्त को जगाके गूँज उठता है कान में,
सुस्वर शची का सुना वैसे ही जयन्त ने।
चौंक उठ बोला वह—'' चन्द्र अस्तप्राय है।''
मातृ-पद वन्दना की और कहा उसने,—
''माँ, प्रभात हो गया है, पूर्व दिशा दमकी;
देखो अरुणाभा अहा कैसी भली भाती है!
पुत्र को आशीष दो माँ, सूर्योदय पूर्व ही
दानवों के पहले रणक्षेत्र में मैं पहुँचूँ।''
मस्तक शची ने शत वार सूँघा पुत्र का,
भरके भुजों में उसे भेंटा और यों कहा—
''मेरे धन जीवन, जयी हो सदा रण में!
किन्तु भय हो रहा है क्यों इस हृदय में?
पूर्व ओर देखते ही किरणें अरुण की
बाणों की अनी-सी हाय चुभती हैं प्राणों में
दृष्टि डालती हूँ जहाँ दीखता आतंक है,
छूटता है साहस, विदीर्ण हुए दीखते
अम्बर, अवनि और अरुण सभी मुझे
मसि मय! मन करता है क्षण-क्षण में
तात, तुम्हें देखने को, भ्रान्ति ऐसी होती है,
निकट अभी हो तुम, निकट अभी नहीं।
सूनी हुई गोद, ज्ञात होता है कभी मुझे,
लगता कभी है, तुम ''माँ—माँ!'' हो पुकारते।
होता वत्स, क्यों है यह आँसू आप आते हैं,
ऐसा तो शची को कभी पहले नहीं हुआ।
जाने दूँ अकेला तुम्हें, मन नहीं करता,
स्मरण करूँ मैं क्यों न अन्य किसी देव का?''
उसने जयन्त को जकड़ लिया बाँहों में।
बोला वह—''अम्ब, नहीं आशंका विपत्ति की;

चिन्ता अति स्नेह-वश व्यर्थ तुम्हें होती है।
रण में लजाऊँगा अकेला जो न जाऊँगा,
मुझको हँसेंगे अम्ब, देव-दैत्य दोनों ही।
वृत्रसुत का क्या सोच, जानता हूँ उसको;
देख लिया मैंने बल-विक्रम विपक्ष का।
चिन्तन करो न तुम अन्य किसी देव का,
व्यर्थ होगा मेरा श्रम मैंने कल जो किया।
सूर्योदय देखो, अब उचित विलम्ब क्या?''
माँ के पैर छूकर प्रणाम किया उसने।
उसको शची ने किसी भाँति अनुमति दी,
आँखें भर आयीं, भर आया गला उसका।

जागा रुद्रपीड़, चिन्ता-उत्कण्ठा हुई उसे;
युद्ध में क्या होगा आज, सोचा यह उसने।
उसका विश्वास डिगा इन्द्र-द्वारा मृत्यु का;
जान पड़ा, मात्र इन्द्र जेता नहीं उसका।
शिव को सुमिर युद्ध हेतु सजा साहसी,
विजय नहीं तो मृत्यु, उसने प्रतिज्ञा की।
लौटूँगा न यों ही स्वर्ग साथियों को खोके मैं,
सोचते ही सोचते जयन्त आया दृष्टि में।
लेके शेष योद्धा बढ़ा भट झट युद्ध को,
शृंग और शंख-रव गूँज उठे नभ में।

विक्रम दिखाया आज दानवों ने दुगुना,
गरजे विकट भट डटकर दर्प से।
स्तब्ध हुआ लोक फिर युद्धारम्भ देखके,
और शस्त्र-घर्षण से आग लगी शून्य में।
काँप उठी फिर धरा होकर भयंकरा,
जल-थल डोल उठे तुमुल निनाद से।
गिरि-वन दोनों फिर छिन्न-भिन्न हो उठे;
युद्धक्षेत्र दारुण दिखाई पड़ने लगा।
बढ़-बढ़ वार किये सुदृढ़ जयन्त ने,
उड़-उड़ गरुड़ लड़े थे यथा नागों से।
और पाँच दैत्य गिरे आधा दिन हो गया,

पाँच शृंग और टूटे मानो गर्व-गिरि के।

तब कुछ त्योरियाँ चढ़ाके रुद्रपीड़ ने,
एक क्षण देखा अति ईर्ष्या से जयन्त को।
तत्क्षण ही हुंकृति के साथ उठा शून्य में
दीप्तिमान भीषण द्रुघण अस्त्र उसका;
दृढ़तर मुष्टि से घुमाके उसे उसने
मारा शचीसुत को, पड़ा वह पहाड़-सा।
कठिन प्रहार-भार सह न अचेत हो
जर्जर जयन्त गिरा शान्तरश्मि शशि-सा,
बिछ गया भू पर शिरीष पुष्प स्तर वा।
देखते ही देखते मलिन हुई द्युति यों,
बुझता-सा जा रहा हो ज्यों अंगार राख में।

मृत्युहीन देवकाया, मृत्यु-छाया मूर्च्छा ही;
ग्रस्त वह मूर्च्छा से हुआ यों हो गया हो ज्यों
निश्चल, शरीर रहा धूसरित धूल में।
जय जयकार किया उल्लासित दैत्यों ने,
फट उठे भू-नभ कराल कोलाहल से।

सुन शव-वाही 'हरि बोल' रव रात में
काँप जायँ जैसे लोग, काँपी शची वैसे ही।
चंचला-सी चमक सवेग वहाँ आ गयी,
देखा पुत्र-गात्र पड़ा पृथ्वी पर उसने।
"हा जयन्त!" कहकर बैठ पुत्र-पार्श्व में
भर लिया अंक में शरीर वीर पुत्र-का—
मौर्वी-हीन चाप-सा; रही माँ स्तब्ध वैसी ही।
देखती थी एकटक आस्य वह उसका,
साँस तक लेती न थी, बोलने की बात क्या?
अश्रु जड़े जैसे रहे नयनों के कोनों में,
जम गये मानो हिम-विन्दु पद्म पत्रों में।
भीतर प्रवाह बहता था जो विषाद का,
बाहर निकलने का मार्ग-सा न पाता था,
चाहता था एक साथ वक्ष फोड़ बहना।

जैसे गिरि-निर्झर पड़ा उपल खण्डों में
कल कल करता हो, निकल न पाता हो।
पलक अचल थे, बँधे हों यथा भूमि से;
सुधि-बुधि हीन शची थी शिला की मूर्ति-सी।
उमड़ रहा था शोक-सागर हृदय में।
देखती थी जितना, कलेजा था उछलता।

क्रम से वदन पर तेजोराशि प्रकटी;
जलधर मेघ को ज्यों किरणों से भेद के
निकल रहा हो सूर्य अविकल रूप में।
चपला सखी थी पास, आस्य देख उसका
रोने नहीं पाती थी अवश ऊँचे स्वर में।
गलित तुषार-से भिगोके मुख-वक्ष को,
झर-झर आँसू झरते थे दीन आँखों से।

देखके शची का मुख सोचा रुद्रपीड़ ने,
यह तनु छूते हुए प्राण बाधा पाते हैं।
हाथ नहीं बढ़ते हैं, पैर नहीं उठते,
मन करता है धाड़ मारकर रोने को!
मुझसे पिता की माँग निष्फल न हो कहीं,
और कहीं व्यर्थ न हो इतना प्रयास भी।
ख्याति कितनी-सी है जयन्त को हराने की;
लगता है, इच्छा नहीं पूरी हुई मन की।

साथ एक दानव था नाम निकन्धर था,
चिह्न भी दया का न था उस अविनीत में,
आज्ञा दी उसे ही कुछ सोच रुद्रपीड़ ने,
पूरी करने के लिए इच्छा निज तात की।
पीछे जा शची के उस उल्लासित पापी ने
साँप के समान काले केश खींचे उसके।
हाय! जैसे तोड़के मृणाल लता सूँड़ से
पंकज के साथ गज शून्य में झुलाता है,
दानव के कर में कचों से लटका हुआ
फूल-सा शची का तन झूल उठा वैसे ही!

दैत्य हर्षनाद कर क्षोणी छोड़ क्षण में
तोड़ते पदों से गिरि-शृंग उठे शून्य में।
साथ चली चपला उजेला करती हुई,
और ऊँचे क्रन्दन से अन्तरिक्ष भरती।
छोड़ उदयाद्रि बहु अन्य गिरि लाँघके
स्वर्ग के समीप सब पहुँचे वे अन्त में।
गूँज उठा घोर सिंहनाद वृत्रपुत्र का,
पुर परकोटों पर दैत्यों ने सुना उसे
और संग-संग शत शृंग बजे उनके,
काँप उठा स्वर्ग उस दारुण निनाद से।
सहसा सचेत हुई चौंक शची उससे,
कानों से प्रविष्ट वह साल उठा प्राणों में।
आयी स्मृति और आयी बाढ़ शोचधारा की,
"हा जयन्त!" देखा चौंक चारों ओर उसने—
"किसने की गोद सूनी, छीन लिया तुमको।
माता को विपत्ति से बचाने तुम आये थे,
किन्तु उसे तुमने डुबाया शोक-सिन्धु में।
मैं क्या देखने को यहाँ आयी, कहाँ इन्द्र है,
सूर्य कहाँ, पाशी कहाँ कोई नहीं बोलता;
इन्द्र का कुमार शचीनन्दन कहाँ—कहाँ?
हा विधे, हा शार्ङ्गि, शूली, वाणी, रमा, रुद्राणी!
सूखा अकस्मात पारिजात शची-मन का।
शक्र की शची हा! अब स्वर्ग में क्या देखेगी?
आओ सब, देखो अब दैत्यसेवा उसकी,
दुःखिनी सहायहीन इन्द्र की जो इन्द्राणी।
कहाँ देव, कहाँ मूल आद्या शक्ति, देख लो,
कलुषितकाया शची आज दैत्यस्पर्श से!"
रोने लगी इन्द्राणी घृणा से और ग्लानि से,
अस्थिर थी प्रज्वलित शोकानल ज्वाला-सी।
"हा जयन्त!" कह वह चौंक-चौंक देखती,
धक-धक धौंकनी-सी चलती थी साँस की!
बहती थी अश्रुधारा, हरि चरणों से ज्यों
त्रिपथा त्रिलोक धारा गंगा वही पहले,
अम्बर की श्वेत घटा, शम्भु-जटा-भेदनी।

रो उठे त्रिलोक प्राणी रोते देख उसको,
ब्रह्मपुरी, विष्णुधाम, शम्भुगिरि सिहरे।
भू-पाताल दोनों हिल-डोल उठे साथ ही,
भर गया उसका विलाप तीनों लोकों में।
जैसे महा वात्या के भयंकर निनाद से,
घोर घन धारा छूटती है घन वेग से,
वायु गर्जना के साथ होती महा वृष्टि है,
शान्त कभी और कभी दर्प से दुर्दान्त-सी,
रो रही थी ऐसे शची आकर्षित कुन्तला।

वृत्रासुर दूत बोला आके रुद्रपीड़ से—
"आओ अमरावती में देखो देव-दुर्दशा।
हारे इसी बीच फिर जूझके वे हमसे।"
चारों ओर दृष्टि डाल देखा रुद्रपीड़ ने,
शैलराज छाये हुए देव-तनु किरणें
छोड़ते हैं, जैसे कुछ चंचल अनिल से
सरिता के जल में हों सान्ध्य रविरश्मियाँ।
देख यह वृत्र की सभा में वह पहुँचा,
रख दी शची की मूर्ति नीचे निकन्धर ने,
चौंक उठ सम्भ्रम से वृत्र खड़ा हो गया।

दशम सर्ग

इधर कुमेरु छोड़, नियति-निदेश से
सज्जित सुरेश चला कैलासाद्रि ओर को,
रहते सदैव जहाँ गिरिजा-गिरीश हैं।

उठ चला ऊँचे वह, नीचे धरातल है;
सिन्धु गिरि ग्राम वन चित्रित-से चारु हैं।
(शस्य श्याम पट पर श्वेत सरिताओं की
रेखाएँ विचित्र मानो ज्यामिति के लेख हैं!)
भानु किरणों से बढ़ मिलती तरंगें हैं,
मेघस्तर तुल्य गिरि-राजियाँ हैं राजती।
धूप-छाँह ओढ़े धरा-धाम-शिखरावली
दीखती सुदूर, अन्तरिक्ष में उठे हुए
कांचन किरण युक्त हिमगिरि-शृंग हैं,
जिन पर लीला के बहाने आप देवों ने
शुचि तर भारत प्रकाशित किया कभी।
गोमुख से गंगा की पुनीत धारा बहती,
देखी सुरराज ने उसी के पास यमुना
शोभामयी सज्जा, पुण्यभूमि आर्यदेश की।

उठता है इन्द्र जैसे-जैसे अन्तरिक्ष में,
कोटि-कोटि ज्योतिर्ग्रह दीखते हैं उसको,
पंक्ति-बद्ध होकर परिक्रमा हैं करते।
है शशांक-मण्डल धरा के संग घूमता;
करके प्रदक्षिणा सुधन्य धरा धाम की।
चारों ओर चारु दीप्ति फैला रहा सविता।

घूमता सुधांशु वह छोड़कर क्षोणी को,
भरता है ठण्डी किरणों से नभस्थल को।
और दूर अम्बर में अति द्रुत वेग से
चारु चन्द्र वेष्टित प्रदीप्त बृहस्पति है।
घेर कर अर्यमा को दूर इन सबसे
ब्रह्मसूत्रधारी शनि चारों ओर उसके
अष्ट चन्द्रमाओं के समेत अति दीप्त है।
ऐसे कितने ही ग्रह और उपग्रह हैं,
घूमते विचित्र छविधारे निज मार्ग में
अविरत हर्षध्वनि गुंजारित करके।

देखता हुआ यों दृश्य इन्द्र बढ़ा वेग से,
ऊँचे चढ़ वायुस्तर पार किया उसने।
होती गयी सूक्ष्म से भी सूक्ष्म धरा क्रम से,
दूर वह दृष्टिगत होने लगी तारा-सी
रह गयी फिर वह एक मसि-विन्दु-सी!
चन्द्र, शुक्र और शनि आदि नीचे छोड़के,
शक्र जब और उठा लुप्त वह हो गयी।
छूट गया नीचे सौर-मण्डल भी अन्त में,
वायु-शून्य व्योम में बली कैलास पहुँचा,
शब्द-वर्ण-हीन जो प्रशान्त था, गभीर था,
व्यासहीन अन्तहीन व्याप्त था, उसमें
छायाकार कोटि-कोटि थे ब्रह्माण्ड विखरे।
दश दिक युक्त विश्व विम्ब वहाँ व्योम में,
कोटि-कोटि आकृतियाँ एक-एक पल में
उठती, विलाती वारि-बुद्बुद समान थीं!

व्योमकेश विभु उसी अद्रि पर बैठे थे;
राजता था शैल पर शैल ज्यों रजत का!
अष्टैश्वर्य भूषित थी सौम्य मूर्ति उनकी।
मुख पर आभा, गाढ़ भावना थी भाल पै।
कण-कण गंगाजल झरता जटाओं से,
हिमगिरि शृंग से ज्यों क्षरता तुहिन है।
सम्मुख थी गौरी स्वर्णमूर्ति रौप्य गिरि की!

दोनों मग्न हो रहे थे नाना कथा-वार्ता में।
एक-एक विम्ब दिखलाकर भवानी को
बतला रहे थे भव तत्त्व उन्हें उसका।
सृष्टि का क्या हेतु, वह कितने प्रकार की,
पंचभूत आत्मा मन प्रकृति विलक्षण,
अणु परमाणु परमायु सृष्टि लय क्या;
प्रकृति पुरुष-भेद कैसा, कब, क्यों हुआ;
पहले था वा न था, अभेद फिर होगा क्या;
कब-कब कैसी स्थिति होगी किस लोक की,
आदि में थी कैसी सृष्टि, अन्त कैसा उसका;
सब कुछ क्यों है क्षण-स्थायी इस विश्व में;
नित्य परिवर्तित क्यों चेतन हैं, जड़ हैं;
कैसे हुआ जीवोद्गम कब इस सृष्टि में;
होगा जब नाश परमाणु कहाँ जायँगे;
नित्य वा अनित्य चिरकाल जन्तु जीवात्मा,
कब तक और भूमि और सौरलोक हैं;
होने पर प्रलय मनुष्य पुनः होंगे क्या;
पाप-पुण्य क्या है, कब कैसे वह होता है;
भाग्य के अधीन कैसे दुष्कृत, सुकृत हैं;
सुख से अधिक परिमाण है क्यों दुःख का;
आत्म-भेद क्या है जन और अन्य जीवों का,
देव-दैत्य-मानवों में अन्तर क्या कितना,
दुःख-सुख भोगाभोग भुक्ति और मुक्ति क्या?
ऐसे नर-देव-चिन्तातीत गूढ़ तत्त्वों की,
व्याख्या करते थे शिव-शंकर सुमग्न हो।

ऐसे ही समय सुरराज वहाँ पहुँचा,
उसने ससम्भ्रम प्रणाम किया दोनों को।
देवी ने सदयता से देख पूछा उससे,—
"इतने दिनों से यहाँ आये नहीं तुम क्यों,
वासव, क्यों हो रहे हो इतने विरत-से?
कृश है शरीर, क्या समाधि में निरत थे,
किंवा रणरक्त थे क्या अविरत भाव से?
कोई नया संकट क्या स्वर्ग पर आ पड़ा?"

बोला घनवाहन—''हे आद्याशक्ति, देवों की
दुर्दशा जो हो रही है भूल गयीं आप क्या?
वृत्र ने किया क्या-क्या महेश्वर के वर से,
जीत ली है उसने सगर्व अमरावती।
ज्योतिः शून्य देह लिये देव स्वर्गच्युत हैं,
ताड़ित हो ईशदत्त उसके त्रिशूल से।
वे पाताल में हैं पड़े जीवित यथा-तथा,
देव-योग्य स्वर्ग अब दानवों का भोग्य है।
वैजयन्त छूटा, शची भू पर है भ्रमती;
रहती अरण्य में हैं अन्य देव-देवियाँ,
कौन जाने, कैसे-कहाँ छिपकर बैठी हैं।
खोकर त्रिदिव मैं नियति-पूजा-रत था,
होकर पराजित तिरस्कृत विपक्ष से।
देवि, इससे क्या बड़ी होगी अन्य आपदा?
भूली हैं महेश्वरी महेश्वर-सी आप भी;
सर्वथा सुरों के साथ भूल बैठीं इन्द्र को,
और इन्द्राणी को, निज पुत्र षडानन को।
पार्वति, हुआ क्या और सोच नहीं पाता हूँ;
आया इन चरणों में नियति-निदेश से।''
''ओहो भगवान! भूली इतने दिनों रही,
तत्वालोचना में निज भोलानाथ संग मैं।
ज्ञात है तुम्हें तो रस कितना है उसमें?
क्या कहूँ मैं आशुतोष मृत्युंजय स्वामी को;
माँगता है जो कुछ जो इनसे तुरन्त ये
देते हैं, न करके विचार आगे-पीछे का।
मग्न रहते हैं स्वयं चिन्तन के सुख में,
सुनते हैं अब भी क्या बातें हम दोनों की।
देखते हैं फिर भी निविष्ट-चित्त वैसे ही
ये हैं समभाव, अहो अमरपते! तुम्हें
ऐसा दुःख सहना पड़ा है इस बीच में,
भू पर अरण्य-चारिणी है सखी इन्द्राणी।
मूर्च्छित है मेरा कार्तिकेय महा पीड़ा से,
कहती हूँ शूली से अभी; तुम्हारे वर से
पुष्ट दुष्ट दैत्य ने किया उच्छिन्न स्वर्ग है।

यत्न ये करेंगे अभी उसके निधन का।''
त्र्यम्बक की ओर देख बोलीं फिर अम्बिका,—
''देखो ह कपर्दि, इन्द्र आये हैं शरण में,
पीड़ित तुम्हारे वर-पुष्ट वृत्रासुर से।
दैत्यों को बढ़ाके तुम देवों पर बहुधा
ढाते हो विपत्ति के पहाड़ विना जाने ही।
क्षार-खार हो गया है राज्य अब स्वर्ग का,
दानवों के कारण ठिकाना नहीं देवों का।
दयाहीन मायाहीन स्नेहहीन दैत्य हैं;
डालते हैं देव-देवियों को वे विपत्ति में।
भूल निज पुत्र को, हा! पार्वती-तनय को,
आँख मूँद बैठे तुम ध्यान-सुख-मग्न हो।
सृष्टि-नियमों की यदि रक्षा नहीं बनती,
तो क्यों आशु तुष्ट होके, देके वर दुष्टों को,
शिष्टों पर तुम यों उपप्लव घटाते हो?
यत्न करो हे पिनाकि, वृत्रासुर-वध का।''
आँखें खोल बोले शिव देखके शिवानी को—
''हैमवति, अब भी क्या वृत्रासुर जीता है,
पापी दैत्य अब भी क्या देवों को सताते हैं?
आर्ये रुको,'' क्षण भर शम्भु कुछ सोचके
बोले—''इन्द्र, दुःख दूर होगा अब शीघ्र ही
वृत्र का निधन होगा ब्रह्मा के दिनान्त में।''
''देव-देव, यह तो नियति ने भी था कहा,
आया मैं विशेष विधि जानने को सेवा में।
वृत्र-भुज-दर्प से पराजित समर में
इन्द्र का नरक-दुःख तुमसे छिपा है क्या?
जानते हैं आप विभो, मेरा बल-वीर्य भी;
अपनी बड़ाई आप करना अयोग्य है।
चेतना के रहते, तथापि, मनोवेदना
रोक नहीं पाता हूँ सुरेन्द्र स्वर्गपति मैं।
हारा नहीं आप कभी असुरों से युद्ध में।
आज निज इन्द्रपद देकर असुर को
घूमता हूँ भिक्षुक-सा इधर-उधर हा!
सह सकता क्या वृत्र तेज मेरे चाप का?

छोड़ा नहीं जिसने सजीव किसी शत्रु को,
किन्तु उसे शूल दे अजेय किया आपने।''
खींचा घोर तेज से कठोर चाप अपना
वासव ने; निकली विचित्र ज्वाला उससे।
साधारण मानवों में भी जो वीर होता है,
शत्रु-दम्भ उसके हृदय का गरल है।
क्षुद्र कृमि कीट-सा नहीं जो जीव, वह भी
चाहता है मृत्यु कभी वैरि-निर्यातन से।
वृत्र से विजित होके अति बली इन्द्र ने
मन की प्रदीप्त ज्वाला वाणी से प्रकट की,
जो कर रही थी दिन-रात दग्ध उसको।
गिरिजा-गिरीश समाकृष्ट हुए इन्द्र की
कातरोक्ति सुनकर, तीव्र व्यथा देखके।
सहसा जटाएँ कुछ काँपी व्योमकेश की,
खस पड़ा इन्द्र चाप, आँसू झरे अम्बा के।
सबको उद्वेग हुआ एक साथ मन में,
कोई विपद् ग्रस्त जैसे करता स्मरण हो।
पूछा उमापति ने उमा से—''यह क्या हुआ,
सुमिर रहा है अकस्मात मुझे कोई क्या?
अन्यथा जटाएँ आप काँप उठीं मेरी क्यों?''
बोली उमा वाक्य पूरा होने के प्रथम ही—
''सुमिर रही है नाथ, इन्द्राणी विपत्ति में;
नैमिष से दैत्य हरे ले जा रहा उसको।''
इन्द्र ने हुंकार मार धनुष उठा लिया,
दौड़ा स्वर्ग ओर वह क्रोध से अबोध-सा।
''इन्द्र, रुको क्षण भर''—कहकर शम्भु ने
दोनों हाथ फैलाकर रोक लिया उसको।
शिव से निरुद्ध होके गरज उठा बली,
झंझा-क्षुब्ध अब्धि-सा विरुद्ध शैल-बाधा के।
फिर कुछ शान्त होके बोला महादेव से,—
''तृप्त हुए अब भी कपर्दि, नहीं आप क्या,
शेष था जो इन्द्र का क्या सो भी दिया दैत्य को?
मूर्च्छित है पुत्र और अपहृत पत्नी है,
रोकते हैं आप, जाऊँ क्या रक्षार्थ भी न मैं

असुरों के हाथों देव, आपके सुरेश की
ऐसी लांछना हो तो अमर-सृष्टि क्यों हुई?
चूर्ण करो क्यों न विधि-विरचित विश्व ही,
धाता, यही भोगने को देव रचे तूने क्या?
हे शिव, शिवत्व क्या इसी में रहा आपका,
दानवों से प्रेम और द्वेष सदा देवों से?
माँगता नहीं मैं कुछ, वृत्र-वध-विधि भी
पूछता नहीं हूँ, मुझे आप छोड़ दीजिए।
देखूँ क्या अकेले कर सकता हूँ आज मैं।''
सुन यह भर्त्सना बुलाके वीरभद्र को,
लाने को त्रिशूल कहा शंकर ने उससे।
और दयासिन्धु बोले वासव से—''शान्त हो
इन्द्र, हतचेत तुम इन्द्राणी हरण से।
दानव शची को छुए ऐसा दर्प उसका,
कलुषित तूने किया मेरा वर वृत्र रे!''
क्षुब्ध हुए शूली यह कहते न कहते,
वे ब्रह्माण्ड विम्ब सब शून्य में बिला गये,
छा लिया अनन्ताकाश फैल जटाजूट ने,
सिर पर भागीरथी गरजी उफनके,
जल उठी भाल-वह्नि धक-धक करके,
शून्य मय सारा देश ज्वाला पूर्ण हो गया।
संहारिणी उग्र मूर्ति रक्खी महादेव ने,
वे संहार शूल धर गरजे गजारि-से।
आया शृंग मुख में प्रदीप्त हुआ तनु यों,
ज्यों मैनाक तैरता हो अनल-समुद्र में।
भीत हो सुरेन्द्र सामने से हट उनके,
झट-पट पार्वती के पीछे जा खड़ा हुआ।
नत सिर वीरभद्र आज्ञोत्सुक हो उठा,
देख यह बोली महादेवी उच्च कण्ठ से—
''रोको प्रभो, रोको यह काल शूल अपना,
न करो हा! प्रलय निनाद निज शृंग का।
असमय में ही अन्त हो न सारी सृष्टि का,
संहारिणी मूर्ति करो संवरण शीघ्र हो।
एक वृत्र-नाश में क्यों सबका विनाश ही

इन्द्र को बता दो विधि वृत्र के निधन की।
कार्य सिद्ध होगा इतने से ही, दया करो!"
शान्त हुए ईश तब उग्र रूप रोकके,
रौप्य गिरि संनिभ समुज्वल धवल वे,
शोभित अचल जैसे हिमकण वृष्टि में।
बोले यों सहास्य मुख वासव विनीत से–
"उचित नहीं जो करूँ मैं ही वध वृत्र का;
आर्या ठीक कहती हैं, शूल सर्वनाशी है।
हो तुम्हारे हाथों ही सुरेन्द्र, अन्त उसका,
सुमुनि दधीचि के समीप जाओ शीघ्र ही,
तेजःपुंज ऋषि वे उदार मन वाले हैं।
देंगे निज देह-दान अमरों के हित में।
उनकी पुनीत अस्थियाँ ले विश्वकर्मा जो
आयुध बनावेगा, अमोघ होगा विश्व में
मेरे शूल जैसा, वज्र नाम होगा उसका।
उससे मिटेगी दैत्य-बाधा सुरधाम की,
नादित रहेगा वह प्रलय-विषाण-सा,
सह न सकेगा तिग्म तेज कोई उसका।
दूर नहीं ब्रह्मा का दिनान्त, जब अर्यमा
अस्त हो रहा हो, वृत्र वक्ष लक्ष्य करके
करना प्रहार; जाओ, उद्धारो शची को यों
और अमरावती का राज्य करो सुख से।
सुमुनि दधीचि हैं वदर्याश्रम में अभी,
ध्यान में निरत तपोनिष्ठ हृषीकेश के,
जाओ वहीं और इष्ट पाओ तुम अपना।"

हर्षमग्न हो गया सुरेन्द्र, भक्ति भाव से
करके प्रणाम उन्हें और जगन्माता को,
प्रस्थित हो शीघ्र ही अदृश्य हुआ व्योम में।

एकादश सर्ग

हारे फिर असुरों से अमर समर में,
अमरावती में दैत्य उत्सव मनाते हैं।
गूँजा जयनाद, बजीं बादलों-सी भेरियाँ,
पुर-परकोटों, शैल-शृंगों पर घहरीं।
सींचे गये मार्ग सब ओर गन्ध-नीर से,
तोरणवितान तने, फहरी पताकाएँ।
गज रथ अश्व सजे, मार्ग भरे भीड़ से,
झूमे चतुष्पद भी पहन फूल-मालाएँ।
घर-घर राग-रंग मंगल-विधान हैं,
असुरों की अंगनाएँ मोद-मद-मत्त-सी
भेटती हैं रण से निवृत्ति पति-पुत्रों को।
हर्ष में निमग्न दैत्य नाचते हैं, गाते हैं;
हँसते हैं, खेलते हैं, घूमते हैं, झूमते,
देखते हैं दीप्त मुख दर्पण में आशा के।

विविध विचारों में विलीन शची स्वर्ग में
विजय मना रही है अपनों की युद्ध में।
दौड़ी आ रही हैं उसे देखने को दैत्यों की
बालाएँ बिसार सुध भूषण-वसन को।
अस्त-व्यस्त वस्त्र और केश विपर्यस्त हैं,
कांची और नूपुरादि गहने स्खलित हैं,
उलझे हैं हार सिर, वक्ष और हाथों में,
कुण्डल कचों में फँसे, अंचल हैं छहरे,
टूट गयी तनियाँ हैं, खिसकी हैं चोलियाँ,
मिल गया धूल में महावर सहज ही!

सबके मुखों में रुद्रपीड़ यशोगीत हैं,
विक्रम बखान करते हैं सब वृत्र का।

दैत्यपति वृत्र ऐन्द्रिला के नाट्यगृह में
पुत्रमुख देख-देख विह्वल है हर्ष से,
सुनती है उत्सुक शची-हरण ऐन्द्रिला।
बोला वृत्र—"वत्स, यशोविक्रम से तुमने
कान्ति दे कृतार्थ किया दानव समाज को।
लाये हो शची को तुम कैसे, कहो क्रम से।"
बोला नत रुद्रपीड़—"साधारण बात थी
तात, वह, क्या कहूँ विशेषकर मैं उसे।
देखा यहाँ लौट मैंने जो, वह विचित्र है,
इच्छा वही सुनने की हो रही है मुझको।
कैसे हुआ अमर समाज हतजीव-सा,
कैसा बल-विक्रम दिखाया यहाँ किसने?
खेद यही, वंचित रहा मैं यशोयोग से।
पूर्व यश मेरा किन वीरों ने दबा दिया?
पाया क्या सुनाम मैंने जीत के जयन्त को,
लाकर शची को किया ऐसा बड़ा काम क्या?
अक्षय अनन्त यश पाता जिस युद्ध में,
मैं आह्लाद पाऊँ अब सुनकर ही उसे।"
"दुःखी न हो वत्स, न था ऐसा वह जूझना,
जिससे तुम्हारा यश बढ़ता वा घटता।
मेरे किसी सैनिक को सम्भ्रम नहीं हुआ,
फिर भी तुम्हारा मन है तो सुनो, मैं कहूँ।
ज्यों ही तुम नैमिष अरण्य गये, देवों ने
कर दिया आक्रमण घोर सब ओर से।
इन्द्र न था, तो भी अरि जूझे अति वेग से,
फोड़े परकोटे, द्वार तोड़े उन सबने।
तीन दिन तीन रात युद्ध हुआ हमसे,
शस्त्र-वृष्टि होती रही नेत्र-कर्ण-रोधिनी।
ज्ञात ही तुम्हें है रण-नीति दोनों ओर की।
क्रुद्ध हुए देव कैसे दुर्निवार होते हैं,
तुमको बताऊँ क्या प्रताप अग्नि-रवि का,

वायु का प्रचण्ड वेग, विक्रम वरुण का—
और बल कौशल कुमार कार्तिकेय का।
आग-सी लगा दी एक साथ मिल सबने,
हार हुई अपनों की और जीत उनकी।
धूल तब मैं उन्हें चटाता क्यों न शूल ले?
अमरों की मृत्यु मूर्च्छा, भोगें बहु काल वे।''
सुनकर रुद्रपीड़ रोमांचित हो गया,
भर गया रोम-रोम उसका उत्साह से।
विस्फारित वक्ष और नेत्र हुए उसके,
छिन्न-गुण चाप जैसे विस्फारित होता है।
किंवा अहिग्राहियों का कोलाहल सुनके
बाहर, उठाता है भुजंग फन अपना।
देखके पिता की ओर साँस छोड़ी उसने,—
''हाय तात! मैं सौभाग्य पा न सका युद्ध का,
आया भी सुयोग किन्तु ऐसे ही चला गया;
रह गयी मेरी चिर लालसा अधूरी ही।''
बोला वृत्र—''वत्स, यों विषाद नहीं करते,
नैमिष अरण्य में हुआ सो कहो मुझसे।''
तब सब उसको सुनाया रुद्रपीड़ ने,
हरना-हराना शची और शचीसूनु का।

आनन्दित ऐन्द्रिला ने प्यार किया पुत्र को,—
''देखने में कैसी लगती है शची? उसका
कैसा रूप, कैसा रंग, कैसे अंग, आयु क्या,
कैसे हाव-भाव, कैसी आकृति-प्रकृति है,
कैसी वेष-भूषा और कैसी गति उसकी?''
वार-वार विविध बहाने कर-करके,
नख-शिख वर्णन शची का सुना उसने।
पुत्र ने बताया—''अति रूपवती है शची,
उसकी गभीरता से मैं भी सम्भ्रमा गया!
गोद में ले बैठी वह जब निज पुत्र को,
सिहर उठा मैं उसे देखकर आप ही।
शत्रु-दारा देवी वह प्रतिमा प्रभाव की।''

सुनकर ऐन्द्रिला का चित्त-वेग उफना,
ढक लिया उसका वदन मानो मेघों ने।
गर्व-पूर्ण गरिमा शची की और महिमा
उसने यदा-कदा सुनी थी। मात्र उसमें
एक अनुमान ही था, किन्तु सत्य इसमें।
प्रस्तुत थी उसके समीप स्वयं इन्द्राणी,
पहले ही ईर्ष्या रखती थी वह उससे;
जल उठी आग अब उसके हृदय में।
हिंसक से हिंस्य कितनी ही दूर क्यों न हो,
कालकूट घोलता है मानस में उसके,
पास हो तो उसमें चितानल जलाता है;
होती फिर पागल-सी क्यों न भला ऐन्द्रिला।
त्रिभुवन विदित शची के रूप-गुण थे,
पर पगलाई वह सुन उन्हें पुत्र से।
ईर्ष्या-द्वेष अधिक छिपा न सकी अपना,
दर्प से नखों से हार छिन्नकर, बोली यों—
''यह-वह कहता है जो भी यहाँ आता है,
रति कहती है, नहीं उपमा है उसकी।
वस्तुतः क्या ऐसी रूप वाली वह गोरी है?
काली मसि तुल्य हूँ क्या उसके समक्ष मैं?
उसके कचों की तुलना में केश मेरे ये
चारुता में मृदुता में लघु लगते हैं क्या?
दीप्ति इस देह में नहीं क्या उस देह-सी,
और भंगिमा क्या नहीं वैसी इस ग्रीवा में?
सिंही वह गति में है और मैं शृगाली हूँ?
और रूप व्याख्या रहे दानवपते, सुनो,
आवे अविलम्ब, मेरी किंकरी हो इन्द्राणी।
चाहता है कौन बड़ा रूप-गुण उसका?
चमर डुलावे वह आके यहाँ पहले,
पान-बीड़े रखना दिखावे वह मुझको।
देखूँगी प्रसाधन-कुशलता मैं उसकी,
भूषण-वसन पहनाना, कच-रचना
कैसा जानती है वह, देखना है मुझको।
हाव-भाव हास-रास ठीक उसे आते हैं,

तो विलास सीखने को पास उसे रक्खूँगी।
अन्यथा उसे मैं चतुष्पथ के सुपार्श्व में,
पिंजरस्थ बाघिन-सी बाँधकर रक्खूँगी।
तब वह वहाँ आने और जाने वालों से
सुगुण सुनेगी रूप दिखलाकर उनको!
चलो नाथ, उत्सव सुमेरु पर आज हो,
पीछे चले मेरे छत्र लेके वह गर्विणी।
देखें सब दैत्य अभी गौरव है किसका
अधिक, पुलोमजा का किंवा वृत्र-वामा का।''
बोला नत रुद्रपीड़—''अम्ब, वृथा क्षोभ क्यों,
दास्य हेतु आयी जो रहेगी वह दासी ही।
लघुता प्रकट कर खोती हो महत्त्व क्यों।''
व्याघ्री-सी कटाक्ष कर बोल उठी ऐन्द्रिला,—
''बच्चे, तुम जानो क्या मनोगति जो मेरी है।
बौना नहीं छू सकता शिखर सुमेरु का,
वायस क्या इच्छा करे नागान्तक-नीड़ की।
गौरव कहीं भी किसी अंगना का मुझसे
अधिक नहीं तो वह सेवा करे दासी-सी।
मेरा दृढ़ निश्चय है आज इन पैरों में
इन्द्राणी महावर लगावेगी, लगावेगी!''

ऐन्द्रिला की बात सुन कैलासाद्रि धाम में
ईशानी शची के लिए आकुल-सी हो उठीं।
ईश से उन्होंने कहा,—सुनते ही ईश का
जल उठा क्रोधानल दीप्त कर नभ को।
गरजा प्रलय-शृंग और प्रभंजन भी,
नाशकारी शूलाकृति ज्योति वायुस्तर में
दीप्त वैजयन्त पर दीख पड़ी घूमती,
रविरथ अम्बर में अस्तव्यस्त हो उठा,
कूर्म उठा ऊपर अतल छोड़ अद्रि-सा,
वासुकि ने खींचे फन काँपी व्यग्र वसुधा,
चंचल जलधि में विशाल लहरें उठीं,
गरजे भुजंग भय पाके रसातल में,
छोड़ दिये मातृस्तन चौंककर बच्चों ने,

बिगड़े विमान-मार्ग, शृंग टूटे शैलों के,
डगमग डोल उठे तीनों लोक डर से,
चेतन अचेत, जड़ चेतन-से हो उठे,
मूर्च्छित सुरों में द्रुत दौड़ गयी चेतना,
डोल उठे उन्नत सुमेरु-शृंग शून्य में!

थर-थर काँप उठा वैजयन्त वेग से,
कंकण खिसक गिरा ऐन्द्रिला के कर से,
रोमांचित हो गया शरीर रुद्रपीड़ का,
झँप गये पलक अशंक वृत्रासुर के,
बोला वह—"रोषानल चिह्न यह रुद्र का!"

द्वादश सर्ग

कहो, अयि श्वेतभुजे, मातः विधिनन्दिनी,
इसके अनन्तर हुआ क्या वैजयन्त में,
त्रस्त हर-कोप ने किया जब त्रिलोकी को,
वृत्र ने किया क्या, वह काल-शृंग सुनके,
दैत्यराज महिषी ने मन में विचारा क्या,
शत्रुओं में कैसे काल काट सकी इन्द्राणी,
देवों ने किया क्या स्वर्ग और उसके लिए,
कैसे मिलीं वासव को अस्थियाँ दधीचि की,
कैसे विश्वकर्मा ने बनाया वज्र, जिससे
इन्द्र ने विजय पाई वृत्र-वध करके,
सम्प्रति कहाँ है वृत्र वैजयन्त सूना क्यों,
कृपया कहो हे अम्ब, शारदे, विशारदे!

उठता है उन्नत सुमेरु जहाँ हर्ष से
शृंगों पर शून्य को उठाकर अनन्त में,
एकाकी असुरराज टिककर उससे
देखता है रुद्र-रोष-वह्नि जहाँ प्रकटी।
चित्र है अपूर्व वह, एक गिरि अन्य से
तुलता है, मानों शक्ति किसमें है कितनी!
अन्धकाराच्छन्न मुख, प्रज्वलित दृष्टि है,
मेघ में ज्यों दामनी हो; सोचता है वह यों—
"यह हर-कोप है क्या? शृंगनाद उनका,—
लोकत्रय कम्पकारी वृत्र के जगाने को,
और जताने को उसे उसका दिनान्त है।
आ गयी क्या कालरात्रि ग्रसने को दैत्य को,

काँपते हैं पल्लव-से तीनों लोक जिससे,
विश्व भर में है पूजनीय नाम जिसका,
शिव को चढ़ाके निज शीश काट जिसने
तुष्ट कर उनको अभीष्ट वर पाया है,
उसकी सौभाग्य-शिखा बुझने चली है क्या?
व्यर्थ हुआ अब क्या अशेष तप उसका,
और यह शूल स्वयं गंगाधर का दिया,
व्यर्थ सब, दैवानल कहता है क्या यही?
अथवा मैं भ्रान्त हूँ क्या व्यर्थ के ही भय से,
शंकर को छोड़ किन्तु भय मुझे किसका,
क्रुद्ध हैं सदय शम्भु क्या शची-हरण से?''

देखा सनिःश्वास नभ ओर फिर उसने,
शिव को प्रणाम कर पूजा की त्रिशूल की
और वह लौटा उन्मना-सा सुरधाम को।
द्वार पर ऐन्द्रिला ने भेटा उसे प्रेम से,
करके कटाक्ष कर धर लिया उसका।
वह कुछ बोला नहीं चिन्तामग्न होने से,
हो गयी गभीर गति देख वह चतुरा।
करके प्रवेश धीरे-धीरे सुरधाम में
रत्नासनासीन किया उसने स्वपति को।
बैठता था इन्द्र जहाँ सुललित भाव से
राग रंग और जयोत्सव के प्रसंगों में।
बैठ स्वयं वह बहलाने लगी उसको,
करिणी कुशल ज्यों उदास करिवर को।

बोला वह देख उसे तीक्ष्णतर दृष्टि से,
जैसे गिरि-गह्वर में गूँजता पवन है—
''ऐन्द्रिले, हा ऐन्द्रिले, द्विखण्ड किया किसने,
मेरा हेमकुम्भ पदाघात कर? विश्व में
व्याप्त राज्य, वृत्र-भुजदण्ड दर्पधारी जो,
किसने उजाड़ा, अब उसमें क्या सुख है?
वह सुख और वह ख्याति त्रिभुवन में,
वह तप मेरा और वर वह शूली का,

व्यर्थ हुआ सब कुछ तेरे क्रूर कर्म से।
क्रुद्ध हुए शंकर शची के अपमान से,
बोधित हुआ है क्रोध उनके विषाण से।
दानवि, समूल नाश दूर नहीं दैत्यों का,
(किन्तु तुझे दोष दूँ क्या, भूल हुई मेरी भी।)
देख, वह वह्नि-रेखा दीप्त अन्तरिक्ष में!"

मौन हुआ वृत्र नभ ओर स्वयं देखके।
बोली तब उससे सँभलकर ऐन्द्रिला—
"दैत्यकुलनाथ, ऐन्द्रिला के प्राणधन हे,
तुमको द्विधा क्यों हुई व्यर्थ यह मन में?
चंचल क्यों सिन्धु सुन सूँ-सूँ शिशुमार की,
काँपा क्यों धराधर पतंग-पक्ष-वायु से?
तार्क्ष्य को भुजंग-भय? तुमने क्या देखा है,
कहाँ रुद्र रोष, शृंग घोष,—मत्त कल्पना?
भूल गये नाथ, स्वर खेल है प्रकृति के,
गूँजते अनन्त में हैं कितने प्रकार से।
कितने प्रकाश-पिंड टूट-फूट जाते हैं,
आँखें चौंधियातीं कौंध-कौंधकर उल्काएँ।
किंवा देव मायावी, उन्हीं ने यह है रचा
इन्द्रजाल, दुर्बल बनाने के लिए तुम्हें।
तुमसे विमुख शिव? शैव कौन तुम-सा?
ऐसा सोचना भी है कलंक रूप तुमको,
और पंक-लांछन है आप चन्द्रचूड़ को।
होती कहीं मैं तुम्हारे स्थान पर आज तो
दैत्यराज, मेरा पण तुम स्वयं देखते,
चिन्ता द्विधा भीति दया जाती रसातल को।
भूले नहीं दैत्य पण स्मरण रहे तुम्हें,
तुमने कहा था—जीत बाँध मुख्य देवों को
वन्दना सुनूँगा उनसे मैं यहाँ अपनी।
है वह प्रतिज्ञा कहाँ, हँसते अमर हैं;
वन्दी हुए आप तुम संशय में अपने।
व्यर्थ मेरी निन्दा, तुम मुग्ध मिथ्या स्वप्न में।"
"वामा तुम"—कहके उठाये नेत्र वृत्र ने,

गर्वित गभीर मुख देखा दृप्त दारा का।
दाँतों पर प्रस्फुटित चारु विम्बाधर हैं,
और दीप्त-विस्फारित दृग हैं बड़े-बड़े।
देखा मौन रहकर चित्र वह वृत्र ने,
दम्भद्युति पूर्ण गंड मण्डित लुनाई से—
चित्त प्रतिविम्ब मानो आभान्वित हो रहा!
उच्छ्वसित अंग, गर्व ग्रीवा में, ललाट में;
मानो सुनी दैव वाणी अंगना ने अन्य से—
अश्रुत, इसी से उसे प्रत्यय है इतना।
मन दृढ़ उसका, तभी तो दैत्य-वाणी का
स्पष्ट उपहास करती है दैत्य-महिषी।
देख उसे दैत्य को भी दर्प हुआ मन में,
प्रत्यय-सा प्राप्त कर ऐन्द्रिला के गर्व से
क्षण भर जान पड़ा भ्रम ही हुआ मुझे।
करके कटाक्ष तब बोली वह व्यंग्य से—
"वामा मैं?"—सगर्व सिर ऊँचा कर, अथवा
घातक को डसने भुजंगी खड़ी हो गयी;
वा आखेट डालकर सम्मुख मृगादिनी
देखती है गर्व और गौरव से उसको;
किंवा राजहंसी विस-तृप्त मध्य सर में
पंखों को समेट ग्रीवा तान थिर हो गयी।
"वामा असुरेश, मैं? क्या वामा हेयकृमि-सी?
पुरुषों की बान्धवी है वामा और मन्त्राणी,
एकमात्र संगिनी सहायिका है वीरों की।
सुनो हे असुरराज, वामा हूँ यथार्थ ही,
ऐन्द्रिला त्रिलोक-ख्यात मैं गन्धर्वनन्दिनी।
साधारण अबला नहीं, तुम्हारी नारी हूँ।
सत्य ही जो रुद्र रुष्ट इन्द्राणी-हरण से
घोषित प्रलय करता है शृंग उनका,—
तो क्यों स्तब्ध ऐसे तुम हो रहे हो इससे?
जो सम्भाव्य, खण्डन क्या सम्भव है उसका?
सोच व्यर्थ, साधन ही चिन्तनीय अब है।
स्खलित हिमानी स्तूप कम्पित महीध्र से
घर्घर निनाद युत शृंग भंग करके,

जाता जब भू पर अरण्यों को उजाड़ता,
रोक सकता है तब कौन वेग उसका?
दैत्यराज, समझो यहाँ भी तुम ऐसा ही;
अन्यथा कलंक लेना चाहो निज नाम में
स्वर्ग-जय मेटकर तो शची को लौटा दो,
लौटा दो शची को भेट-वाही बन आप ही।
और कहो तो मैं स्वयं दासी बन उसकी,
सादर ले जाऊँ उसे वासव की सेवा में।''

देखा ऐन्द्रिला का मुख दीप्त दैत्यपति ने
झलमल कमल प्रभात-किरणों से ज्यों।
वृत्र के भी मुख पर आभा एक आ गयी,
तत्क्षण ही छाई फिर छाया पूर्व चिन्ता की,
और वह फीका पड़ा मेघावृत सोम-सा।
क्षण भर सोचकर बोला फिर उससे–
''वामा तुम, खेल नहीं है यह प्रकृति का;
अन्यथा पलक मेरे झँपते क्यों भय से?
अगणित खेल मैंने देखे हैं निसर्ग के।
तुम कहती हो, यह रुद्र-रोष ही हो तो
चिन्ता क्या, विदित नहीं ऐन्द्रिले क्या तुमको
मृत्युंजय आशुतोष रोष नहीं रक्खेंगे,
तुष्ट करने को उन्हें छोड़ूँगा शची को मैं।''

रति को बुलाकर निदेश किया उसने–
''इन्द्राणी निकट अभी जाओ स्मर-मोहिनी,
तुम उसे लाओ, अभी कारा-मुक्ति दूँगा मैं।''

आया वृत्र बाहर तुरन्त यह कहके,
चढ़कर कोट पर चारों ओर उसने
देखा, दैत्य दृष्टि देख सकती थी जितना।
दूर-दूर प्रान्त में अधित्यका-उपत्यका
छाकर सुरों के दीप्त देह देखे उसने,
रात का अँधेरा मेट दमक रहे थे जो।
सघन कहीं वे कहीं दीखते विरल थे,

कहीं-कहीं श्रेणी बद्ध और कहीं एक-दो।
तेज था दिगन्तव्यापी, जैसी अयि काशिके,
तीर से तुम्हारे पुण्य जाह्नवी के जल में
दीखते हैं दीपक तरंगों पर नाचते,
कार्तिकी अमा का तम दूर करते हुए,
मत्त काशी वासी जब दीपावली पर्व में
वा ज्यों निशा-पुष्प तारे खिलते हैं नभ में।

इस उजियारे में चमकते हैं कितने
चर्म-वर्म और अस्त्र-शस्त्र बहु भाँति के।
राशि-राशि स्यन्दनों का घर्घर निनाद है,
अश्व हींसते हैं तथा गज हैं गरजते,
घोर यम वाहन डिड़कते हैं। देवों के
मीठे कण्ठ सुन पड़ते हैं बीच-बीच में।
मोर पंख सोहता किसी शिविर पर है,
चित्रित है चन्द्र कहीं, पावक-शिखा कहीं।
युद्ध में निहत पड़े देह-भुज दैत्यों के,
रक्त-सने रुण्ड-मुण्ड छिन्न-भिन्न अंग हैं।
काला रंग और काला कर दिया काल ने,
भीषण बना दिया है युद्धस्थल देवों ने।

देखते ही देखते सबेरा हुआ स्वर्ग का,
दाँत पीस वृत्र ने हुंकार मारी क्रोध से।
लौटा वह व्याकुल हो आया मन्त्र-गृह में,
उच्छ्वसित उर था अशुभ चिन्ता करके।
देखा रणक्षेत्र दग्ध शोक और ताप से।
भूलने को रण में ही दारुण मनोव्यथा
प्रण किया उसने, बुलाकर सुमित्र को
आज्ञा दी समर हेतु सेना के सजाने की।

इधर कुमार के अधीन देव-सेना का
उत्तर के द्वार पर कोलाहल हो उठा।

त्रयोदश सर्ग

करती कलध्वनि अलकनन्दा है जहाँ,
इन्द्र हिमगिरि की उपत्यका में उतरा।
दिनमणि अस्त हुआ, अन्धकार बढ़के
अटवी का आलिंगन करता है प्यार से।
राजती हैं वन में विभिन्न तरु राजियाँ,
किंशुक शिरीष वट चल-दल शाल्मली
बाहुओं में बाहु डाले स्कन्ध मिला स्कन्ध से,
मन्त्रणा-सी करते हैं वात्या के विषय में।
भिन्न-भिन्न भाव मानों एक ठौर आ मिले,
हर्ष कहीं, शोक कहीं, शान्ति कहीं, भी[1] कहीं।
उज्ज्वलता है कहीं तो है कहीं मलिनता,
(साथ-साथ रहती हैं मृदुता, कठिनता,
घनता विरलता, सरलता जटिलता।)

धीरगति इन्द्र बढ़ा तम में विषम में
डोलती शिवाएँ जहाँ, बोलती हैं झिल्लियाँ,
तक्षक फुंकारते हैं, ऋक्ष हैं धुकारते,
कुंजर चिंघाड़ते, दहाड़ते हैं केसरी,
उल्लू बोलते हैं कहीं घोर धू-धू करके,
हैं फटफटाते पंख पक्षी त्रस्त-स्रस्त हो।
शाखाच्युत पल्लवों का मृदु रव होता है,
हाँफ-सा रहा है वायु सन-सन करके।
तम में विलुप्त पत्र-पल्लव-समूह में,
जुगनू चमकते हैं, छींट दिये नभ ने

1. भी = भय

अटवी के ऊपर असंख्य मणि-कण-से।
फैलीं जटा-शाखाएँ निशाचरों की बाँहों-सी!

आगे बढ़ा वासव कुतूहल से देखता।
दीख पड़ीं एक ठौर सुन्दरियाँ सैकड़ों,
रजनी की माँग पर मानों उडु-मालाएँ!
भेटती परस्पर, मधुर वाणी बोलती;
निष्कासित वा प्रवासी पा गया स्वजन ज्यों!
अद्भुत सुदृश्य वह देखा .शचीकान्त ने,
उनमें है कोई शिखिनी से बनी रमणी,
कोई हरिणी से और अन्य बहुरूपों से।
दुर्लभ है पृथ्वी पर उनकी-सी सुषमा!
मुक्त केश पैरों पर लोटते हैं उनके,
मानो रक्त पद्मों पर अलियों की अवली।
बोली एक बाला,—"हाय! दैव, और कितनी
दुर्गति है शेष हम देव-दयिताओं की?
धिक सुर बैठ रहे असुरों से हार के!
(इन्द्र है वा वृत्र अधिष्ठाता वीर रस का?")

उनके समीप अकस्मात इन्द्र प्रकटा,
रत्नधनुर्धारी, वन आलेकित करके।
पुलकीं वे हंस को विलोक मानो हंसियाँ।
घेर लिया उसको उन्होंने और पूछा यों—
"कब किया स्वर्ग समुद्धार प्रभो, आपने?
पाप कटा इतने दिनों में हम सबका।
तिर्यग्योनियों में छिप वास किया हमने,
सहनी न होगी अब और यह यातना।
आज्ञा मिले, हम अभिषेक करें आपका,
स्वर्ग का महोत्सव मनावें यहीं मिलके।"

दौड़ीं फूल चुनने को कितनी ही देवियाँ,
गूँथकर मालाएँ चढ़ाने को सुरेन्द्र को।
पूजेंगी उसे वे गा-बजाके और नाचके।

पंजरस्थ केसरी-सा वासव विवश था,

उसने उदास होके एक लम्बी साँस ली।
भिक्षुक है भू पर दिवेन्द्र आज हाय रे!
दैत्य-भुज-बल से विताड़ित त्रिदिव से।

आश्वासन देकर अमर-बाला-वृन्द को
उसने बताया सब, शंकर की आज्ञा से
आया वह कैसे महाश्रम में दधीचि के—
"तुमने बहुत सहा, थोड़ा और सह लो।"
सुनके उन्होंने कहा—"आश्रम है आगे ही;
करुणा के सागर तपोधन दधीचि हैं,
अद्वितीय हैं वे मर्त्य और स्वर्ग दोनों में।
जब से यहाँ हैं हम, जानती हैं उनको;
अतुल परोपकारी हैं वे नरकुल में।
परहित व्रत में ही अविरत निरत हैं,
चिन्ता रहती है उन्हें कीट-पतंगों की भी।
देवकार्य हेतु होगा उनको अदेय क्या?
इच्छा अनायास यहाँ पूरी हुई जानिए।"

देखा बढ़ वासव ने सूर्योदय हो रहा।
सम्मुख कुटीर है, मनोज्ञ मृग घूमते,
गूँज रही चारों ओर वेदध्वनि विशदा,
श्रुतिसुखकारी सूक्त-गान, सन्ध्या वन्दना।
कहीं सूर्यस्तोत्र कहीं, पाठ है महिम्न का।
बैठे हैं तपोधन महर्षि, शिष्य उनकी
वाणी सुनते हैं, सुर वागीश्वरी-वीणा ज्यों।
वे कह रहे हैं—"दुःख-मूल सब जीवों का
केवल कलह, वह कैसे यहाँ आया है।
एक दिन—हाय! वह दिन निकला ही क्यों—
सिन्धुजा हरिप्रिया ने स्वर्ग में विधाता से
कहा—एक रत्न रच देने के लिए उन्हें
अद्भुत अपूर्व। रचा एक फल ब्रह्मा ने,
रूप में जो चन्द्रजयी स्वादु में सुधाजयी,
भोजन की तुष्टि-पुष्टि गन्ध में ही जिसके।
देव-दानवों में मचा द्वन्द्व जिसके लिए,

लौटे जब सिन्धु मथ श्लथ विष-दग्ध वे।
स्त्री अनन्त-यौवना हो छूकर ही उसको
और जो पुरुष छुए, अक्षय प्रतापी हो।

उस फल हेतु ललचाई स्वयं ब्रह्माणी,
देख यह क्रुद्ध हुई उन पर इन्दिरा।
देवियों को देखा जो विधाता ने झगड़ते,
फेंक दिया पृथ्वी पर उस विष फल को।
जग में तभी से चलीं ईर्ष्या द्वेष हत्याएँ,
होने लगी जगती निमग्न नर-रक्त में,
फैली हैं लड़ाइयों की घोर महामारियाँ।
हाय! नरजाति कब समझेगी इसको,
लोभ कैसा राजरोग, फूट कैसा विष है,
जन-जन जूझें, यह आत्मा का हनन है,
(और है मनुष्यता का पशुता से हारना।
वैर से जो सम्भव, असम्भव क्या प्रेम से?)
भूल देवनन्दिनी दया को हा! न जानें क्यों
करते हैं लोग हत्या-राक्षसी की साधना!

भू-सीमन्त-रत्न नर मिलकर प्रेम से
बन्धुता की गंगा कब भू पर बहायँगे?
दूसरा उपाय यहाँ क्या है सुख-शान्ति का।
नारायण नारायण, नर को सुबुद्धि दो,
(फुरे मन्त्र गायत्री 'धियो यो नः प्रचोदयात्')

मुग्ध ऋषि-वाणी से अदृश्य इन्द्र प्रकटा,
पूर्ण हुआ आश्रम अपूर्व महाज्योति से;
किरणें निकलती हैं मेघ-ऐसे केशों से
वक्ष पर दीर्घ वर्म सूर्योदया दूसरा!
मेघमाला वाला चाप, अक्षय निषंग है,
जलते सहस्र नेत्र, तारे ज्यों निशांक में!

शिष्यों सह आदर से उठ लिया ऋषि ने
अपने अतिथि को, शुभासन दिया उसे,

पूछा—"यह कष्ट किया किस अभिलाषा से?"
आर्त्त हुआ इन्द्र-मन सदय मुनीन्द्र का
मंजु मुख देख—मानो नवमी की पूजा में
यूप-बद्ध-छाग देख, तरस हुआ उसे।
कौन किस मुँह से किसी से कहे—'प्राण दो!'
बोल नहीं पाया वह जड़-सा खड़ा रहा।
क्षण भर देखकर ध्यान किया ऋषि ने,
जान लिया आप ही, अतिथि को क्या चाहिए।
वे आनन्द-मग्न हुए, गद्गद हो बोले यों—
"मेरा अहोभाग्य अहा! जीवन सफल है।
देवराज, धन्य किया आज मुझे आपने,
आश्रम पवित्र, पुण्यभूमि कृतकृत्य है।
तुच्छ अस्थियाँ ये छार होकर न अग्नि में
देवोद्धार कार्य में लगेंगी एक दिन यों,
क्या सम्भावना थी मुझे स्वप्न में भी इसकी?
आपको विषाद न हो मेरे महाह्लाद में।"

शुद्ध पट्ट पहना विशुद्धमना मुनि ने,
गाई फिर गायत्री गभीर धीर नाद से।
आकर अजिर में वे बैठे शान्त भाव से,
शत कर-पल्लवों की स्निग्ध वटच्छाया में।
योगासन साश्रुमुख शिष्यों ने दिया उन्हें,
शीतल सुवासित पुनीत गंगाजल भी,
गुग्गुल अगरु सर्ज धूप चारों ओर दी,
चन्दनार्द्र कुसुम बिछाये और उनके
हारों से सजाया इष्ट देव जैसा उनको।

तेजः पुंज ऋषि हैं, दृगों में दिव्य दीप्ति है,
उन्नत ललाट प्रभा-पट्ट-सा है दीखता।
ओठों पर आभा है, कपोलों पर कान्ति है,
किरणों से निर्मित-सी दाढ़ी और मूँछें हैं।
लम्बी लहराती हुई मन्द गन्धवह से,
वक्ष पर पुण्डरीक-माला लक्ष्य योग्य है।

बहते हुए-से सुधी जीवदयाधारा में
शिष्यों के वदन देख आँसू पोंछ उनके,

बोले वे मधुर वाणी उनसे अमृत-सी–
"वत्स, रो रहे हो तुम मेरे इस भाग्य में?
कितने दे पाते यहाँ प्राण परहित में,
ऐसे व्रत-साधन में कैसी व्यथा-वेदना?
हा! अवोध जीव, इस नश्वर शरीर का,
क्या हो जो न आवे यह काम परहित में?
सोचो नररूप में क्या सार्थकता इसकी,
क्षण-क्षण क्षीण होता जीवन का स्रोत है।
दुर्लभ सुयोग ऐसा आता है कभी-कभी,
छोड़ूँ क्या इसे मैं, कहो शिष्यो और साथियो,
और इस जीवन को यों ही सूख जाने दूँ?
जनहित ही है परमार्थ जन-जन का,
जो निष्काम, जो निःस्वार्थ, मुक्ति वही पाता है।"

भेद तपोधन ने तपस्वियों को, शिष्यों को
आशीर्वाद देकर, कहा यों पुरन्दर से–
"देव, दया करके पवित्र करो अन्त में
छूकर शरीर यह मेरा कर-कंज से।"

बढ़ मघवा ने शिरः स्पर्श किया उनका
और भरे कण्ठ से कहा जो, सुना उसको
तापसों ने मुग्ध होके हर्ष से, विषाद से।

"साधु शिरोरत्न, तुम्हीं सात्विक तपस्वी हो,
जीव-साधना का सार समझा तुम्ही ने है
और उसे साधा, मोक्ष-भागी तुम धन्य हो!
जन समुदाय रूपी सागर में कितने
अनुदिन बुद्बुद-से उठते-बिलाते हैं।
अक्षय तरंग मय सतत प्रवाह है
उसका–क्या क्षुद्र प्राणियों की ह्रास-वृद्धि से?
अहित नहीं है कहीं उसका भुवन में,
अहित उन्हीं का, व्यर्थ मरते हैं जो यहाँ।
प्राणि मात्र छोटे हों बड़े हो, निज कर्मों से
कर सकते हैं वे हिताहित मनुष्यों का।

बालु कण जैसे दिन-रात सिन्धु-गर्भ में
बढ़कर एक दिन द्वीप बन जाते हैं
हरे भरे, वैसे ही मनुष्य शुभ कर्म से
ऊँचे उठते हैं सदा साधक के रूप में।
स्वार्थ नहीं सज्जनों का धर्म, परमार्थ है।
जाना वह धर्म भली भाँति मुने, तुमने
और उसे पूर्ण करते हो तुम आज यों।
अश्रु पोंछो ऋषियो, दधीचि ऋषिराज ने
पाया है परमपद आज इसी लोक में।

क्या दूँ हे महर्षे, कुछ माँगा नहीं तुमने,
प्रातः स्मरणीय सदा नाम हो दधीचि का।
हे निष्काम, इसमें भी लाभ दूसरों का ही।
द्वैपायन जन्मेंगे तुम्हारे ऋषि-वंश में
और इस आश्रम की ख्याति वे बढ़ायँगे।
अधिक कहूँ क्या, पुण्यभूमि में वदरिका-
आश्रम सुधन्य होगा गण्य-मान्य सर्वदा।''

मुनि-मुख देख इन्द्र रोमांचित हो उठा,
मूँद लिये लोचन उन्होंने मोदमग्न हो।
रोते हुए शिष्य वेद गाने लगे, साथ ही
गूँजा हरिकीर्त्तन गभीर मधुवाणी में।
रुक गया सहसा समीर मुनि-शोक में,
मृदु हुए रविकर, स्निग्ध नभ हो गया।
वन-मन भेद कर गन्धोच्छ्वास निकला,
झुक गये बल्ली-वृक्ष, देके कुसुमांजली।

स्थिर मुनि-नेत्र हुए देखते ही देखते,
श्वास-शून्य नासा हुई, निस्पन्दित नाड़ियाँ।
निकला प्रदीप्त ब्रह्म-तेज ब्रह्म-रन्ध्र से,
अनुपम ज्योतिः पूर्ण ऊँचे अन्तरिक्ष में
क्षण भर दीखा फिर शून्य में विला गया।
पांचजन्य शंख बजा गूँजा घोष गहरा
देवकार्य हेतु तनु त्यागा महामुनि ने,
ढँक लिया उसको अनन्त पुष्प-वर्षा ने।

चतुर्दश सर्ग

मन्दाकिनी तीर अमरावती के प्रान्त में
प्रस्तर विनिर्मित निभृत देवालय में,
चिन्ता-अनुतप्त अमरों को सदा जिसकी
वन्दिनी है इन्द्रजाया! चारों ओर कुंजों में
दिव्य द्रुमराजि परिपूर्ण फल-फूलों से।
वे ही पारिजात पुष्प उन्मादित जिनसे
देव-मन! दूर वही वैजयन्त धाम है,
चारु कारुकार्यमय, सृष्टि में अनन्य जो
नन्दन विपिन भी सजा है दूर वैसा ही,
पाके निज मध्य उसे मग्न वह पूर्व-सा।
रूप वही, रंग वही, गन्ध वही छाया है,
हर्षित हृदय खोल स्वागत में उसके;
दूर किया चाहते हैं श्रान्ति सभी उसकी।

छूट रहीं हर्षाकुल मन्दाकिनी-धाराएँ,
करके सुविम्बित विहारस्थल उसके।
है मनः शिलातल सुरम्य आज और भी।

कौन ऐसा प्राणी, लौटकर जो विदेश से
देखे निज देश और हर्षित न हो, भले
देश वह पंकिल वा मरु गिरिमय हो।
(किन्तु वह स्वर्ग हो तो फिर कहना ही क्या?)
परिचित पूर्व के निकेत खेत विटपी
गिरि-वन जन्तु-जन और सर-सरिता
उल्लसित करके कहा न यों जिससे—

"मेरा यही देश, यही मेरी जन्मभूमि है!"
कौन ऐसा, रो न पड़े प्राण जिस प्राणी के
दलित विलोक उसे शत्रु-पदाघात से,
पर-वश देख अपनों को जो न रो उठे;
सूँघते डरे न एक फूल भी जो वन का;
देव-वन्दना के पूर्व शत्रुओं की वन्दना
हा! जहाँ न करनी पड़े त्रिकाल सन्ध्या में!

आज वही पीड़ा है शची के चल चित्त में,
चिन्ता की तरंगें उठती हैं महोच्छ्वासों में,
दृष्टि फेरते ही शल्य बिंधता है उर में।

चपला तरलमति शोभा देख स्वर्ग की
मौन रह पाई नहीं, बोली सुरेन्द्राणी से
दृश्य सब ओर के दिखाकर उसे—"अहा!
देखो महादेवि, कीर्तिस्तम्भ अमरों के ये।
भग्न प्रतिमाएँ अब, तो भी मनोमोहिनी।
देखो यह दृश्य दैत्य नमुचि-निधन का,
प्रस्तर में अंकित अपूर्व इन्द्र-सुषमा।
सुभट बलासुर रुधिर छोड़ मुँह से
छोड़ता है विकट शरीर यह अपना।
देखो, वह मण्डप है रत्नागार नाम का,
इस पर बैठते थे ब्रह्मा जब आते थे।
देखो वह पद्मासन, बैठती थीं श्री जहाँ
हर लिये दानवों ने रत्न बहु उसके;
शोभित उसीके पास सिंहासन हरि का।
और अहा! देखो वह व्याघ्रासन शिव का,
आके जगन्माता संग बैठते थे वे जहाँ।
मन्दिर है श्वेत भुजा भारती का सामने,
गाती थीं बजाके जहाँ सप्ततन्त्री वीणा वे
अमर-सृजन-गीत हर्षमग्न, याद है?
बहता था कैसा सुख-स्रोत सुरगण में,
सुनकर मोदोन्मत्त नारद थे नाचते,
संग-संग पंचमुख पंचताल देते थे।

देवेश्वरि, कैसा सुख उन सब बातों में!
स्मृतियाँ असंख्य मनः प्राण भर देती हैं,
कादम्बिनी-क्रोड़ रवि-रश्मियाँ ज्यों साँझ को।''

बोली सुख-दुःख भरे मन से सुरेश्वरी—
''मेरा वह स्वर्ग कहाँ आज चारु चपले!
कहके वे बातें आज तू क्यों जी दुखाती है;
ऐन्द्रिला की अंघ्रि-सेवा दीखती है अब तो!
कारा है शची की यह, अमरावती नहीं।''

''क्या कह रही हैं आप, कारण यह आपकी?
अब भी नहीं क्या पूर्व गरिमा वही यहाँ?
भेद रहे जिसके वे शिखर अनन्त को,
चिह्न इन्हीं पैरों के सुमेरु नहीं चाहता?
'वैजयन्त देवी शची का है' उठ ऊँचे ये
मन्दिर पुकार कर कहते नहीं हैं क्या?
मन्दाकिनी सुन्दर तरंग-कर फैलाके
किसके चरण छूना चाहती है? कहिए।
मेघ पुष्करावर्तादि पृष्ठासन किसके
होना चाहते हैं? और हाय! यह चंचला
चूमा चाहती है रथ-चक्र-नेमि किसकी?
क्या ये मानते हैं शची ऐन्द्रिला की दासी हैं?
किंवा जानते हैं महारानी उन्हें अपनी?''

उत्सुक प्रसन्न मुख देखकर आली का
मन्द मुसकाई शची भेटा उसे उसने,—
''रति ने जयन्त-मूर्च्छा-भंग जो बताया था,
आलि, सुनूँ फिर वह, तृप्ति नहीं मुझको।
लेकर तनय को मैं नैमिष अरण्य में
रहती थी दुःख में भी सुख से ही चपले!
उसके समक्ष क्या है मेरे लिए स्वर्ग भी।
वह सुख फिर कब पा सकूँगी हाय! मैं?
भूलूँगी उसी से दैत्य-कृत निज दुर्दशा।''

आके इतने में पद-वन्दना की रति ने;
"स्वस्ति" कह बोली शची—"रति, तुझे देखके
होती है सदैव मुझे कितनी प्रसन्नता।
उस दिन तूने दी जयन्त-चेत-सूचना,
तू चिर सुखी हो, कह आज सुसंवाद क्या?

चर्चा सुनूँ तुझसे उदार इन्दुबाला की,
मन करता है मिलने को उस साध्वी से;
डरती हूँ किन्तु, न दे त्रास उसे ऐन्द्रिला।"

हँसकर बोली रति "देवेश्वरि, आपकी
इच्छा आज पूरी हुई, दैव अनुकूल है;
गौरी की सुदृष्टि हुई, शंकर प्रसन्न हैं।
उग्रतर उनकी कराल क्रोध-ज्वाला से
त्रस्त हुआ स्वर्ग जयी वृत्र, वह उनको
तुष्ट किया चाहता है, निष्कृति दे आपको;
भेजी गयी आपको बुलाने मैं इसीलिए।"

झंझा-पूर्व जैसे स्तब्ध होती है नभस्थली,
सहसा गभीर हुई इन्द्राणी पुलोमजा।
बोली कुछ सोचके—"नहीं रति, नहीं, नहीं;
दानव ने तुझको छला है निज माया से।
कामकामे! भूल न तू हाय! कालसर्पिणी
कूट-क्रीड़ा ऐन्द्रिला मुझे क्या कभी छोड़ेगी?
केश पकड़ा कर धराया मुझे जिसने,
उसकी उपेक्षा कर दैत्य मुझे छोड़ेगा?
मेरे पति आयँगे छुड़ाने निज जाया को,
आवेगा तनय मेरा जननी के अंक में।
रति, क्या दनुज की मैं आज्ञावहा दासी हूँ,
जो वह बुलावे मुझे और दौड़ी जाऊँ मैं
वृन्दारक-वृन्द मध्य ऐसा नहीं कोई क्या,
मुक्त करे मुझको जो दैत्य कारागार से?
चाहती नहीं मैं निज निष्कृति दनुज के
हाथों, रति, जाकर वहाँ तू यही कह दे।

जब तक मुझे मेरे पति न छुड़ायँगे,
भागूँगी सगर्व यह कारा-कष्ट मैं यहाँ।''
देख शून्य ओर शची उच्छ्वसित हो उठी—
''भक्त दुःखनाशिनि, भवानि, तुम देखोगी
ऐन्द्रिला की अंघ्रिदासी हूँगी मैं स्वगेह में!''

मौन हुई वासव की वासना सुमानिनी।
मुख पर कान्ति आयी फुल्ल स्थल-पद्म की।
दश दिश दीप्तिकर, काट कर कुहरा
फैलीं दश दिश में प्रभात की-सी किरणें!

सिहरी सुदीप्ति देख अंगना अनंग की,
सोच फिर क्रुद्ध रूप दारुण दनुज का
ऐन्द्रिला की ओर चली आँसुओं में भीगती।

पंचदश सर्ग

सेनानी बनाकर सुयोग्य रुद्रपीड़ को
वृत्र गया उत्तर के द्वार पर वेग से
दण्ड देने दुर्द्धर प्रभंजन को, पाशी को,
भास्कर को और स्वयं देवसेनाध्यक्ष को।

घोर रण हो रहा है द्वार पर पूर्व के,
अग्नि के समेत जहाँ जूझता जयन्त है।
युद्ध-वाद्य बजते हैं देव और दैत्यों के,
होता है विदीर्ण व्योम भीम कोलाहल से।

धनुष टंकोर व्यूह-मुख पर आ डटा
रुद्रपीड़, क्रीड़ा मची जीवन-मरण की,
दोनों ओर घोर गर्जना के साथ तर्जना,
डगमग डोला स्वर्ग वीर-पद-भार से।
एक दल बढ़ता कभी है, कभी दूसरा।
झंझा में सवेग उठ सिन्धु की तरंगें ज्यों,
करती हैं रंग-हेला-खेला महावेला से,
जाती और लौट आती हैं प्रहार करके;
उफना रही हैं त्यों दुरन्त दोनों सेनाएँ।

लाँघ परकोटा बढ़ी देव-चमू क्रम से,
अग्निरूप अग्नि और इन्द्रात्मज आगे है,
उत्साहित हो रहा है उनसे स्वपक्ष भी।

उनके शरों से दैत्य योद्धा हत हो रहे;
अद्रि-शिलाखण्ड ढहें जैसे भूमिकम्प में
वा चड़मड़ाके गिरें झाड़ जैसे झंझा में!

गरजे कृशानुदेव, बोले—"सुरसैनिको,
विक्रम दिखाओ और क्षण भर ऐसा ही,
फिर हो हमारी अमरावती हमारी ही।
दैत्य-शून्य होगा यह द्वार एक क्षण में,
विजयी जयन्त, इसे लाँघते ही सामने
दृष्टिगत होगा चिरानन्द धाम अपना;
देखा नहीं हमने उसे है हाय! कब से।
देखो उसे और निज नन्दन विपिन को,
अमरावती का चिररत्न है अनोखा जो।"

चहुँधा लुटाके चिनगारियों की मणियाँ
दौड़े अग्निदेव आगे, साथ ही जयन्त है,
पीछे बढ़ी जा रही है अमर-अनीकिनी।
वेग सह पाई नहीं सेना रुद्रपीड़ की,
अद्‌भुत पराक्रम दिखाया उस योद्धा ने;
किन्तु जोड़ पाया नहीं भंग दल साहसी,
रक्त बहा जा रहा है जिसके शरीर का।

टूटने को हो रहा है उत्तर का द्वार भी,
दैत्यों पर छा गये हैं देव रणमत्त-से,
व्यर्थ कर चण्ड भुजदण्ड-बल उनका।
नभ को झुलस शर छूटते हैं देवों के
करके दिशाएँ दग्ध तड़िता-तरंगों से।
दौड़ दाँत पीस गदाघात किया वायु ने,
विकट जटासुर पतित हुआ उससे।
साथ उसके थे दैत्य दो करोड़ संख्या में,
अस्त-व्यस्त करके समस्त उस दल को
ध्वस्त कर डाला वायुदेव ने अकेले ही।

दौड़ते हैं कालानल रूप रवि दिव को
दग्धकर चारों ओर संगर-समुद्र में।
करके भृकुटि वक्र, चक्र वे चलाते हैं,
जलती है वाड़वाग्नि ज्यों सौ कोस सिन्धु में;
गिरते हैं झुण्ड-झुण्ड रुण्ड-मुण्ड दैत्यों के।
दुष्ट दन्तवक्रासुर भागा रण छोड़के,
लवण समुद्र काँपता था डर जिससे,
देव क्षत-विक्षत थे दशनों से जिसके।
भागा दल साथ-साथ ज्यों वातूल वेग से
टूट लता-वृक्ष संग-संग खिंचे जाते हैं।

मारा सिंह-मुण्ड सिंहमुण्ड को वरुण ने,
जो था नाविकों का त्रास पिंगल पयोधि में,
जैसे पापियों का भय रूप यम-गेह है।
देखके प्रचेता को प्रचण्ड नाद करके,
दोनों कर ऊँचे किये, अम्बर अँधेरता
दीर्घ द्रुमकाण्ड-सा दनुज दौड़ झपटा।
चिल्लाकर भाग उठे सैनिक वरुण के;
गरजे-सरोष पाशी, गरजे थे जैसे वे
जब निकला था कालकूट पेय शिव का—
''जाओ रे शृगालो, छिपो जाके नरकान्ध में,
देवाधम तुम हो कलंक देवकुल के,
पीठ पर मेरे रहते हुए जो भागे हो।
देखो दूर से ही अरे, विक्रम वरुण का।''
यों कह हुंकार प्रलयोर्मि सम पाशी ने
छोड़ा निज पाश और अन्त हुआ पापी का।
घोर नाद पूर्वक मनःशिला विदारके
दाँतों से, नखों से, गिर भूमि ढँकी उसने।

चढ़ परकोटे पर लड़ते अमर हैं,
हो रही है हीन-बल नीचे दैत्य वाहिनी,
देख यह दुर्गति महान दैत्य गरजा।

वासुकि-सा भीम पदाघात किया उसने
विश्वकर्मा-निर्मित सुदृढ़ भित्ति-मूल में,
काँप खण्ड-खण्ड होके वह भहरा पड़ी,
टूटता है जैसे गिरि घोर भूमिकम्प में।
प्रज्वलित भिन्दिपाल लेके क्रुद्ध वृष-सा,
खण्ड-खण्ड करता-सा अम्बर के उससे,
दलने लगा वह सदर्प देवसेना को।
उड़ने लगे तब अमर व्योम ढँकके,
देकर टँकोर धुनकी को द्रुत दण्ड से
धुनकर तोड़ तूल-राशि ज्यों उड़ाता है!
बह चला स्वच्छ श्वेत रक्त सुर-देहों से,
फैल उठी उसकी सुगन्धि सब ओर से।
अक्षत है देव-तनु अतनु समीर-सा,
नर-तनु तुल्य दाह पाता है प्रहार से।
आकुल अमर हुए मानो हलाहल से,
ऊँचे उड़े तत्क्षण वे बैठके विमानों में,
मानो उगे लाख-लाख तारे नील नभ में।
अभ्र छिन्न-भिन्न हुए, खेचर कहाँ गये।
सुरथी शिखिध्वज पवन पाशी सविता,
शर बरसाने लगे दैत्यों पर ऊँचे से,
बिजली के झरने-से फूट पड़े व्योम से,
कट-कट कोटि-कोटि दैत्य गिरने लगे,
देवों को न छू सके वे हाथ किंवा शस्त्रों से।
घूम उठे देखकर तीनों नेत्र वृत्र के
दीप्त कर दीर्घभाल। दी हुंकार उसने,
स्फीत हुआ उसका विशाल वपु मेरु-सा,
किंवा सिन्धु मन्थन में फैले फणिराज-सा।
हाथों को बढ़ाके वह उछल-उछलके
धर-धर देवयान फेंकने लगा उन्हें।
गिरने लगे वे सब ओर टूट तारों से।

त्रस्त हुए देवसेनानायक, वे और भी

उठ गये ऊँचे पर घोर अन्तरिक्ष में;
करने वहीं से लगे अपने प्रहार वे।
प्रलय पवन जैसे वृक्षों क्या पहाड़ों को
तोड़-फोड देता है, अमर-शर-राशि ने
छिन्न-भिन्न कर दिया लाख-लाख दैत्यों को।
ऊर्ध्वपट गिरने लगे अरि जहाँ-तहाँ,
ढँककर भूमि, गिरि और जलागारों को।
त्रिभुवन काँप उठे पाशी के प्रहारों से,
आ गया हो जैसे महाप्लावन प्रलय का।

आग-सी लगा दी इसी भाँति वह्नि-वायु ने,
और शिखिध्वज ने प्रचण्ड घनाघातों से;
कर उठे हाहाकार दैत्य त्रस्त-स्रस्त हो।
सुदृढ़ अभेद्य तनुधारी शिखिध्वज ने
वृत्र को विलोक अविराम बाण छोड़े यों,
बरस रहे हों फणी मानो फुफकारके
कोटि-कोटि, काटने लगे वे वृत्र-गात्र को।
आकुल हो लक्ष्य कर उसने कुमार को
छोड़ दिया शम्भुदत्त शूल ऊल दम्भ से।
छूटा वह करके उजाला अन्तरिक्ष में
छूटीं घोर अग्नि की शिखाएँ अहा! उससे,
भर गया सारा शून्य उसके विराम से।
दीखा वह जाता हुआ स्थानच्युत ग्रह-सा!
देख उसे स्तब्ध हुए देव-दैत्य दोनों ही;
विचलित व्योम हुआ। आज्ञा से कुमार की
हटकर सूर्यादिक जा छिपे, अँधेरे में।
डूबे कोटि तारे यथा अन्धा कर उसको।
देव-तेज संवरण कर लिया देवों ने।
लुप्त हुए अन्य अस्त्र, एक वह शूल ही
जलता हुआ-सा चला नभ को जलाता-सा!
घूमा सब ओर वह सारे अन्तरिक्ष में,
पाकर न लक्ष्य लौट आया सकुचाया-सा!

उसकी प्रभा में रण-भूमि देखी वृत्र ने,
भीषण मरण-भूमि हो गयी जो दैत्यों की।
रह गया वह उस आँगन में एकाकी,
ज्यों हिमाद्रि-शृंग उड़ जाने से गरुड़ के!
दैत्य-जयकेतु उसे दीख पड़ा पास ही
लोटता-सा धूलि में, उठाके वह उसको
चिन्ताकुल होके घर लौटा वीर-गति से।

षोडश सर्ग

नन्दन में सुन्दर निकुंज बना, जिसमें
लहलहे पल्लव हैं, गहगहे फूल हैं—
लाल नीले पीले श्वेत, भेंट कर उनको
पाता है पवन गन्ध; मृदु रव करके
बहती वहाँ है नित्य मीठी नाट्य लहरी।
मधु झरता है, जो सुधा की होड़ करता,
बोलते हैं पंछी डाल-डाल पर डोलते,
श्रुति-रस घोलते हैं, भौंरे हैं किलोलते।

कन्धे पर पुष्प-चाप, पुष्प-शर कर में,
विचर रहा है काम रंग से, उमंग से;
मृदु अधरों पर उषा की-सी अरुणिमा,
बिजली-सी हास, लाल होंठ बाल रवि-से,
चित्त बेधती हैं तीक्ष्ण किरणें कटाक्ष की।

देख कहा ऐन्द्रिला ने—"जैसा चाहती थी मैं
काम! उससे भी वाम कुंज रचा तुमने।
देख स्वयं दैत्यराज तुमको सराहेंगे,
युद्ध से थके जब यहाँ वे जयी आवेंगे।"

भीतर जा बैठ गयी दर्पण ले सुन्दरी,
हास अधरों पर, कटाक्ष नयनों में है,
देख निज रूप आप मोही वह मोहिनी।

अस्फुट-सी बोली फिर उन्नत उरोजिनी–
"दैत्यराज, वामा मैं? शची को छोड़ मुझको
तुम अपमानित करोगे? भला, देखूँगी!
पूरी करती हूँ सदा मैं तुम्हारी कामना,
मेरी कामना भी तुम पूरी न करोगे क्या?
देखो इस वार कैसी वामा यह रमणी।"

सुन पड़ा भूषणों का शब्द उसे सहसा,
"आती है शची क्या यहाँ?" घूमी वह दर्प से
सुनके डमरू सर्पिणी-सी खड़ी हो गयी।

एकाकिनी आती हुई देखी रति उसने,
चिन्तानतवदनी ज्यों सूर्यमुखी सन्ध्या की।
"इन्द्राणी कहाँ है रति?" प्रश्न किया उसने–
"उसने यथेष्ट पुरस्कार दिया क्या तुम्हें,
सुन निज मुक्ति-समाचार शुभ तुमसे?"
"दैत्यराजमहिषी, तुम्हारी किंकरी हूँ मैं,
मुझ विवशा से तुम व्यंग्य करती हो क्यों?
जानती हो आप तुम-अति अभिमानिनी
वासव की कामिनी हैं, आना नहीं चाहतीं,
मुक्ति नहीं लेंगी वे रहेंगी सदा कारा में,
निडर सहेंगी सब दानव-निवास में।"

देख कनखी से उसे खिल उठी ऐन्द्रिला।
तड़िता तरंग-सी उठाकर अपांग में
ग्रीवा-भंग-पूर्वक अधर काटे उसने–
"रति, कहती हो क्या? शची यहाँ न आयगी?
धन्य इन्द्र-मानिनि असुरवाणी व्यर्थ है–
मुक्त तू न होगी? चल देखूँ तुझे मैं भी तो।
मुझको सजाओ भलीभाँति कामकामिनी!
तुम-सी कुशल कौन केश-वेश-भूषा में?
प्रिय को भुला सकूँ मैं बाँध हास-पाश में,

आज ऐसा सज्जा करो, जानूँ तब मैं तुम्हें!
युद्ध से थके वे जब लौटकर आयँगे,
दूँगी पुनर्नवता उन्हें मैं इसी कुंज में।
आहा! यहाँ काम ने दिखाई क्या कुशलता,
मद-भरी अद्भुत सुगन्धि कैसी छाई है!''

रति ने सजाया प्रतिमा-सा उसे यत्न से।
धन्य बलिहारी रति, तेरे गुण-कर्म की!
फुल्ल मुख दानवी का धौत नीलोत्पल-सा,
आभूषण गूँजते हैं उसके भ्रमर-से,
माधुरी टपकती है एक-एक अंग से,
लोटती लुनाई की तरंगें पड़ी पैरों में।
मानो सजी आप रति काम को लुभाने को,
वा शिव-समाधि भंग करने चलीं उमा
विकच वसन्त में! जँची विशेष ऐन्द्रिला,
सूक्ष्म हुई और कसने से कटि उसकी,
पीनस्तन भार से जो लच-लच जाती है।
झलमल केशरत्न-तारक तिमिर के!
देख वह कान्ति रति आप हुई भ्रान्त-सी।

दर्पण विलोक दृढ़ निश्चय हुआ उसे—
वृत्र को शची की अब सुध भी न आयगी।
कोयल-सी कूक वह बोली—''रति, और जो
शेष वस्त्राभूषण हों, पहना दो मुझको।
लाओ रत्नहार, मणि-मुकुट जहाँ जो हों,
विजित कुवेर-कोष लाकर उँड़ेल दो।
लाओ यान पुष्परथ अश्व गज मेरे जो,
लाओ हेमदण्ड पर सुपट पताकाएँ।
वीणा वेणु मुरज मँजीरे और भेरियाँ,
जो कुछ भी मेरा हो न छोड़ो कहीं कुछ भी।
चेटियों को आज्ञा दो, सशस्त्र सज वे सभी
आकर खड़ी हों यहाँ, त्रिजटा, त्रिगुणिका

कालिका, कपाली और गन्धर्वात्मजाएँ जो।
जाओ, हे अनंग, तुम, दैत्यपति लौटके
आवें जब, कहना—तनिक यहाँ विहरें।''

नूपुर पदों में बजे, किंकणियाँ कटि में।
काम ने बताया, वृत्र लौट आया जीतके,
ज्यों वन उजाड़ व्याध लौटता कुटी में है;
सोचता है बैठ—लाभ क्या इस विजय से?
ध्वस्त हुई पूरी दैत्य-सेना रणभूमि में,
शेष रह सकते हैं दैत्य कब तक यों?
मान लिया मैंने, जय पा ली है समर में,
अक्षय है मेरा तनु, मान लिया यह भी।
किन्तु प्रतिरण में मरण हुआ ऐसा ही,
तो मैं किसे लेकर विजय राज्य भोगूँगा?

संहति सहित आगे करके मदन को,
गति की तरंगें-सी उठाती चली ऐन्द्रिला।
भूला मधुमित्र मुसकान में ही उसकी।
दैत्यपति देख उसे उठके गले मिला,
भूल गया तत्क्षण ही चिन्ता-व्यथा अपनी।
धुल गया मन का मलिन भाव उसका,
बोला वह—''आहा! यह कैसी मनोहारिणी
देखता हूँ मैं तुम्हारी आभा अयि ऐन्द्रिले!
फूटता है रक्त में अरुण राग ओंठों का,
स्निग्ध करती है देह बाहुलता, आहा हा!''
''दयित, तुम्हारी रणश्रान्ति हरणार्थ ही
काम ने रचा है नव-कुंज मेरी आज्ञा से।
मैं भी सजी शोभा देख, मेटो श्रम चलके।''

किंकणी की, नूपुरों की रुन-झुन करती
ले चली उसे वह भुजों में भरे धीरे से।
देती हुई मन्द हास—चन्द्र-करस्पर्श-सा!

कुंज में जा वृत्र हर्ष-विह्वल-सा हो गया।
रोमहर्ष होने लगा कलरव सुनके।
उमड़ रहा है सब ओर मधु-सिन्धु-सा!
पल्लव मुकुल लगे स्मर-शर-से उसे;
सपना-सा आगे देख पीछे नींद आ गयी!

हँसके जगाया ऐन्द्रिला ने क्लान्त पति को,
दोनों फिर घूमने को निकले हिले-मिले!
चल कुछ चौंक वृत्र बोला—''प्रिये, यह क्या,
देखता हूँ मैं तुम्हारे आज क्या-क्या ठाठ ये?
कैसी यह चेटी-चमू?—क्या यह समर है?''
''प्राणप्रिय, तो मैं कहाँ रक्खूँ इन सबको,
देखते हो जो ये घर-वार, वे हैं किसके?
अमरों के वास हैं, निवास शची रानी के।
रति से कहा है उसने—मैं भुवनेश्वरी,
दैत्य सब तस्कर, न जानें और क्या, क्या, क्या!
चाहती नहीं है वह कारामुक्ति हमसे,
तुच्छ दैत्य क्या है, मुक्ति कौन किसे देता है?

यह सुख वैभव उसी का, वही स्वामिनी,
सुन लो असुरराज, सुन लिया मैंने तो!
आ जावे न जानें कब वह भुवनेश्वरी,
तब तक आके यहाँ बैठी मैं निकुंज में,
आज्ञा जब पाऊँगी, निकल चली जाऊँगी!''

आपे में रहा न दैत्य फूल उठा क्षोभ से।
''रति कहाँ?'' —रति झट आयी वहाँ काँपती,
बोली—''शची आना नहीं चाहती हैं कारा से,
वन्दिनी रहेंगी और जो होगा, सहेंगी वे।''

क्रोध से कराल मुख, लाल आँखें दैत्य की,
बोला दाँत पीस, ओंठ काट उष्ण निःश्वासी—

''इतनी अवज्ञा!'' निज केश दोनों हाथों से
नोचकर और हूँ-हूँ कर वह झपटा।
तत्क्षण चतुर ऐन्द्रिला ने शम्बरारि का
लेकर कुसुम-चाप, रोपकर घुटने,
कान तक तान पुष्प बाण छोड़ा वेग से।
वह है अमोघ, प्राण सिहरे असुर के,
लौट देखा उसने सदर्प हँसती हुई
सामने खड़ी है स्थिर दामनी-सी ऐन्द्रिला—
रूप राशि!—दैत्य खड़ा रह गया देखता।
पास आके मीठी छुरी-ऐसी वह बोली यों—
''प्यारे, यह ठीक नहीं, जाओ तुम आप जो
एक वन्दिनी के पास, इससे क्या उसका
दर्प दूर होगा, यहाँ अपनी महत्ता का
मान ही घटेगा नहीं क्या तुम्हारे जाने से?
और याद तो है तुम्हें ऐन्द्रिला की कामना?''

''तब मैं तुम्हारे हाथ छोड़ता हूँ उसको,
उस फणिनी का तुम्हीं दर्प-फन कुचलो।
पूरी करो रानी, तुम जो तुम्हारी इच्छा है।''

हर्षोन्मत्त होकर हँसी असुर-महिषी,
कसकर आलिंगन उसने उसे दिया।
फिर वह चेटियों के साथ चली गर्व से,
बिजली-सा करके कटाक्ष गजगामिनी।

सप्तदश सर्ग

मन्त्रि जन बैठे हैं सभा में दैत्यराज की,
दक्ष सेनापति भी उपस्थित हैं उसमें।
सुमति सुमित्र बोलता है धीर भाव से,—
"मर रहे दैत्य नित्य देवों के प्रहारों से;
हाय लज्जा! कितने मरे हैं, नहीं गिनती;
दैत्यराज, दैत्यवीर-वंश ध्वंसप्राय है।
बढ़ रहा दर्प और साहस अमर्त्यों का,
सरिता-प्रवाह बाँध तोड़ जैसे वर्षा में,
शस्य पशु प्राणी गृह कुछ नहीं छोड़ता।
क्या अपूर्व तेज से प्रवेश किया पूर्व के
द्वार में जयन्त ने, अनल ने मैं क्या कहूँ।
लेकर असंख्य देवसेना कोट भेदके,
हस्..गत कर ली है आधी अमरावती।
उत्तर के द्वार पर युद्ध-सज्जा फिर से
कर रहे सूर्य-वायु-वरुण, महारथी
पार्वतीकुमार कार्तिकेय संग मिलके।
आशा थी दनुजराज, आपके त्रिशूल से
त्रस्त फिर भाग वे छिपेंगे रसातल में;
किन्तु लगता है प्रभो, इन्द्रजाल डालके
लड़ते हैं कपटी अमर छल-बल से।
देव-दैत्य-कण्टक बने हैं, किस यत्न से
होगा सुर-शून्य स्वर्ग, जान नहीं पड़ता।
कै दिन सहेंगे दैत्य ऐसा नाश अपना?"

बोला वृत्र—"मन्त्रिवर, सत्य कहा तुमने;
किन्तु स्वर्ग छोड़कर और मैं क्या पाऊँगा?
मैंने निराहार तप जिसके लिए किया
कब तक, कौन कहे? और जिसे पाने को
जूझ मरे कितने असुर वीर युद्ध में
मृत्यु-भय भूलकर। जन्म वीर-कुल में
लेकर भला है मुझे रण का मरण ही।
राज्य भोगता है कौन प्राण-पण के बिना?
भागता है कौन भट मृत्यु-भय से कहाँ?

मन्त्रि, सुनो जब तक शस्त्रधर एक भी
जीवित रहेगा इस दैत्य-कुल में कहीं,
रख मैं सकूँगा अस्त्र इन दृढ़ हाथों में
और रक्त बहता रहेगा इस देह में,
तब तक जूझने से विरत न हूँगा मैं।"

सज्जित समर हेतु रुद्रपीड़ ऐसे में
आकर प्रणत हो समीप खड़ा हो गया।
उज्ज्वल किरीट धरे, भर्म वर्म पहने,
बाँधे मणि-मुष्टि वाली असि कसी कटि में,
डुलता है पृष्ठ-तूण दृष्टि चौंधियाता-सा।
बोला वीर चूड़ामणि—"तात, आज तुमको
मुख दिखलाते हुए लाज मुझे आती है।
सतत अरिन्दम रहा मैं सुत आपका,
शत्रुओं से संगर में हारकर सामने
अग्नि को न रोक सका, बालक जयन्त ने
जीत लिया आधा स्वर्ग आज मेरे जीते-जी;
सेना रण छोड़ भागी, जिसका मैं स्वामी था,
जीता हुआ देखता रहा मैं इन आँखों से!
मैं यह कलंक समराग्नि में मिटाऊँगा,
वन को ज्यों दावानल, देव-दल दलके
जीतूँगा अनल को, जयन्त को, किसी को भी,

अन्यथा त्रिलोकजयी तात-पद-पद्मों में
अन्तिम प्रणाम यही, आज्ञा मिले मुझको!''
यह कह उसने पिता की पद-धूलि ली।

सुन तनयोक्ति भर आये नेत्र वृत्र के,
भर लिया कसके भुजों में उसे उसने।
''आत्मज, उचित ही तुम्हारा यह प्रण है,
दैत्य-कुल-तिलक सपूत मेरे तुम हो
सर्वदा अरिन्दम, परन्तु सुनो, रण में
आ रहा है इन्द्र फिर घुसने को स्वर्ग में।
कोई मुझे छोड़ उसे जीत नहीं सकता,
देव हो वा दैत्य हो वा राक्षस त्रिलोकी में।
उसके समक्ष बेटे, तू अकेला जायगा?
धन्वि, तू ही एक मात्र मेरा वंशधर है।''
पुत्र को पिता ने फिर छाती से लगा लिया।
''फिर भी तू वीर, वीर-पुत्र है, महारथी,
कैसे तुझे रोकूँ और कैसे कहूँ हाय! मैं
दैत्यकुलरत्न, वत्स, जा तू अस्त होने को?''

''हाय तात, लेकर अकीर्त्ति क्या है जीने में
लाभ, क्या है आपको भी ऐसे वंशधर से,
निन्दा घृणा पायगा जो जीवन में मृत्यु में।''

देखा दीप्त पुत्र-मुख गर्वोन्नत वृत्र ने,
हेमगिरि-शृंग पै उदित अंशुमाली-सा।
बोला वह—''रुद्रपीड़, रोकूँगा न मैं तुम्हें,
शत्रुनाशी, युद्धजयी, जाओ तुम युद्ध में।
पालो निज धर्म तुम, मेरे भाग्य में जो हो।''
आँसू पोंछ आशीर्वाद उसने दिया उसे,
आनन्दित योद्धा चला कर पितृ-वन्दना।
जननी-समीप गया, चेरियों को लेके जो
मन्दाकिनी-तीर जाती थी शची को बाँधने।

करके प्रणाम उसे बोला वह हर्ष से—
"अम्ब, पद-धूलि दो, पिता ने वह दी मुझे,
अ-सुर करूँगा स्वर्ग मैंने है प्रतिज्ञा की।
कौन जानता है अम्ब, युद्धगति कुटिला।
सम्भव है, फिर मैं ये चरण न छू सकूँ,
देना इन्दुबाला को शरण तुम इनमें,
विनती करूँ क्या और, पतिगतचित्ता है,
सरला सती है वह, पली बड़े लाड़ में।
प्यार तुम देना उसे।" हाय! महावीर का
रुँध गया कण्ठ और आँसू गिरे आँखों से,
निज हृदयेन्दु इन्दुबाला-मुखस्मृति से।
किसका हृदय विदा आर्द्र नहीं करती?
पत्थर-सा हृदय पसीजा ऐन्द्रिला का भी,
आँसू भर प्यार कर वार-वार पुत्र को,—
बोली—"तात, तू यह अशुभ बोलता है क्यों।
आवश्यकता क्या तुझे जूझने को जाने की,
सर्व-रिपु-नाशी एक दैत्यपति शूल है।"
"माँ नहीं, सुरों से हार जलता है मेरा जी,
दूँगा अन्तिमाहुति उन्हीं की उस ज्वाला में।
जननि, न भूले तुम्हें मेरी वह याचना।"
फिर छुए माँ के पैर भक्तियुक्त उसने,
गोद में बिठाया उसे ऐन्द्रिला ने प्यार से।
बाँधे विल्व-चन्दन सुशीर्षक में उसके—
"ये तुम्हारी रक्षा करें जाओ वत्स, विजयी।"

स्फटिक शिला पर इधर कल्पवृक्ष के
नीचे बैठ, अश्रुदृषी इन्दुबाला युद्ध के
वृत्त सुनती है सखियों से व्यग्र चित्त हो।
झूल रही छाती पर श्वेत फूलमाला है,
मुख है मलिन और कातर हृदय है।
हिम की खगी को धर लाया कौन ग्रीष्म में,
युद्ध-वह्नि-वेष्टन सहेगी यह लतिका?

"कान फाड़ता है दिन-रात रोना-चिल्लाना,
सहना कठिन हुआ" बोली वह अन्त में–
"कितने दिनों तक चलेगा और सखियो,
सर्वनाशी युद्ध, रक्तस्रोत कब सूखेगा?
कब तक होगी पूर्व-ऐसी अमरावती?
छाती फटती है सुन पुत्र-हीना माँओं का
रोना, उन दीना विधवाओं का बिलखना,
और भाइयों के लिए बहनों का हींड़ना।
सखियो, बताओ कुछ, मैं क्या करूँ, जिससे
दूर हो सके हा! यह दानवों की दुर्दशा।
मेरी बलि लेके यह वह्नि यदि शान्त हो,
तो मैं अभी प्रस्तुत हूँ, बोलो और क्या करूँ?
जान नहीं पड़ता, क्यों अपने को भूलके
देव-दैत्य करते परस्पर प्रहार हैं;
सोचते न ममता न वे दया विचारते।
मत्तप्राय होके हाय! क्रूरता दिखाते हैं।
जीना अपना-सा नहीं जानते हैं औरों का;
द्वन्द्वमयी ही क्या हाय! जीवों की प्रकृति है;
कपटी कुटिल क्रूर हैं क्या प्राणिमात्र ही?
किन्तु सत्य मान लूँ मैं कैसे इसे आलियो!
छल कब छू सका है मेरे प्राणप्यारे को,
तो भी मार-काट वे क्यों छोड़ नहीं पाते हैं?

जाने नहीं दूँगी उन्हें अब मैं समर में,
होने नहीं दूँगी दयाहीन और उनको,
स्वभुज-लता से बाँध उर पर रक्खूँगी।"
यह कह बाहुपाश फैला दिये उसने।

इतने में रुद्रपीड़ मन्द गति से वहाँ
आया, सिर नीचा किये संगर की सज्जा में।
दूर से ही देख उसे सुन्दरी सिहरके,
आतुर-सी आगे बढ़ तत्क्षण ही पति की

छाती पर आ गिरी, भुजों में भर उसको
बोली भग्नकण्ठ से ज्यों कूक उठी कोकिला।

"हाय नाथ, देखती हूँ फिर यह सज्जा मैं,
उद्यत हुए हो युद्ध-हेतु फिर तुम क्या?
पूर्व रण-श्रान्ति नहीं दूर हुई अब भी,
सोते नहीं अब भी निशा में तुम ठीक से।
स्वप्न में सुनाते नहीं क्या-क्या इस दासी को,
फिर भी सुखाने चले मेरे प्राण, सज यों।
क्या मुझे डराने के लिए ही यह वेश है?
जानते हो, डरती हूँ देखकर मैं इसे,
तो लो, डर लिपट गयी मैं अब त्याग दो!
निर्मम हो कैसे तुम, करके जो छलना
अबला का हृदय हिलाने चले फिर से।"
"हाय प्रिये, सत्य ही मैं निर्मम हूँ, क्रूर हूँ।
वीर-धर्म पालने में दुःख तुम्हें देता हूँ।
मुझको विदा दो तुम, जाऊँ मैं समर में।
आया हूँ इसीलिए प्रिये, तुम्हारे पास मैं।"
"नाथ, तुम जाओगे?" उठाया मुख उसने,
मानो सान्ध्य रवि को निहारा सरसिज ने।
"नाथ, तुम जाओ उखाड़ इस बेल को,
लिपटी रही जो चरणों में किस साध से।
गति उसकी क्या इस तरुवर के बिना?
बोली हाय! सिन्धु बिना ऊर्मि की क्या गति है?
शैल बिना निर्झरिणी खेलेगी सखे, कहाँ?
सौ-सौ वार चक्कर लगा के वह उसके
घूमती है झर-झर निनाद कर नित्य ही।
वैसे ये तुम्हारे पद पकड़े रहूँगी मैं।"

छाती से लगाकर प्रिया को रुद्रपीड़ ने
चूमा प्रेमपूर्वक मृगांकमुख उसका।
रोक नहीं पाया वीर आँसू आप आ गये,

तप में लता-सी इन्दुबाला कुम्हला गयी!
आँसुओं से प्रिय को भिगोती हुई बोली यों—
''नाथ, जाना ही है तो उखाड़ जाओ पहले
ये सब लताएँ, जिन्हें मैंने बड़े प्यार से
पालकर इतने दिनों तक बड़ा किया।
और सब वृक्ष ये भरे जो पत्र-पुष्पों से,
तोड़ जाओ; प्राणधन, देखो इन डालों को,
झेल रहीं दुःखिनी का दुःख-भार झुक ये।
मारो वर्ण-वर्ण के विहंग मधुभाषी ये,
दूध पर पालकर पोसा जिन्हें मैंने है,
कातर हुई मैं भूख-प्यास पर जिनकी।
मारो इन आलियों को, संगिनी जो मेरी हैं,
पाला जिन्हें मैंने स्नेह देह मनःप्राण से।
अन्त में हे नाथ, तुम मारो इस दासी को,
मारना तो खेल है तुम्हारा, तुम वीर हो!
लो, चलाओ छाती पर खंग प्यासा रक्त का।
यों निश्चिन्त होके फिर जाओ तुम जूझने।''

होकर अचेत वहीं गिर पड़ी प्रेयसी,
दौड़ के सँभाला सखियों ने उठा उसको।
अधर ललाट चूम रुद्रपीड़ उसके,
व्यग्र फिर हारा-सा गया निज शिविर में।
मौन पथ देख कुछ वेर, वह बोली यों,
''सखि, यदि ऐसी मोद-मत्तता है युद्ध में,
तो प्रिय के लौटते ही मैं भी युद्ध सीखूँगी।''
भोली-भली इन्दुबाले, हाय! तुम्हें क्या पता,
प्राणियों के जीवन में क्या-क्या खेल होते हैं।

व्यग्र बाला सरला उतार माला फेंकके,
छोड़ शिलाकुंज निज गृह में चली गयी।
पतिगतप्राणा सती मंगलार्थ पति के,
शंकर की पूजा का विधान करने लगी।

सखियों ने सामग्री जुटा दी सब पूजा की,
स्नान कर उसने सुपट्ट वस्त्र पहना।
वस्त्र विल्व चन्दन चढ़ाया शिव-मूर्ति को,
ध्यान किया, जप किया, भाव-भरी भक्ति से।
फिर वर माँगने को सुन्दरी खड़ी हुई,
सिर पर विल्व-जल छोड़ने को उसने
मंगल कलश लिया, हाथ काँपा वैसे ही
छूट घट मूर्ति पर खण्ड-खण्ड हो गया!
हाय! जहाँ जन का विधाता वाम होता है,
होम करते भी वहाँ हाथ जल जाता है।

छींटे छोड़ फैला घट-नीर पूजा-गृह में,
झर-झर आँसू गिरे आर्त इन्दुबाला के।
काँपी सती पति-मुख ध्यान करती हुई,
गिर पड़ी मूर्च्छित हो हाय-हाय! कहके।
बाहर ले आयीं उसे गोद में ले सखियाँ।
भागी हुई आयी रति, उसने सँभाल की,
देकर प्रबोध कुछ शान्त किया उसको।
आँसू डाल आहें भर दैत्यबधू बिलखी–
''हा शिव, क्या यही था दासी के कपाल में,
मेरा पति-चिन्तन भी भार हुआ भव को!
रति, किस दोष से हूँ दोषी मैं प्रथम की,
निज हृदयेश को मैं क्या अब न पाऊँगी?
उन चरणों के अतिरिक्त मैंने जाना क्या!''

''दैत्यबधू! उचित नहीं अशुभ सोचना,
ऐसी बात मुँह पर लानी नहीं चाहिए।
प्रिय ही विचारना भला है प्रिय के लिए।
और क्या उपाय नहीं हृदय जुड़ाने का?
भूलीं तुम दुःख सम-दुःखी प्राणियों के भी।
दुःखिनी शची की सुध क्यों तुम्हें नहीं रही?
दयित तुम्हारे हर लाये जब उनको,

रोयीं तब उनके लिए थीं तुम कितना?
सम्प्रति सुरेश्वरी निभृत कारागार में
रह रहीं कैसी निरान्द दिन-रात हैं।
भूलकर उनको पड़ी हो तुम व्यर्थ ही
अशुभ विचारों में शुभे! यह उचित क्या?
इतना असह्य क्या तुम्हारा निज दुःख है?''

सिर निज लज्जा से झुकाया इन्दुबाला ने,
याद आया उसको शची-हरण पति का।
आँसुओं से पूर्ण मुख सहिम शशांक-सा
नीचा किये आप वह खो-सी गयी चिन्ता में।

अष्टादश सर्ग

वहती है मन्दाकिनी कल-कल नाद से,
देवकुलवल्लभा पवित्रतम तटिनी।
है मन्दार-राजि दोनों कूलों पर राजती,
फैल रही फूलों की सुगन्धि मनोहारिणी,
फूल, जो विकीर्ण दोनों ओर हैं दुकूल-से!
उनके दलों पर मुदित देवबालाएँ,
सुतनु हिलोरती थीं, विह्वल हो हर्ष से,
खेलते थे अमरी-अमर जव प्रीति से
शीत पीत पुष्प रज मलकर अंगों में।

अमरावती में जब अमर निवास था,
असुरों का त्रास न था, तब सुरबालाएँ
गान करती थीं, सुन मोहता था काम भी।
पौलोमी पुरन्दर समेत जब थी यहाँ,
दवऋषि भेट करते थे सुधा-ह्रद का
पद्म उसे आके चिरानन्दमय धाम में;
देते थे अमायिक गिरा की गुण-गरिमा।
आज उसी मन्दिर के सुन्दर अलिन्द में
बैठी म्रियमाणा अमरेश्वरी सुनयना।
पास बैठी चपला तथा रति मनोरमा,
डालकर अपनी मधुरिमा का घेरा-सा,
बैठी है पदों में इन्दुवाला प्रातरिन्दु-सी!
देखती है कौतुक से मंजुमुख उसका,

मीठे बोल सुनती है शिशु-सी समुत्सुका।
बतला रही है शची बातें ब्रह्मलोक की,
कैसा है, कहाँ है वह, कैसी दीप्ति उसकी
ब्रह्मा का कनक-कंज कारण-सलिल में
कैसा हिलता है, मधु-गन्ध कैसे उसके।
और मधु-रेणुका-समुद्र क्या विचित्र है,
छोटी-बड़ी जिसकी असंख्य ऊर्मिमालाएँ।
उसमें सृजन-लीला कैसी अपरूप है।
अणुमयी भूमि कैसी लोल उस जल में।
है वैकुण्ठधाम कहाँ, पद्म-कोश कैसा है,
दान क्या-क्या कमला का, विष्णु भगवान की,
पालन-प्रथा क्या, भक्तवत्सल हैं जो सदा।
कैसा रूप उनका है, कौस्तुभ का रंग क्या,
कैसी महा माधुरी है लक्ष्मी की लुनाई में,
क्षीरोदधि जिससे मधुर आप हो गया!
ज्योतिरधिष्ठात्री कमला की कथा कैसी है।
कितना विकट शम्भु शैल, स्वयं कैसे वे,
कैसे जटा-शूल-धारी करते प्रलय हैं;
फटता ब्रह्माण्ड कैसे उनके विषाण से।
साथ कैसी सदया हैं अर्द्धांगिनी उनकी,
दुर्गतिनिवारिणी जो, तारिणी त्रिलोक की,
देव दैत्य यक्ष रक्ष और नर जो भी हों,
सबकी शुंभकरी हैं भक्तजनवत्सला;
देख नहीं सकतीं वे दुःख किसी जन का।

पहले प्रसन्न करने को सुरराज के
अमरावती में विधि-हरि-हर आते थे।
राग-माता वाणी, रमा और उमा आती थीं।
उत्सव ही उत्सव का ठाट यहाँ होता था।
इन्दुबाला दुखिया का मन बहलाने को,
उसको सुनायी यों शची ने बहु वार्ताएँ।

सारा सुरलोक जब मोदोन्मत्त होता था,
पंचताल देके आप पंचानन गाते थे;
ज्ञानी गणराज ध्यान छोड़ साथ देते थे;
हर्षाकुल होतीं सुन वाणी, रमा, रुद्राणी;
हाथ उठा ताल देके नारद थे नाचते,
होके हर्ष-गद्‌गद न कौन सुध भूलता।

बोध दिया और भी शची ने इन्दुबाला को—
कैसे कहाँ रहते हैं साधु नर स्वर्ग में,
आत्मसुख-भोग क्या-क्या मिलते हैं उनको।
सरले, बताऊँ तुझे ऐसे स्थल हैं यहाँ,
मुनि-मन मोहें अद्वितीय अनुपम जो,
कल्पना भी दानव न कर सकें जिनकी।

बोली तब इन्दुमुखी इन्दुबाला उससे—
"देवराज्ञि, आपसे सुना जो मधुवाणी में
क्या उसका देखना भी सम्भव है मुझको?
हो रहा है कितना कुतूहल, मैं क्या कहूँ।"

सुनकर करुणा से आर्द्र हुई इन्द्राणी,
लेकर उसाँस, धर ठोड़ी इन्दुबाला की
बोली—"यही खेद रहा भोली वधू, मुझको
अनुगत जन को न दे सकी मैं कुछ भी।
देकर बता, क्या आज तुष्ट करूँ तुझको?"
"रहना मैं चाहती हूँ आपके निकट ही,
मीठी यह वाणी है यथेष्ट मुझे आपकी।
चलिए हे देवि, मेरे घर अभी चलिए,
शुश्रूषा करूँगी नित्य पुष्पांजलि देके मैं।
यह मुख देख सुनूँ वाणी यही वीणा-सी,
दुःख पाती आप क्यों हैं रह इस कारा में।
महिषी से विनती करूँगी रख पाने की
आपको मैं अपने निवास में ही सर्वदा।

कोई यत्न आपके लिए उठा न रक्खूँगी।
मेरे पति रण में गये हैं मन व्यग्र है,
पा सकूँगी आपके समीप कुछ शान्ति तो।
माँगती यही हूँ, आप मेरे घर चलिए।"
"आहा! वधू दैत्यकुल उज्ज्वल है तुझसे।"
आर्द्र हुई आप शची आँसू देख उसके।

सहसा चकित हुई रति अति चंचला,
मानो मृगी देखकर व्याध दल सामने—
"देखो, अरे देखो यह, चेटी दल संग ले
कैसी यह बाघिन-सी आ रही है ऐन्द्रिला!
इन्दुबाले, सत्वर छिपाओ कहीं, दैयारे!
जीता नहीं छोड़ेगी किसी को वह दानवी।
मेरे भाग्य में ही हा! न जाने आज होगा क्या?
देवेश्वरि, कोई यत्न आप ही विचारिए।"

कातर हो इन्दुबाला बोली—"मैं
छिपूँगी क्यों,
मेरा अपराध क्या है जो वे मुझे मारेंगी?"
झंकारित तन्त्री-सी पुलोमपुत्री बोली यों—
"क्यों यों डरती हो रति, इन्द्रिप्रिया अमरी
आश्रितों की रक्षा नहीं कर सकती है क्या?
जाओ, अभी चपले, जहाँ जयी अनल है।
देकर असीस मेरी उनसे यों कहना—
आके यहाँ सत्वर उबारें दैत्यबाला को।
रहो यहीं रहो इन्दुबाले, तुम्हें भय क्या?
जाय छल-कपट, अनन्त ज्वाला उसमें।
जाओ छिपो रति तुम, यदि डर है तुम्हें;
है नहीं शची तो रति, भय नहीं उसको।
वह इस बाला को बचा सकेगी अब भी।"

छिप गयी कामवामा, देखी इन्द्रजाया ने

और इन्दुबाला ने किसी की एक छाया-सी।

आ रही हैं चेटियाँ कराल शस्त्रधारिणी;
शस्त्र, जो चमकते हैं किरणों से भानु की।
चलती है कालिका बृहत्तर नितम्बिनी,
कादम्बिनी नाचे यथा बिजली पहनके,
दम-दम वर्म, शूल चम-चम होता है।
आ रही है त्रिजटा जो विकटविलोचना,
भाल पै विशाल बुंदा सेंदुर का है दिये,
भल्ल लिये, मानो सूँड ऊँचे किये हथिनी;
डुलती है पीठ पर वेणी, जो त्रिवेणी-सी।
चण्डिका कपालिनी उठाये खर खंग है;
पीठ पर केश छोड़े दीखती है दारुणा।
तूण बाँधे, चाप धरे चामुण्डा प्रचण्डा है,
उद्धता समुद्यताएँ सौ हैं सब एक-सी।

ऐन्द्रिला उन्हें ले संग आ रही है रंग से,
मार्ग दीप्त हो रहा है आभा की तरंगों से।
बिजली-सी झड़ती है अंगों से इतस्ततः!
कालकूट छूटता है कुटिल कटाक्षों से।

आकर शची का मुख देखा जहाँ उसने,
रह गयी स्तम्भित चकित होके असुरी,
मानो किरणों का बना चित्र देखा स्वप्न में!
कहाँ तेरी वेश-भूषा वृत्ररानी, ऊषा तो
भूषिता है आप अपनी ही स्वर्ण कान्ति से!
मुख को प्रदीप्त करती है मनः प्रतिभा।

मानिनी मलिन हुई प्रातश्चन्द्र लेखा-सी
जल उठा ईर्ष्यानल उसके हृदय में।
पल में सँभलकर प्रज्वलित नेत्रों से
देख इन्दुबाला को कहा उस कराला ने—

"तू कुल-कलंकिनी भुजंगी वधू-वेश में,
बैठी अरि-चरणों में? किंकरी है मेरी जो,
उसके शरण में तू? ऐन्द्रिला के नाम में
तूने घृणा भर दी, शची की साध पूरी की।
और क्या कहूँ मैं, आग जलती है उर में।
धोती मैं कलंक-मसि, तेरा रक्त असि में
लेकर करूँ क्या, अनुरोध रहा पुत्र का,
तेरे प्राण लूँगी अब चेरियों के द्वारा ही।"

बोली फिर व्यंग कर—"ओ इन्द्राणि, मैं तुम्हें,
स्वर्गेश्वरी जानती थी, बालिका को छलना
सीखा कहाँ तुमने? यहाँ है इन्द्रजाल ही?
वस्तुतः तुम्हारा यह त्रिदिव विचित्र है!"
स्वर्ग की सुरेश्वरी का वक्ष लक्ष्य करके
उस विकराला ने उठाया पैर अपना।
छूट पड़े बाल फन ऊँचा किये व्याल-से,
क्रूरहृदया ने चेरियों को यह आज्ञा दी—
"बाँधकर ले जाओ अभी इस कुलाधि को
और लौह-शृंखला से नाँधो इन्द्रजाया को!"
आज्ञा साधने में पटु दौड़ पड़ीं चेटियाँ।

ऐसे ही समय रण-सज्जित अनल ने
वेग से प्रवेश किया चपला के साथ में;
सम्मुख शची के हुए नत वे विनय से।
पीछे ही जयन्त खर खंग लिये आ गया,
और झुका माँ के चरणों में वह सूरमा।
गोद में ले उसको शची ने स्वस्ति-वाणी से
तोष दिया अग्नि को, दिखाके इन्दुबाला को,
उससे कहा—"झट बचाओ इस बच्ची को
ले जाकर रक्खो कहीं आदर से, प्यार से।
देखो, यह दानवी चली है इसे मारने।"

यह कह पुत्र से कुशल पूछी उसने,
फिर उसे प्यार किया नयनों से, मन से।

देखी बढ़ वह्नि ने असुर-वधू विकला,
देखती सतृष्ण नयनों से शची-ओर है,
युगल कपोलों पर बहता दृगम्बु है।
सूखे फूल ऐसा मुख देख शची उसका,
रोक नहीं पाती आप वेग निज मन का।
सोचती है—क्योंकर अकेली यह अबला
जा सकेगी, कौन इस लतिका को स्नेह से
सींचेगा, सँभालेगा, जुड़ायगा जी इसका?"

अयि शचि, तू है मणि एक इस सृष्टि की,
वैरी की बधू को कौन देता है ममत्व यों?
"जननि", जयन्त बोला—"अब न रहो यहाँ
मिटा मनस्ताप मेरा, नैमिष-अरण्य में
मैं तुम्हारी रक्षा कर पाया नहीं दैत्य से,
आज कारा-बन्धन छुड़ा सकूँ तुम्हारा मैं,
आज्ञा करो, चूर्ण कर दर्प दैत्यदारा का।
बाँधूँ इसे और प्रतिवैर ले लूँ अपना।"
("नहीं वत्स, नारी पर हाथ न उठाओ यों,
दैत्य ने किया जो, वह पाप तुम क्यों करो।
भेद क्या रहेगा फिर देव और दैत्यों में,
वैसी हार में तो तात, जीत ही हमारी है।")

ऐन्द्रिला खड़ी थी अभी फैली हुई मौर्वी-सी,
सहसा झपट खंग लेके एक चेटी का
घात किया उसने पदों में इन्द्रजाया के।
लटके हुए थे जो मनःशिला से नीचे को,
दीखी वह श्यामा-सी निशुम्भ-रण दर्पिता।

अनल, जयन्त,—दोनों भर गये रोष में;

दोनों ने सँभाले अस्त्र, लज्जित थे फिर भी।
अंगना के ऊपर प्रहार करें कैसे वे।

आया शिवदूत वीरभद्र वहाँ ऐसे में,
हाथ में विशाल शूल, अग्नि-ज्वाला भाल में।
शिव का निदेश दे जयन्त को, अनल को,
उसने वहाँ से द्रुत दोनों को विदा किया,
लेकर शची को चला फिर वह आप भी।
माँ की भाँति बाहुओं में बाँध इन्दुबाला को
मन्द-मन्द चली शची सोने के सुमेरु को।

स्वर्ग हँसा, दिव्य फूल फूट-फूट उसके
पैरों पर पड़के जताने लगे उसको—
इच्छा उनकी है, रहे नित्य यहीं इन्द्राणी।

बोला वीरभद्र ऐन्द्रिला से उग्रवाणी में—
"जाकर रहेंगी शची स्वर्ण-गिरि पर ही,
जब तक वृत्र का निधन नहीं होता है।
और सुन तू, अब विलम्ब नहीं उसमें।"

गारुड़िक मन्त्र से भुजंगी यथा स्तब्ध हो,
स्तम्भित निरुद्धगति रह गयी ऐन्द्रिला।

ऊनविंश सर्ग

गहर गम्भीर वसुधा के महा गर्भ में
गूढ़ विश्वकर्मा की विशाल शिल्प-शाला है।
होता है कराल कर्ण-भेदी नाद नित्य ही
कोटि-कोटि मुग्दर घनों के घोर घातों से।
फणि-फुफकारें छोड़ती हैं गली धातुएँ,
धूम भस्म भाप से भरा अशेष देश है।
दग्ध-सा है वातस्तर, मानो सप्त द्वीपों की
सारी शिल्प-शालाएँ इकट्ठी वहाँ हो गयीं।
साँस घोंटता है तीव्र गन्ध सब ओर से।

इन्द्र वहाँ आया लिये अस्थियाँ दधीचि की।
सूर्यजयी ज्योतिः पुंज उर्ध्व स्तम्भ पर है,
दीप्त तडित्पिण्ड दीपाकार देखे उसने।
दीख पड़े प्रखर प्रकाश में उसे वहाँ
धातुस्तर लाल पीले नीले आदि वर्णों के
वक्र गति भूमि-भेदी सर्प से प्रतीची में
सूर्यकर-रंजित विचित्र सान्ध्य घन-से!
सार-द्रव-धारा कहीं नीचे बही जा रही,
पूँछों से जुड़ी हुई ज्यों अजगर पंक्ति हो!
स्तर खड़िया के दामनी-से दीप्तिमय हैं,
ताँबे के स्तवक कहीं लोहित तरंगों में,
रजत-सुवर्ण आदि धातुएँ तरल हैं।

देखा सुरपति ने तिमिर-धरा-गर्भ में
खेलती हैं चंचलाएँ, जैसे घन-माला में।
अंगारे धधकते कहीं हैं, कहीं जलते,
गूढ़ागूढ़ धूम-ध्वज जैसे गृह-दाह में।
पीले हरतालस्तूप नीली शिखा छोड़ते;
पारद कहीं है ह्रद-रुद्ध, कहीं बहता।
प्रज्वालन यन्त्र आगे देखे सुरराज ने,
अग्निगिरिराजि मुँह खोले है उगलती,
अग्निराशि, जिसमें मिली हैं बहु धातुएँ।
फैले वायुवाहक विशाल नल लोहे के।
चारों ओर गर्भिणी के गर्भगत शिशु की
नाड़ियों से नद्ध ज्यों जरायु युत युक्ति से।
उठती हैं गिरती हैं घोर शब्द करके
भस्त्राएँ बड़ी-बड़ी नलों से वायु छोड़तीं।

यन्त्र-समुदाय मध्य देव-शिल्पी बैठा है,
दीर्घ देह उर्जस्वल, हाथ मानो लोहे के!
चक्र को घुमा रहा है और बीच-बीच में
माथे का पसीना पोंछता है वाम कर से।
घूमते हैं चक्र-संग लाखों यन्त्र लोहे के,
कौशल से जोड़े गये आपस में जो सभी।
भूमि धँसती-सी है घनों के घनाघातों से,
ढलके निकलते हैं स्तम्भ मानो साँचों में।
फैली सब ओर छटा स्फटिकविनिन्दनी।

लौह चक्र छोड़ कभी शर्वला ले हाथ में
तोड़ता है शिल्पी गिरि-गात्र घात करके।
घोर शब्द पूर्वक सलिल-धारा छूटती
और भरती है जल-कुण्ड शिल्पशाला के।
आग्नेयाद्रि आच्छादन धीरे से कृती कभी
खोलता है; रुद्ध अग्नि धूम वाष्प छोड़के
गिरि है भड़कता, तड़कती है गाज-सी;

काँप-काँप पांशु धातुक्लेद है उगलता।
धूमाश्रित अग्नि-ज्वाला भरती है शून्य को
शिला पूर्ण धातुस्राव और भस्म राशि से।
कितने ही पृथ्वी-प्रान्त भस्मीभूत होते हैं,
पुरते हैं सौ-सौ पुरग्राम उष्ण रेणु से।
गढ़ता है शिल्पी गढ़ कोट अट्ट कितने,
सेतु और मन्दिर, सुदीप्त अस्त्र शस्त्र भी।

इन्द्र जाके उसके समीप खड़ा हो गया,
नत हुआ शिल्पी स्वेद पोंछ कार्य रोकके—
''क्या ही भाग्य मेरा प्रभो, आप जो पधारे हैं,
सार्थक प्रयास और धन्य धूमशाला है।''
आगे चला विश्वकर्मा, पीछे इन्द्र उसके
अन्य से अदृश्य, द्वार खोला बढ़ उसने—
दोनों ही प्रविष्ट हुए रम्य शिल्पि-धाम में,
चारु कारु युक्त गृह निर्मित है रौप्य से।
स्वर्ण ताम्र लौह का प्रयोग यथास्थान है,
उसमें विशाल शलाकाएँ क्षण-क्षण में
सूक्ष्म धातुपत्रों पर चलती हैं आप ही;
गढ़ती हैं सुघटित मूर्तियाँ नयी-नयी।
श्वेत-कृष्ण शिला-खण्ड भिन्न-भिन्न रूपों में
बैठाये गये हैं भित्तियों में चीर-कोर के।
वातायन हीरे लाल पन्नों के, प्रवालों के,
खम्भों में खचित हेम-मणिमयी मूर्त्तियाँ—
नाचती हैं वाद्य-संग सुन्दर सजीव-सी।
बाजे बजते हैं सब ओर मीठे स्वर में,
कह सकता है कला कौन सुरशिल्पी की!

रत्नासनासीन कर विश्वकर्मा इन्द्र को,
पार्श्व में खड़ा हो आप बोला शिष्टता से यों—
''हेतु है प्रभे, क्या इस गह्वर में आने का,
क्या है महत्कार्य ऐसा, साधने को जिसके

देकर न आज्ञा, स्वयं, कष्ट किया आपने
छोड़ सुरधाम?" "शिल्पिकुशलशिरोमणे,
आज सुरधाम कहाँ, बैठ जहाँ तुमको
याद करता मैं? दुष्ट वृत्रासुर विग्रही
स्वर्ग को नरक किये जीवित है अब भी।
शिव के निदेश से उबारने को उसके
आया मैं तुम्हारे पास इस महिगर्भ में।
उसका निधन नहीं अन्य किसी अस्त्र से,
वज्र है बनाना तुम्हें शिल्पिवर, शीघ्र ही।
देवकार्य-हेतु बलिदान कर अपना
दी ऋषि दधीचि ने ये अस्थियाँ हैं मुझको।
लो, इन्हें सहेजो सुरशिल्पि, कहा शूली ने,
उनके त्रिशूल-सा बनेगा वज्र इनसे।
प्रलय-विषाण-सा बजेगा वह आप ही,
दैत्यों का उपद्रव मिटेगा सुरधाम से।"

दुःखी हुआ शिल्पिराज—"स्वर्ग को बनाने में
कितना प्रयास किया मैंने हाय! क्या कहूँ।
नरक बना रहे हैं दैत्य अब उसको।
व्यर्थ कर मेरा श्रम, किन्तु प्रभो, आपकी
आज्ञा यह पूरी मैं करूँगा अति शीघ्र ही;
क्षण भर किंकर को आप क्षमा कीजिए।"

क्षुद्र रौप्य-कुंचिका ले एक ठौर भित्ति में,
उसने लगाई और स्वर्ण थाल निकला।
कौन कहे, क्या-क्या देव-भोग भरे उसमें,
रक्खा शक्र सम्मुख सनीर उसे उसने।
"सेवक को सम्भव है क्या आतिथ्य आपका,
तो भी जलपान यह अंगीकार कीजिए।"
बोला इन्द्र—"मैं हूँ परितृप्त समादर से,
कोई खान-पान मैं उवारे बिना स्वर्ग को
छू भी नहीं सकता हूँ, मेरा यही प्रण है।

अन्यथा तुम्हारा यह आग्रह मैं रखता,
यह परिपूर्ण प्रेमातिथ्य ही यथेष्ट है।''

अस्थियाँ ले लौटा विश्वकर्मा शिल्पशाला में
इन्द्र युत, आकर घुमाया चक्र उसने।
घर-घर यन्त्र चला, वायु बहा वेग से,
घूमा अग्निप्रज्वालन यन्त्र, ज्वाला-पूर्ण जो।
क्षण में बड़े-बड़े कड़ाह आठ उसने
बल से उठाकर चढ़ाये, अष्ट धातुएँ
डालकर, मुग्दर ले निकट निहाई के
हो गया खड़ा वह। तुरन्त गल-गल के
बह चले धातु-स्रोत आठों मिल एक हो।
दृश्य हुआ दारुण, घनों के घोर घात से
कान फटने-से लगे, पिण्ड बना अन्त में।
गल न सके जो पात्र उग्रतर ताप से।
उसमें दधीचि-अस्थियों को रख उसने,
कौशल विशेष से गलाया विद्युदग्नि से।
छोड़ा तड़ित्तेज एक साथ युग केन्द्रों से,
डूब गया सारा स्थल दीप्ति की तरंगों में।
काँप उठी भूमि, धँसे शैल, ह्रद उभरे।
अष्टधातु-पिण्ड में मिलाके उस द्रव को
यत्न से अमर शिल्पी वज्र घड़ने लगा।
दण्ड-सा बनाकर विशाल एक उसने,
मध्यगत स्थूल कोण वंकिम बना दिये।
दोनों ओर दो मुखों की भीमाकृतियाँ रचीं,
डाला यन्त्र-योग से प्रखर तेज अस्त्र में।

गढ़ा करत्राण हरिचन्दन का, जिसमें
बिजली न पैठे, अग्नि-कोश रचा उसमें।
विविध विचित्र चित्र आँके कलाकान्त ने
चन्द्र सूर्य तारा ग्रह सिन्धु मेरु-मूर्त्तियाँ
ज्योतिर्मयी रेखांकिता झल-मल हो उठीं।

अप्सराएँ नाचती बनाई एक फल में,
पारिजात-मालाएँ लहरती हैं जिनकी,
देखती है दृश्य वह मुग्ध देव-मण्डली।
अंकित की यमपुरी दूसरे फलक में;
जलते नरक कुण्ड, दण्ड धरे हाथों में
पार्श्व में खड़े हैं यमदूत, दुष्ट जीवों को
मारते हैं, घोर कुम्भीपाक है बना कहीं;
चिल्ला रहे पापी परतापी पड़े उसमें।
जलते कहीं हैं और काँपते हैं वे कहीं,
भिन्न-भिन्न नरकों में कर्म-फल भोगते।

सात दिन-रात अविराम काम करके
आठवें दिवस अस्त्र पूरा किया उसने।
बोला तब वासव से विश्वकर्मा हँस के—
"देव, अब इसकी प्रयोग विधि सुनिए,
पहन करत्र दृष्टि रोप मध्य भाग में,
छोड़ना पड़ेगा यों घुमा-घुमा के इसको।
शत्रुनाश करके फिरेगा यह क्षण में,
हो दम्भोलि अन्य नाम दैत्य-दम्भ-हारी का।

इतने में तीन दिशाओं से अकस्मात ही,
दीप्त कर शिल्पशाला तीन तेज प्रकटे,
लाल नीले श्वेत वे प्रविष्ट हुए वज्र में।
देख उन तीनों को प्रणाम किया इन्द्र ने,
करके स्मरण विधि, विष्णु और हर का।
तेज पीते-पीते वज्र तीन वार गरजा,
होने लगा देव-शिल्पी मानो दग्ध उससे,
छोड़ दिया सहसा सकम्प उसे उसने,
काँप उठा पृथ्वीतल गिरने से उसके।

होके अति आनन्दित देवकुलपति ने
उसको उठा लिया तुरन्त दायें हाथ से।

चाहा स्वयं उसको परखना जो उसने,
हाथ जोड़ बोला भीत विश्वकर्मा उससे—
"इस मरलोक में न छोड़ो, प्रभो, इसको,
यह पुरी भस्मीभूत होगी क्षण भर में।
कितने प्रयत्नों से बनाया इसे मैंने है,
चिह्न भी रहेगा नहीं इसका यहाँ कहीं।"

रुक गया इन्द्र कहने से देवशिल्पी के,
आशीर्वाद देके तब उसको, कुलिश ले
उड़ चला हर्षोत्फुल्ल शक्र शून्य पथ से।

विंश सर्ग

मत्त देव-दैत्य-रण-दुन्दुभि निनाद से
सिंहनाद करते हैं, भरते हुंकारें हैं।
सेनाएँ उमड़ती हैं ऊर्मि पर ऊर्मि-सी,
वायु-वेग पाकर घटाएँ ज्यों घहरती।
धीर धनुर्धारी वीर रुद्रपीड़ जाता है,
कालभद्र-सुन्दन हैं दोनों ओर उसके।
अग्नि-सी उगलते हैं शस्त्र अग्रसेना के,
तारे-से बिखरते हैं उनसे निकलके।
अग्नि के निदेश से जयन्त सुरसेना के
करके दो भाग सिंहनाद कर आता है।
देवकान्ति-किरणों का बाँध प्रतिपक्ष की
तिमिर-तरंगें भेटता है रह-रहके।

अग्नि मय धन्वा खींच तीक्ष्ण दृष्टि डालके,
अग्नि असुरों पर प्रहार करने लगे।
शर बरसाये इन्द्रनन्दन ने ओले-से,
दोनों दल अग्रसर होने लगे क्रम से।
अब्धि मथ रथ के विशाल शत चक्रों से
प्रकटे प्रचेता। मिले दोनों दल, सिन्धु-से
फेन बिखराती-सी तरंगें उठी युद्ध की।
होने लगा कोलाहल घोर दोनों ओर से,
मौर्वी का टँकोर रोर झंझा झकझोर-सा।
छूटी चिनगारियाँ लड़े जो शस्त्र शस्त्रों से,
भेद गया व्योम महा नाद मारू बाजों का।
धूल छा गयी है, कुछ सूझ नहीं पड़ता,

चौंधिया रहे हैं नेत्र शस्त्रों की चमक से।

भीम रुद्र-मूर्ति बनी ध्वज पर जिसके,
दौड़ता है घोर रथ रुद्रपीड़ योद्धा का।
दौड़ते हैं वाहन जयन्त तथा वह्नि के,
छूट रहे जिनसे कृशानु-कण योजनों।
कालभद्र बैठ काले अश्व पर घूमता,
सुन्दन गदा लिये है शाल लिये गज-सा।
शस्य सम कट-कट गिरते सुभट हैं,
किंवा वायु-वेग से विकीर्ण सूखे पत्ते-से;
गिरता है देव-दल राशि-राशि फूलों-सा।
वह्निगर्भ वाजि-राजि उठकर शून्य में,
फैला के किरण-कण गिरती है रण में।
ठौर-ठौर युद्धानल जलता है वेग से,
जूझते हैं देवासुर, काँपती है अमरा।

देखती सुमेरु के शिखर पर चपला,
अँगुली उठाके देवराज्ञी दिखलाती है।
"देखो सखि, कैसा घोर युद्ध वह हो रहा,
एकादश रुद्र वहाँ करते समर हैं।
गर्वित असुर भीम बल से हैं जूझते,
गिरते अमर चारों ओर घनाघातों से।
रति, यह कौन भट उत्कट वृषभ-सा?
रक्त बहता है वर्ण पूर्ण सब अंगों से,
बढ़ रहा तो भी नल-वन में गयन्द-सा।
भागती है देवसेना सामने से उसके।
बोली इन्दुबाला,—"देवि, मैं क्या करूँ, दूर से
कैसे देखती हो तुम बाणों की अँधेरी में?
मैं तो कुछ देख नहीं पाती, बीच-बीच में
होती हूँ चकित अस्त्र-शस्त्रों की चमक से।
सुनती हूँ कोलाहल मात्र सिन्धुनाद-सा।"

"बाले, देव दृष्टि बिना कैसे तुम देखोगी,
ऐसी तमसा में दानवों की स्थूल दृष्टि से।"

बोली रति—"देवि, यह कालभद्र योद्धा है।"
इतने में रौद्र अज-रुद्र शर ने उसे
खंग काट वक्ष भेद भू पर गिरा दिया।
अश्वों के खुरों से और एकादश यानों के
चक्रों से विदीर्ण कर दानवों की सेना को
एकादश रुद्र बढ़े स्वर्ग ओर वेग से।
रुद्रपीड़ देखकर भग्न निज दल को
तत्क्षण ही आगे बढ़ा धनुष टँकोर के,
उसके शरों ने रची सर्प-माला नभ में।
सुन्दन से पीछे रहने को कहा उसने,
एकादश रुद्रों के समक्ष वह आ गया।
काट रथ-केतु अश्व-रज्जु तथा चाप भी,
कर दिया क्षान्त उन्हें उसने निमेष में।
पीछे फिरने में किया सुन्दन ने रुद्ध-सा
सहने पड़े उन्हें प्रहार दोनों ओर से!
फैला देव-रक्त-गन्ध चारों ओर युद्ध में,
व्यग्र हुए देव स्वयं बाण-व्रण बाधा से।

देख उन्हें व्याकुल बढ़ाया रथ वह्नि ने,
प्रकटी दवाग्नि मानो वैरि-दल-वन में।
दग्ध कर दनुज-समूह बढ़ वेग से
सम्मुख आ लड़ने लगे वे रुद्रपीड़ से।
बोला वह—"वैश्वानर, आज तुम देखोगे
कैसा बल रखते हैं मेरे भुजदण्ड ये।"
छा दिया अँधेरा शर-वृष्टि कर उसने।
चाप की टँकोरों और उसकी हुंकारों से
व्यग्र हुए दोनों पक्ष हो न जायँ बहरे।
काट दिया वैरि-शर-जाल वैश्वानर ने;
छोड़ रथ बिजली की गति से छलाँग ले
कर दिया छिन्न-भिन्न शत्रु-रथ खड्ग से।
छोड़ा नहीं सारथी भी और रुद्रपीड़ का,
काटा शरासन भी कराल करवाल से।
वक्ष को भी लक्ष्य करें जब तक वे बली,
दक्ष वृत्रनन्दन चढ़ा उन्हीं के रथ पै

कूद कर। लात मार सारथी को उसने
दूर फेंक आप अश्व-रश्मियाँ सम्भाल लीं।
वेग से बढ़ाके कुछ दूर रोका रथ को,
पैरों से दबाकर हयों की दृढ़ रज्जुएँ।
अग्नि का ही चाप और तूण लेके उसने
प्रत्यंचा चढ़ाई और घोर शर-वृष्टि की
अग्नि पर। 'धन्य रुद्रपीड़ वीर धन्य है।'
गर्ज उठा दैत्य दल। अग्नि आर्त्त हो उठे,
रोकना कठिन हुआ दैत्य के प्रहारों का।

सत्वर जयन्त बढ़ा रक्षणार्थ उनके,
दौड़े यक्षराज और अश्विनीकुमार भी।
अस्थिर अनल को सँभाला उन सबने।
"रथ दो मुझे, अभी मैं शत्रु से समझ लूँ।"
"आओ वीर, स्यन्दन में तनिक विराम लो,
आके फिर जूझना।" जयन्त उन्हें बल से
रथ में उठाके चला। रुद्रपीड़ गरजा,
कर यों विमुख उन्हें सम्मुख समर में।
उसने कुबेर गदाघात व्यर्थ करके,
आहत अचेत किया तीक्ष्ण शर से उन्हें।
उनको भी रथ में उठा लिया जयन्त ने,
साथ ही टँकोर कर चाप-शर सन्धाना।

हो गयी भयार्त्त शची—"जाओ शीघ्र चपले,
जाके कहो पुत्र से, कठोर रुद्रपीड़ से
एकाकी न जूझे, स्वयं अग्नि हारे जिससे।
जाओ झट जाओ, कहीं नैमिष विपिन-सा
आहत न होना पड़े उसके प्रहार से।"
दौड़ गयी चपला, इधर इन्द्रजाया से
बोली इन्दुबाला,—"देवी, मेरा मन रोता है,
मेरे हृदयेश ऐसे निर्दय क्यों हो गये?
उनको बुलाओ यहीं, चपला से कह दो,
निज सु-कुमार की भी, चिन्ता मिटे मन से
अपने से जानती हूँ ममता मैं आपकी।

हाय नाथ! जैसे व्यथा दी है मुझे तुमने,
वैसे फिर दूसरे को कैसे तुम देते हो।''
आँसुओं से आँचल भिगोने लगी ललना।

देवदूत वेश में उधर जाके चपला
बोली यों जयन्त से—''कुमार, रण रोक दो;
सह न सकोगे रुद्रपीड़ के प्रहार को।
जननी की आज्ञा है लड़ो न तुम एकाकी।
भेजा है उन्होंने मुझे, वे अति अधीर हैं।
एकादश रुद्र, अग्नि और यक्ष पति को
जिसने अकेले ही हरा दिया है, उससे
कैसे पार पाओगे, न जूझो तुम उससे।
ले जाओ यहाँ से कहीं और रथ अपना,
स्वस्थ करो पहले कृशानु को, कुबेर को।''

लौटा लिया दुःख से ही स्यन्दन जयन्त ने।
विमुख हुआ जो यों विपक्षी, रुद्रपीड़ ने
फिर किया सिंहनाद और निज बाणों से
देवसेना ध्वस्त कर, रथ में उठा लिया
क्षिप्त निज सारथी को, चाप तथा तूण को।
जैसे जल जन्तुओं को बड़वा जलाती है,
करने लगा वह विकल देवसेना को।
दीख पड़े अश्वनीकुमार उसे पास ही,
अश्वारूढ़ ध्वस्त करते हैं दैत्य-सेना को।
दो-दो शर दो-दो वार लक्ष्य कर उसने
छोड़े लगातार, गिरे दोनों देव रण में।
भागी देव सेना भीत, दैत्य चमू गरजी।
पीछा कर वन्या-सम सुन्दन महाबली,
सिंह-सम दौड़ा द्रुत देखते ही देखते,
देव अस्त-व्यस्त हुए पत्ते यथा आँधी से,
मत्तगति दैत्य दौड़े कूल-भेदी नद-से।

देखके सुमेरु पर व्याकुल हुई शची,
इन्दुबाला ओर निज दृष्टि डाली उसने।

दैत्य-बधू वैसी ही विषण्ण और व्यग्र है—
"पति की प्रगति में भी भद्रे, हतमति क्यों?
मेरा पुत्र करता विपक्ष को परास्त यों,
फूली मैं समाती नहीं उसको बखानके।"

झर-झर आँसू डाल बोली इन्दुबाला यों—
"मेरा उर काँपता है देवि, रह-रहके;
चाहती नहीं हूँ मैं प्रभाव प्राणपति का,
उनका अहित न हो, मैं यही मनाती हूँ।
वे ही एक मात्र मेरी गति इस विश्व में,
किन्तु मुझ दुःखिनी के भाग्य में जाने क्या।"
बोली शची—"भद्रे, भाग्य-लिपि नहीं मिटती,
किन्तु यहाँ इन्द्र नहीं, दुःखित न हो बहू,
तव पति अमर सदैव उनके बिना।"

उधर सगर्व रुद्रपीड़ है गरजता।
देखा स्कन्द वरुण समीर तथा सूर्य ने
दूर से; उसी के साथ छिन्न ध्वज अग्नि का,
जान लिया आप पूर्व द्वार पर, क्या हुआ?
उनको बताया तभी आकर जयन्त ने।
विवरण पूरा सुन, चिन्तित हुए सभी;
कैसे समुद्धार अब होगा देव-सेना का,
जात और जनक अजेय दोनों एक-से।

बोले तब सूर्य—"सुनो, इन्द्र बिना अपनी
गति यदि अन्य नहीं तो है व्यर्थ जूझना।
अन्यथा है मेरी यह सम्मति विचार लो,
छोड़ो अस्त्र-शस्त्र, करो प्रकट प्रलय का
निज-निज तेज सब, द्वादश स्वरूपों में
होऊँ मैं प्रकट, जले कालानल वेश में।
वह्नि, पाशी प्रलय-प्रवाह लेके प्रकटें,
और वायु रक्खें उनचास रूप अपने।
देखो फिर कैसे दैत्यनाश नहीं होता है।"
उद्यत समीर हुए सूर्य-वाक्य सुनके,

सिन्धुपति रोक उन्हें बोले—"हे त्वषांपते!
क्या कह रहे हो यह, असुर-विनाश के
साथ ही करोगे क्या विनाश सारी सृष्टि का?
दो के मारने में सभी प्राणियों को मारोगे?
देव होके ऐसा करना क्या कभी ठीक है?"

इतने में भैरव निनाद उठा शून्य में,
ज्यों टंकार शब्द सौ-सौ कोसों तक छा गया;
शून्य और सुरपुर गूँजा सिंहनाद से।
देव-दैत्य दोनों लगे ऊपर को देखने।
दीखा, व्योम छाके उगा इन्द्र चाप मेघों में;
दीख पड़ा आखण्डल ऊँचे से उतरता।
मण्डित है किरणों से ऊँचा सिर उसका,
खंगनील देह चिर परिचित देवों का।
परसा युगों के बाद अमरा को इन्द्र ने।
आगे बढ़ देवों ने सहर्ष भेटा उसको।

सिंहनाद कर उठी देव-सेना दर्प से,
डोल उठी देवपुरी भूरि कोलाहल से।
बोल उठी इन्द्राणी—"विषाद मिटा चपले,
आहा! आज मेरे मन-नयन जुड़ा गये।"
सिहरी परन्तु वह देख इन्दुबाला को।
फेर चपला की ओर दृष्टि तब अपनी
इन्द्राणी उसी के साथ बातें करने लगी।

एकविंश सर्ग

जाना जब कैलासाद्रि धाम में भवानी ने,
ऐन्द्रिला ने स्वपद उठाया देवराज्ञी का
वक्ष लक्ष करके, दला भी बिम्ब उसका
किरणों से अंकित मनःशिला के तल पै;
तत्क्षण जया की ओर देखा आर्द्र दृष्टि से,
और मृदु स्वर से कहा यों जगद्धात्री ने—
"हाय जये, प्राणी परपीड़क क्यों होते हैं,
दूसरों का दुःख नहीं जानते क्यों कुछ भी।
पा रही है आज शची कैसी मनोवेदना,
चिन्तामयी चेतनता-रूपिणी मनस्विनी;
ऐसी यातना जो भोगता है वही जानता।
आर्द्र रहती है नर-रक्त से क्यों अवनी?
दम्भ दर्प ईर्ष्या द्वेष और भुजबल से
हो रहा है कैसा महा पीड़न त्रिलोकी में?
समझी अवशता की ज्वाला आज इन्द्राणी,
जान गयी तू भी, वह भीमा काल-काल में
होती है प्रकट क्यों कराला कालिरूप में।"
कहती हुई यों हुई अम्बा कुछ अस्थिरा,
जीवदम्भदलनी सरोष फिर बोलीं वे—
"दम्भ यह अब तक रहता क्या उसका?
दैत्यवामा ऐन्द्रिला इसी क्षण समझती,—
कैसा बलवीर्य भीम-भामिनी है रखती।
वृत्र-वध करके उसे मैं यदि दण्ड दूँ,

तो सुरेन्द्र मानेगा अगौरव ही अपना।''

क्षण भर सोच उठीं अम्बिका गगन में,
विश्व-केन्द्र मध्य ब्रह्मलोक में वे पहुँचीं,
अंशु-मण्डलाकृति महापरिधि जिसकी।

अद्भुत प्रकाश पूर्ण श्री है ब्रह्मधाम की,
खेलती हैं रवि की हिलोरें-सी सदा यहाँ।
जो भी यक्ष रक्ष दैत्य सिद्ध सुर आते हैं,
होकर भ्रमित 'धाता-धाता!' हैं पुकारते—
करके प्रणाम ऊँचे उठते हैं भक्ति से।
घेर महामण्डल चतुर्दिक विराजती
निम्न ऊर्ध्व पार्श्व में अपूर्व मूर्ति, जिससे
हैं ब्रह्माण्ड निर्गत निरन्तर नये-नये।

देखा जगदम्बा ने प्रफुल्लित हृदय से,
उनकी अकूल गति है अनन्त शून्य में,
कैसी किस ओर शोभा और रूप उनका।

भेद भानु-मण्डल प्रविष्ट हुई अम्बिका,
विश्व-मोहकारी ब्रह्मलोक-मध्य भाग में।
सीमाहीन सिन्धु लहराता सब ओर है,
घेरकर पद्मासन पावन विधाता का।
ऊपर है वाष्प-पुंज-मण्डल सिताभ्र-सा,
अन्त आवर्तों का नहीं, दीप्ति मृदु उनसे
निकल-निकल दीप्त करती है केन्द्र को।
वायु, वह्नि और मृत्तिका के पिण्ड रूप में
उड़ते असंख्य परमाणु हैं अनन्त में।
सूर्य चन्द्र तारे बन विविध प्रकार के
होते हैं सजीव पद छूते ही विधाता के,
पूर्ण ब्रह्म ज्योतिकण जागते हैं उनमें।
पुलकित हो रहे हैं स्रष्टा उन्हें देखके,

अविरत सृष्टि-क्रम चलता है उनका।
जीवन के स्वादु प्राणी पाते हैं नये-नये।
कह सकता है कौन हाव-भाव उनके?
गिन सकता है कौन, जीवन के सूर्य की
किरणों को? शिशु जब अर्द्धस्फुट कण्ठ से,
दुग्ध-सिक्त आनन से, माँ का कण्ठ धरके,
हँसता है, भावुक, विचार करो मन में,
फूटता है कैसा सुधास्रोत उस क्षण में।
ऐसी रसमग्न होके प्राणियों की मण्डली
देखती है पहले-पहल जब सिन्धु की
ऊर्मि-खेला और शून्य, वायु, वाष्प, बिजली,
अद्भुत सृजनलीला, भीत होके सहसा
सूखे कुसुमों-से नेत्र मूँदकर अपने
छिपती है दौड़कर अंक में विरंचि के;
मानो भयभीत शिशु जननी की गोद में
सकरुण सौख्य, भय भूल पुनः पाती है,
गाती है सहर्ष वह गीत परब्रह्म के
और चली जाती है ठिकाना जहाँ जिसका।

देखती समोद सृष्टि-लीला धीर गति से
देवी बढ़ हेतु-सिन्धु तट पर पहुँचीं।
उद्भासित सिन्धु हुआ एक नयी आभा से,
फैलाकर नेत्र महा ज्योति देखी ब्रह्मा ने।
उठ वे समम्भ्रम समीप आये उनके—
''कैसा यह कष्ट किया आके यहाँ आर्या ने,
शंकर कहाँ हैं, हेतु क्या इस कृपा का है?''

''आत्मभू! तुम्हारे बिना देवी और देवों का
मान कौन रक्खेगा, महेश्वर से कहते
भय हुआ मुझको, वे प्रलय न कर दें।
दम्भमयी दैत्य द्वारा ऐन्द्रिला ने अन्त में
हाथ—नहीं, पैर हा! उठाया शची पर है।

दण्ड दुष्टा दानवी को जो न दिया जावेगा,
तो डरेगा करते अवज्ञा कौन किसकी?
शीघ्र वृत्र-वध की बनाओ विधि हे विधे!
दूर हो शची का मनस्ताप तथा मेरा भी।"

क्षण भर सोच विधि साथ ले शिवानी को
पहुँचे बैकुण्ठ, और माधव को संग ले
सब मिल आये शिव-शैल पर शीघ्र ही।

मग्न हैं भवानीनाथ भावना में अपनी,
विम्बित ब्रह्माण्ड कोटि चारों ओर उनके।
देखते हैं कौतूहल-युक्त ध्वंस-गति वे,
हो रहे विलीन जड़-चेतन हैं कितने।
और, देखते हैं वे रहस्य बन्ध-मोक्ष के,
बोध, चिन्ता और कल्पना से जड़-जीवों का
आना और जाना, गति संगठित काल की,
कैसा सूक्ष्म सूत्र-बद्ध जीवन है सबका,
भोग और वैभव प्रताप तथा तेज भी,
चेतन-अचेतन का है संयोग कितना।
तीनों लोक चौदहों भुवन भले देख लो,
प्राणियों के भीतर शरीर और आत्मा का
बन्धन है कितना मनोरम कुसुम-सा,
होते ही शिथिल कैसा कुलिश-कठोर है!
एक सूक्ष्म तन्तु बिना विश्व है बिखरता।

देखते हैं योगीश्वर कौतुक के भाव से
वह लय-प्रलय-प्रसंग लोक-लोक का;
देखते हैं, जीव वहाँ काल के प्रभाव से
क्या-क्या खेल खेलते हैं जीवन-मरण के,
होते हैं उसी में फिर लीन देह तजके।
जलते हैं, बुझते हैं, ज्ञान-दीप कितने
क्षण-क्षण विश्व बीच अज्ञानान्धकार में,

कितनी सुकीर्ति और कितने कलंक हैं!
निर्मल असंग आत्मा है सर्वत्र अन्त में।

बुझ जो नक्षत्र सम पाप तम-कूप में
गिरते हैं, देख उन्हें देव दुःखी होते हैं।
राहु-ग्रस्त देख रवि दुःख न हो किसको?

ऐसे प्राणियों से पूर्ण कोई भाग भूमि का,
दर्शनीय होता है विभिन्न लता-गुल्मों से।
वे ही लता-गुल्म शिलाखण्ड बन पल में
हिम-मरु उसको बनाते हैं हिमानी से।
कोई भव सहसा विदीर्ण रेणु चूर्ण हो
होता है विलुप्त उड़ दूर किसी शून्य में।
कितने ही जनपद नीचे गिर ऊँचे से,
होते हैं सदा के लिए लीन कालसिन्धु में।
दीख पड़ता है कहीं प्रलय मचा हुआ,
उड़ते हैं सब जड़ जन्तु भस्मीभूत हो।

युग-परिवर्तन दिखाई कहीं देता है,
सब जड़-चेतन हैं प्लावन में डूबते।
ऐसे ही प्रलय-काण्ड भुवन-भुवन में
देख बीच-बीच में महेश मुसकाते हैं।

ऐसे में शिवानीयुत विधि-हरि पहुँचे,
हँस वे उमा की ओर देखकर हर्ष से
भुज भर भेटे हर हरि से, विरंचि से।
हरि ने बताई उन्हें सारी स्वर्ग-घटना,
सुन कुछ कम्पित जटाएँ हुईं उनकी।
प्रखर प्रकाश छोड़ा भालस्थित चन्द्र ने,
शान्त किया उनका प्रलय-कोप हरि ने।

"पूरी करो हरे, अभी कात्यायनी कामना,

जी न सके वृत्र अब ऐसा करो हे विधे,
स्पर्धा हुई मेरे वर से ही उसे इतनी।
किन्तु कहो हे बैकुण्ठ, और सुरज्येष्ठ हे,
भक्त के अधीन तुम भी क्या नहीं वैसे ही—
जैसा आशुतोष—भ्रान्ति मेरी यदि ऐसी है,
तो मरे अभी वह असुर भाग्य-भंग से।
देखो, है ससज्ज सुरराज रणक्षेत्र में।
वज्रायुध घोर विश्वकर्मा ने बना दिया,
उसको दिया है निज तेज हम तीनों ने।
अन्तराय एक दिनमान शेष ब्रह्मा का,
मेटो उसे, मारके अकाल में असुर को,
यों वह स्वयं ही मरता है निज दोष से।
कौन बचावेगा उसे।'' यह कह शूली ने
वृत्र का स्मरण कर एक लम्बी साँस ली।

देख शिव-भाव, मन्त्रणा की विधि, विष्णु ने।
बोले फिर हृषीकेश—''व्योमकेश, वस्तुतः
कर्म-वश जीवों का उदय और अस्त है,
होता परिवर्तन है प्राक्तन-प्रभाव से।
फिर भी उमा के अनुरोध रखने को ही
सम्मत हुए हैं हम मेंटने को वृत्र की
भाग्य-लिपि। कहके अतनु हुए दोनों ही,
साथ-साथ शंकर भी,—तीनों गुण मिलके
रखकर परब्रह्म रूप पुनः प्रकटे!

निकली कठोर वाणी घोर महाकाश से—
''खण्डित है भाग्यलिपि वृत्र की अकाल में!''

इधर विनोदी भाग्यदेव हरिधाम के
प्रान्त में विराजमान घोर चिन्ता-मग्न हैं।
प्राक्तन की लम्बी लिपि सम्मुख है उनके,
लीला इन्द्रजाल की-सी अद्भुत है उसकी।

जाता विजयी है कहीं संग चतुरंग है,
लाँघ ऊँचे पर्वत, गम्भीर सिन्धु, पल में
भ्रमता वही है जलहीन मरुस्थल में।
राज्य अभिषेक कहीं, मोद मग्न-मेदिनी,
सज्जित हैं रथ गज अश्व जनमण्डली,—
और वहीं मिट सब मरघट होता है!
भूपति चिता पर पड़ा है, राज्य रोता है।
उत्थित चिता के पार्श्व में ही फिर सौध है,
सज्जित जो वस्त्राभूषणों से महोत्सव में,
परिणय-मण्डप में बैठे नव दम्पती;
फिर क्षण में ही मृत पति को ले अंक में,
रोती रमणी है केश-वेश अस्तव्यस्त हैं।
कितने युवक और कितनी युवतियाँ,
पाती और खोती स्वस्थरूप एक पल में।

मकड़ी के जाल, जहाँ मोतियों की झालरें
झलमल दीप जहाँ, अटल अँधेरा है।
जो दारिद्र्य-प्रतिमा है, देखते ही देखते
रत्न-मूर्ति राजरानी हो उठी है चित्र में।
राजरानी जो है वह होती है भिखारिनी;
जो है पर्णशाला, चतुःशाला बन जाती है।
खँडहर होते कहीं भग्न चतुःशाल के,
होता जहाँ गान वहीं चिल्लाते शृगाल हैं।
बनने के पूर्व मिटते हैं चित्र कितने,
गिरिवन छिपते, सबेरे कुहरे में ज्यों।

यों इस जगद्धरा के देशों में, प्रदेशों में,
काल-धर्म कर्माकर्म और योगायोग से
होती जब जैसी गति चेतन में, जड़ में,
होती है लिखित तब तैसी भाग्य-पट में।
देखते हैं भाग्यदेव मानस में मग्न हो,

वृत्र का विशाल चित्र कितना विचित्र है।
छाई अभिलेख में अपूर्व छटा उसकी।

इतने में अम्बर विदार तीनों देवों की
सुन पड़ी आज्ञा। सुन प्राक्तन ने भय से
देखा वह चित्रपट, सहसा असुर का
रूप धीरे-धीरे कालिमा में धुला जाता है!

द्वाविंश सर्ग

बैठी है असुरवामा पार्श्व में असुर के,
बिजली छिपाये नव-नील घन-राशि-सी,
सूर्य ढँक, इन्द्रचाप छाती पर रखके।
भूधर का अंगस्पर्श करती हुई स्थिरा।
सजल सुनीलोत्पल तुल्य नेत्र फैलाये,
दैत्यमुख देखती गभीर धीर भाव से—
जैसे जल भार-भरी बरसे बिना घटा।

भाव देख उसका चकित दैत्यपति है।
धीरे से दबा के हाथ में ले हाथ उसका,
मधुर वचन बोला—"बात क्या है ऐन्द्रिले,
क्या मध्याह्न में है यह आविर्भाव रात का!
स्वर्ग सुर-शून्य किया अग्नि-जयी जात ने,
पाया है अपूर्व यश, शत्रु भागे स्यार-से;
पीछे बिना देखे भगा शश-सा जयन्त है।
हट अमरा से अब देव चिन्ताकुल हैं,
आनन्दित दैत्य विजयोत्सव मनाते हैं।
पुत्र-यश गाया जा रहा है त्रिभुवन में,
जीवन कृतार्थ निज, सार्थक है साधना।
पुत्रधन ऐसा धरा कोख में है तुमने।
ऐसे सुख समय तुम्हें है क्यों असुख-सा,
सुख-शुभ-कामना भी भूल गयीं तुम क्या?

दोनों धन और यश हैं तुम्हारे हाथ में,

जो भी तुम चाहो करो, दो जिसे जो देना हो।
सांग करो उत्सव, त्रिदिव मोद-मग्न हो।
भूले नहीं कोई कभी यह दिन लोक में।
रानी, तुम चिन्तित हो यों किस अभाव से,
राजा बना सकती हो आज तुम रंक को।
इच्छा क्या तुम्हारी कहो, कहते ही पूरी हो।
माँ का मनस्ताप अकल्याण है तनय का।''

रमणी से हार मानते हैं रमापति भी,
(वृत्र खुले जी का एक सरल सुभट था)
मधु में लपेटी हुई माहुर की गाँठ-सी
छद्म-बहु-रूपिणी असुर-वामा बोली यों—
''दुःख भोगना ही भाग में है हतभाग्य के,
हैं पाषाण मेरे प्राण, भूलकर पुत्र को
मैं पति-समीप आयी अपना ही रोना ले।
क्या आघात पाकर असम्भव है वेदना,
देखा मुझे तुमने कठिन ऐसा क्या कभी?
करनी पड़ी हा! मुझे पुत्र की उपेक्षा भी,
और ऐसी बात पति से ही सुननी पड़ी!
धिक मुझे, किससे कहूँ मैं मनोवेदना?
लेती रही निद्राहार साथ-साथ जिनके,
जन्मभर वे भी यह सोचें तो उपाय क्या?
किसको जनाऊँ निज पीड़ा, कौन जानेगा,
रहो नाथ, तुम सुतवत्सल हो, सुत के
साथ सुख भोगो, वह दुःख एक मेरा ही।
मैं ही उसे भोगूँगी, चली लो, यह पाषाणी।''
यों कह उठी वह कपट कोप करके,
वृत्र ने बिठाके उसे ज्यों-त्यों कर धरके
शान्त किया। बोली वह मधुर कपट से—
''तुम रण-रंग-विधि जानते हो विजयी!
भामिनी का भाव भला तुम समझोगे क्या?
सन्तति की ममता से आर्द्र मन उसका
जाता है कहाँ-कहाँ, विदित क्या है तुमको?
मन क्या स्त्रियों का कभी जानते पुरुष हैं।

जय-मदमत्त तुम किन्तु सोचती हूँ मैं,
क्योंकर दिखाऊँ यह दग्ध मुख पुत्र को।
पूछेगा तनय जब बैठ इस गोद में,
'माँ, कहाँ है इन्दुबाला, सौंपा था जिसे तुम्हें
स्नेहयुत पालने को। मेरी प्रेमलतिका
रक्खी वह तुमने कहाँ, दिखाओ मुझको',
क्या कहके दूँगी मनःशल्य तब मैं उसे?
खो दी प्राणनाथ, मैंने मणि निज पुत्र की,
खोई निज सम्पत, तुम्हारी पत खोई है।
घर है अँधेरा इन्दुबाला बिना मेरा हा!''

''ऐन्द्रिले, क्या कहती हो'' गद्गद
हुआ बली–
''मेरी इन्दुबाला नहीं? हाय! मेरी कौमुदी
डूब गयी? अब न मिलेगी सुधा-स्यन्दिनी?
क्या अब सुनूँगा न मैं वाणी उस वीणा की?
हा! क्या नेत्र कर्ण मेरे अब न जुड़ायँगे?
नहीं नहीं, मूर्ति वह मरने की है नहीं।
ऐन्द्रिले, कँपेगा काल वह छवि हरते,
विजयी की कीर्ति-सी अखण्ड वह निधि है।''

''हा! ऐसी अशुभ बात सोचते हो
तुम क्यों,
स्वामि,'' बोली ऐन्द्रिला कपट कष्ट भाव से–
''ऐसा कह और मेरा दुःख क्यों बढ़ाते हो।
मेरी वधू वह चिरकाल जिये सुख से,
उस सधवा की मृत्यु छाया भी न छू सके।
मृत्यु से भी कुटिला कठोरा शची सर्पिणी,
ले गयी भुलाके उस मुग्धमति बाला को।
जो कर सके न देव पौरुष के बल से,
उस न-मरी ने सिद्ध कर लिया छल से।
धिक मेरे जीवन को, दैत्येश्वर, धिक है,
जो तुम्हारी कुलवधू भूल कुल-गरिमा,
आश्रय ले वैरि-वनिता के पद-तल में!

देखा यह मैंने स्वयं, मैं तुम्हारी आज्ञा से
लेने गयी जब उस मूर्तिमती माया को।
लोक में मिटेगा क्या कलंक यह अपना?
रोक नहीं पाई जब मैं उद्वेग मन का,
और जब भर्त्सना शची की करने लगी,
सहनी पड़ी हा! मुझ स्वर्गजयी-जाया को
लात तब उसकी, मैं कैसे कहूँ, क्या कहूँ?
यह भी लिखा था इस मेरे हत भाग्य में!
ये पाषाण प्राण सहते हैं निज यातना,
किन्तु हा! तुम्हारा अपमान सहूँ कैसे मैं?
पति का कुयश है सो पत्नी का कलंक है;
क्योंकर मिटेगा वह, सोच नहीं पाती हूँ!
सोते-जागते है मुझे इन्दुबाला दीखती,
आओ, अभी तुमको दिखा दूँ सब सामने,
जान लोगे आप तुम, आर्त्त क्यों है पाषाणी।
उत्सव के दिन भी अभागिनी हताश क्यों,
देखो स्वयं, प्रत्यय क्या वनिता की बात का!"

काँपे कुछ नासापुट, चढ़ गयीं त्योरियाँ,
उष्ण हुई साँस, तीनों आखें लाल हो गयीं,
दानवी के साथ चला दानव अधीर-सा,
साथ चली उसके अहंभरी-सी ऐन्द्रिला।
बलिहारी, धन्य तेरा निश्चय है दानवी!
होती है हताश निज साधन में तू कहाँ?

चढ़ परकोटे पर दोनों लगे देखने,
फैला देव-दैत्य-दल कूलहीन सिन्धु-सा।
सोने का सुमेरु भी दिखाई दिया सामने,
अमरा के प्रान्त में सहस्र श्रृंग जिसके
अम्बर को भेद ऊँचे उठते चले गये।
श्रेणी सुर-मोहिनी है, कल्पना की वेणी-सी,
किरणों से उद्भासित, दृष्टि चौंधियाती है।
तर्जनी उठाकर दिखाया वृत्रवामा ने,
बैठी जहाँ इन्द्राणी दिशाएँ दीप्त करती।

उसके पदों में इन्दुबाला म्लानवसना,
क्लान्त कृश काया, ग्रीष्म-दग्ध मृदुवल्ली-सी।
अधमुँदी आँखें, थिर मूर्ति बनी बैठी है।
उसके निकट बैठीं स्तब्ध रति-चपला।
युद्धक्षेत्र देखने में तन्मय हैं तीनों ही
चित्र में लिखी-सी। वृत्र विस्मित-सा हो गया।
कुछ क्षण पीछे फुफकार उठा साँप-सा।
कूदने को उसने बढ़ाया तनु जैसे ही,
वैसे ही सुरासुरों का कोलाहल हो उठा।
रथ, गज और अश्व दौड़ उठे शून्य में,
तर्ज उठे शंख-शृंग, गर्ज उठीं भेरियाँ;
दीख पड़ा रुद्रपीड़ आता रणांगण में।
सेना जय बोलती है आगे और पीछे से,
राहु-केतु-अंकित पताका है फहरती।

सब कुछ भूल गया वृत्र उस दृश्य से,
देखने लगा वह इसी को स्थिर दृष्टि से।
पुत्र का प्रयाण, प्राणवत्ता रथवाहों की
देखकर भूलता न कैसे वह विक्रमी?
विह्वल सदैव होता है जो रण-रंग में,
पुत्र का प्रभाव देख पुलकित हो गया।

आ दोनों दलों के बीच रथ खड़ा हो गया,
सारस का शुभ्र-पक्ष नत मणि-गुच्छ से
हँसता है शीर्ष पर, तनु ढँका वर्म से;
हीरक-जटिल मूठ वाली असि कटि में,
कोष-गत डुलती है नद्ध सारसन से।
बायें कर में है वक्र चाप, शर दायें में
तूण और नाना अस्त्र रक्खे सजे रथ में।

टेक धनुष्कोटि भट बोल उठा सामने
विशद गभीर स्वर में यों—"सुनो सारथे,
मानता हूँ आज जन्म-जीवन सफल मैं।
देकर चुनौती अभी दुर्जय सुरेश को

बाँधूँगा यशः किरीट, ख्यात हूँगा दैत्यों में,
और निज शस्त्र-शिक्षा दोनों को दिखाऊँगा।
निश्चित है मेरी मृत्यु वासव के हाथ से,
आज इस रण में सहर्ष देह छोड़ूँगा।
अन्य मृत्यु मेरी नहीं, मेरा यही भाग्य है।
स्वर्गपति इन्द्र तीनों लोकों में अजेय है,
उसके करों से मरने में भी विहार है।
मृत्यु-चिन्ता मुझको नहीं है, आज देखेंगे
अद्भुत समर देव-दैत्य और जानेंगे
वीर का मरण होता कैसा विलक्षण है।

रखना स्मरण तुम कहता हूँ अब जो,
अन्तिम शयन पर देखो जब मुझको,
कोई शत्रु घृण्य स्पर्श कर न सके मुझे।
मेरा शव राक्षस-पिशाच कोई खा न ले।
जीता रण में जो अग्नि-चक्र-रथ मैंने है,
करना समर्पित पदों में इसे तात के।
सौंप उन्हें मेरे अंग आच्छादन कहना,—
'पूरी हुई साध रुद्रपीड़ के हृदय की।'
माँ ने रण-रक्षण का अर्घ्य मुझे था दिया
यह उन्हें देना और कहना—'मरण के
पूर्व इसे मैंने निज सिर पर रक्खा था।'

सारस का पंख यह रत्नों से खचित जो
आज मेरे शीर्षक की आभा है बढ़ा रहा,
देना इसे मेरी मनोमाला इन्दुबाला को।
स्मरण करेगी वह आजीवन उसका,
उन्मादिनी हो रही है जिसके प्रणय में।
सूत, तुम उससे यों कहना"—हा! वीर के
आँसू भर आये यह कहते न कहते।
कण्ठ रुँधा प्रेम-पुतली की सुध करके,
बोल नहीं पाया वह, रह गया मौन ही।

बैठ महानादी श्रृंग उसने बजा दिया।

बज उठीं तत्क्षण ही भेरी और तूरियाँ,
काँप उठा व्योम दानवों के सिंहनाद से।

आ गये कुमार आगे ग्रह की-सी, गति से,
करके मथित प्रतिपक्षियों के चित्त को
उनका शिखिध्वज समक्ष उड़ने लगा।
बोले उमानन्दन जलद-मन्द्र रव से,
स्तब्ध हुए क्षण भर बाजे सब युद्ध के,
स्यन्दनों का घर्घर निनाद, गज-गर्जना,–
"दम्भी शिशु, अग्नि को निवार निज गर्व में
भूल देवसेना के समक्ष आया एकाकी;
भूल गया छिन्नमति, मृत्यु का भी भय तू।
एक-एक देवरथी विश्वजयी है यहाँ,
हेला कर सबकी अकेला तू अड़ेगा क्या?
किससे लड़ेगा बोल, सूर्य से वा वायु से,
वरुण, जयन्त, वैनतेय सेवा मुझसे?
देखता हूँ, शिशुक चला है सिन्धु सोखने।"
'कार्तिकेय!' दैत्यपति-पुत्र बोला दर्प से–
"शिशु हूँ वा प्रौढ़ हूँ मैं, शीघ्र तुम जानोगे।
जूझो तुम्हीं पहले प्रमुख देव सेनानी,
हाँ-हाँ, मैं लड़ूँगा तुम सबसे अकेला ही।
स्वच्छ कर दूँगा मैं सुरों से आज स्वर्ग को!
ठान लिया मैंने यही, अन्यथा मरूँगा मैं।
जो-जो तुम चाहो बढ़ो, विमुख न हूँगा मैं,
मेटूँगा तुम्हारा भ्रम विक्रम से अपने,
उद्यापन होगा आज मेरे रण-पण का।
स्कन्द, दो-दो बातें स्वयं शक्र से करूँगा मैं,
और इन्द्रचाप-चमत्कार यहाँ देखूँगा।
उद्यत हो हाँ, तुम सँभालो अस्त्र अपने!"

यह कह सव्यसाची वीर वृत्रपुत्र ने
एक संग चारों ओर मुख्य-मुख्य देवों को
लक्ष कर लक्ष शर छोड़े लघु हस्त से।
विद्ध गुहगात्र हुआ उनसे विशेषतः।

पवन, प्रभाकर, प्रचेता, शिखिध्वज ने
एक साथ तत्क्षण बढ़ाये रथ अपने।
काँप उठा स्वर्ग बाजों और सिंहनादों से,
छाया घोर कोलाहल शंख और शृंगों का,
होने लगी दौड़ते रथों से शर-वृष्टियाँ,
मानो खुल खेल उठीं आँधी और उल्काएँ।

सप्त हय सूर्य के मनःशिला तलों को भी
छूते न थे पैरों से, फड़कते थे नथुने।
अग्नि-रथ-चक्र चलते हैं ज्यों अचल हों।
मारुत का केतन-तुरंग मानो अपनी
प्राणगति देके उन्हें आप जड़ हो गया!
नाचता-सा नभ में है केतु-केकी स्कन्द का।

फेंककर फेन मुख और नासा-रन्ध्रों से
स्यन्दन-तरंग होड़ लेते हैं तरंगों से।
चारों दिशाओं से बढ़ा दैत्यों का प्रलय-सा!

रणपटु रुद्रपीड़ बोला निज सूत से—
"मण्डल बनाकर बढ़ाओ रथ वेग से,
घोड़े शर-लक्ष्य न हों जिसमें सहज ही।"
"जो आज्ञा!" बढ़ाया सारथी ने वेग रथ का,
घूमने लगा वह सतत विद्युद्गति से।
तेजस्वी चलाने लगा बाण वह्नि-कण से।
क्षिप्र कर-कौशल प्रकट कर बल से
चक्कर लगाने लगा भीम भट भौंर-सा,
जायगा रसातल में उसमें पड़ेगा जो!

सूर्य-रथ-चूड़ा कट नीचे गिरी सहसा,
वरुण-तुरंग रुधिराक्त होके भड़के।
वायु का धनुष कटा, उड़ गया तृण भी,
भौचक-से हो गये षड़ानन भी रण में।
जब तक एक वार रोकें, सौ प्रहार हों।

चौंक सब वृन्दारक, चौंका आप इन्द भी,
मत्त-से असुर जय बोल उठे उसकी,
'धन्य रुद्रपीड़!' कहा आप अमरों ने भी।

पुलकित दैत्यराज बोला देख दूर से–
'धन्य रुद्रपीड़!' मानो वारिधर गरजा।
देखा देव-दानवों ने नील गिरि-सा उसे,
लम्बा हाथ फैलाये असीसता है पुत्र को।
चंचल निविड़ केश उड़ते हैं वायु में,
कुण्डल हैं कानों में, त्रिपुण्ड दीर्घ भाल में।
सुकटि कसी हुई है, दीर्घ दृढ़ वक्ष है,
रक्तिमा से रंजित हैं तीन नेत्र उसके।

देवों का पदातिदल देख महादैत्य को
भागा असि चर्म फेंक हरिणों के झुण्ड-सा।
धनुष हिलाकर पिता की ओर अपना
उसको प्रणाम किया रुद्रपीड़ योद्धा ने।
क्षण भर क्षान्त रख चाप-गुण उसने
फिर से टँकोर उसे चौंका दिया सबको।

उसके समक्ष बढ़े देवरथी रोष से,
भूल पथ-विपथ, प्रहार करते हुए।
बैरिबल-बाढ़ सीधी छाती पर झेलते।
होने लगी मन्द रुद्रपीड़-गति क्रम से,
घिर अमरों में रथ छोड़ वह गरजा।

देख "मा भैः मा भैः" कहा चिल्लाकर
वृत्र ने–
"रोको तुम थोड़ा वत्स, वैरियों को, मैं अभी
आता हूँ तुम्हारे पास अपना कटक ले।
आओ, झट मेरे विकटादि भटो, सजके।"
उतरा तुरन्त परकोटे से महाबली।

घेरकर रथ इस ओर रुद्रपीड़ का

देवरथियों ने रण दारुण मचा दिया।
सब मिल काटने लगे वे अस्त्र उसके,
हो गया विरथ वह उनके प्रहारों से।
कूद पड़ा देख रथ भग्न वह सिंह-सा,
घेरे रहे फिर भी वे उसको किरात-से।

काट डाली गुरु गदा उसने पवन की,
शिंजिनी की क्रीड़ा दिखलाई दृष्टि-रंजिनी,
अविरत बाण-वृष्टि वाली अरि-भंजिनी।
विमुख प्रभंजन को होना पड़ा उससे,
काटा तब उसका धनुष कार्त्तिकेय ने।
दूसरा धनुष लेके उसने तुरन्त ही
प्रत्यंचा चढ़ाई, किन्तु चण्डकर भानु ने
काट डाली वह भी प्रचण्ड शराघात से।
तत्क्षण कराल धूमदण्ड धूमकेतु-सा
लेकर सदर्प वृत्रानन्दन ने उससे
छोड़ी किरणों-सी तीक्ष्ण ताम्र की शलाकाएँ।
छा लिया उन्होंने निज जाल डाल नभ को।
वह जिस ओर मुख करता है उनका,
उनसे शिला-सें धातु-वर्त्तुल निकलके
देववाहनों को छिन्न-भिन्न करते हैं वे।
खण्ड-खण्ड होने लगे अस्त्र-शस्त्र उनके,
बाध्य हुए देवरथी पीठ दिखलाने को।

आप सुरराज शक्र आया तब सामने,
उसने कराल रवकारी चाप टंकारा;
और धूमदण्ड खण्ड-खण्ड किया बाणों से।
अणु-परमाणु तक उड़ गये उसके।
क्षिप्त हुई शेष मुष्टि रुद्रपीड़-कर से।
होकर प्रसन्न इन्द्र पास आया उसके,
साधु-साधु कहके सराहा उसे उसने—
"धन्य है तू वीर! तेरी शस्त्र-शिक्षा धन्य है;
तूने क्या अपूर्व बल-वीर्य दिखलाया है!
जा, विश्राम कर अब छोड़ रणभूमि तू।

मेरा वैर क्या है पुरस्कार-भागी! तुझसे?''
''किन्तु घनवाहन, प्रतिज्ञा यह मेरी है,
रण से हटूँगा न मैं अमरों के रहते—
अमरावती में। पण कैसे तजूँ जीते-जी,
पूरी मैं करूँगा साध आज मर कर भी।
रण में तुम्हारे साथ दो-दो हाथ खेलूँगा।
रख अनुरोध मेरा तुम शर सन्धानो।''
फिर समझाया वार-वार उसे इन्द्र ने,
''श्रान्त हो गया तू शूर, जा यहाँ से क्षान्त हो।''
भाया लड़ना न उसे असम विपक्षी से।
माना नहीं आनबान वाला वह फिर भी।
(''जीता इस बात में तू, वार-वार हारा मैं,)
जूझना ही तुझको हो तब मैं विवश हूँ।
किन्तु रथहीन है तू।'' मातलि से कहके,
अन्य रथ इन्द्र ने दिलाया उस योद्धा को,
और कहा—''बैठ वीर, और मेरे बाणों को
रोक यदि रोक सके।'' बैठा वीर रथ में
रखकर अस्त्र-शस्त्र अपने चुने हुए।

होने लगा अद्भुत अपूर्व युद्ध दोनों का,
(शर बरसाने लगे चाप मानो आप ही।
जनने लगीं वा अविराम उन्हें ज्याएँ ही;
हाथ चुटकियाँ ही-सी बजाने लगे उनके!)
ऐसी गुण-माया दिखलाई कब किसने?
(शून्य हुआ भरके टँकोरों से सजीव-सा!)

दूर कभी, पास कभी स्यन्दन हैं दीखते,
एक दूसरे को घेर घात में लगे हुए।
वेग है प्रबल तो भी छू भी कहाँ पाते हैं
एक दूसरे के अंग। मानो नृत्यकार दो
नचते हैं मन्दिर में, संग-संग फिर भी
रंग रचते हैं बच छू-छूकर छूने से!

उठ कभी दैत्य-रथ इन्द्र-रथ लाँघके
विस्तारित करता है वाण-जाल अपना।
निर्झर का बाँध तोड़ खेले यथा तड़िता,
करके विदीर्ण वायुमण्डल उड़ान से।
ज्यों दो श्येन दूर कहीं पारावत देखके
फैलाकर पक्ष घूम-घूमकर व्योम में,
लड़ नख-चंचुओं से शोणितार्द्र हो उठे।
स्थिर हो अलग कभी दोनों दो महीध्रों-से
नीरव उठाते हैं असंख्य शर-वीचियाँ
अन्तर में, अद्भुत अपूर्व वह दृश्य है।
घूमती हैं चक्राकार सीमा अनुमानके
शाण-धरी उनकी विशाल बाणावलियाँ।
आती है तरंग एक और एक जाती है,
बीच दोनों केन्द्रों के तडिच्छटाएँ छूटती!

तीनों लोक चौंके युद्ध देखकर दोनों का,
किन्तु न था अक्षय निषंग वृत्रपुत्र का।
होके शर-जर्जर शरीर गिरा उसका,
मस्तक से शीर्षक, धनुष छूटा हाथ से।
सूतयुत स्वर्ग तले पतित हुआ बली,
छिद गया मानो एक-एक रोम उसका।
रिक्त देवयान खड़ा रह गया शून्य में।

रावण के हाथों मरा त्रेता में जटायु ज्यों,
हो गया गतायु गुणी वासव के बाणों से।

घोर हाहाकार उठा दानवों के दल में,
देव भी विषण्णमुख रह गये देखते।

सोने के सुमेरु पर वासवी के नेत्रों से
मन्द-मन्द आँसू बहे—काँपी देख चपला।
इन्दुबाला डर से सिहर बोली, "क्या हुआ,
कौन गिरा रण में, प्रहार किया प्रिय ने
फिर किस अवशा के कोमल हृदय में—

भंग किया भाग्य-सुख संसृति में किसका?''

सहसा निकल गया चपला के मुख से—
''रुद्रपीड़!'' सँभली भी तो क्या वह सँभली।
मानो वज्रपात हुआ सुनते न सुनते,
गिर पड़ी दैत्य-वधू वासवी की गोद में।
ग्रीष्म कलिका-सी वह सूख गयी क्षण में।
हाय! वह रूप-राशि सुस्मिति-सी स्वप्न की,
निद्रा में विलुप्त हुई—फूलेगी न अब हा!
झूल पड़ी फूलमाला झंझा की झकोर में।

''चपला री, तू क्या कह बैठी यह सहसा?''
उसने सहेज-सी ली पुतली प्रणय की!

इन्द्र के समक्ष उस ओर कर जोड़के
रोते हुए रुद्रपीड़-सारथी ने यों कहा—
फूट मानो पर्वत से धार छूटी—''कृपया
पूरी करो देवेश्वर, इच्छा युवराज की।
मुझसे उन्होंने आज प्रातःकाल था कहा—
'युद्ध-पूर्व सूत, तुम्हें एक आज्ञा देता हूँ—
देखो जब मेरा अन्तकाल तब देखना,
कोई प्रतिपक्षी मुझे छू न सके पैर से,
खा न पावें मेरा शव राक्षस-पिशाच भी।
मैंने अग्नि से जो अग्निचक्र रथ जीता है,
अर्पित पिता के चरणों में इसे करना
और मेरे आच्छादन। सिद्ध मेरी साधना',
देवराज, वह रथ आज छिन्न-भिन्न है,
वीर तनु शीर्षक कवच धनु उनको
अर्पण करूँ मैं, वीर-वांछा वीर-केसरी,
पूरी हो यथाविधि, विनय यही मेरी है।''

बोला इन्द्र—''सूत सुनो, आज उस योद्धा ने
अद्भुत समर-कला-कौशल दिखाया है।
स्तब्ध देवादेव दोनों युद्ध देख उसका।
शव है पवित्र सदा ऐसे शूर-वीर का।

चिन्तित न हो तुम स्वपुष्पयान देता हूँ,
ले जाओ इसी में उसे, पूरी करो कामना।"

गद्गद हो सारथी ने मस्तक झुका दिया,
और फिर शेष कार्य पूरा किया उसने।

लौटे शव-संग दैत्य रोते हुए शोक से,
करके गभीर नाद युद्ध-वाद्य घहरे।
ध्वजधर-पंक्ति चली पुष्परथ-पार्श्व में,
पीछे गज तुरग पदाति मन्द गति से
चलके प्रविष्ट हुए अमरा के द्वार में।

त्रयोविंश सर्ग

आया घर वृत्र देके आश्वासन पुत्र को,
और निज सेना को सहायतार्थ उसके
सजने का उसने निदेश दिया, देवों के
विजयी सहस्रों दैत्य शीघ्र सजने लगे।
स्वर्ग-सभा-मण्डप में सत्वर महारथी
बोला महा पात्र मुख्य सचिव सुमित्र से—
''आज अमरा के रक्षणार्थ किस युक्ति से
जूझेगी स्ववाहिनी, नियुक्ति किस वीर की
होगी किस द्वार पर?'' गूँजा इतने में ही
क्रन्दन निनाद वहाँ, स्तब्ध सब हो गये।
''किसका निधन यह'' प्रश्न किया उसने—
''कैसा यह हाहाकार कोलाहल हो रहा,
आज जब एकाकी हमारे रुद्रपीड़ ने
सब अमरों के मुख मोड़ दिये रण में,
धन्य हुआ दैत्य कुल उसके सुजन्म से;
धन्य शस्त्र-साधन सफल आज उसका।
वरुण कुबेर वायु वह्नि सूर्य सेनानी,
उसके समक्ष कौन टिक सका युद्ध में?
जूझता जयन्त उससे क्या, बाप जिसका
लड़कर हारा आप उसके जनक से।
मैंने स्वयं देखा है अकेले उस योद्धा ने
मारके भगा दिया है एक-एक अरि को।''

तब तक रुद्रपीड़-सूत पुष्प-रथ ले
आया वहाँ आँगन में। मौन खड़े हो गये

सैनिक-पताकी सब शिर नत करके।
देख उसे और शोक-वाद्य सुन साथ ही,
सिहरे दनुज सारे, काँपा आप वृत्र भी।

रुद्रपीड़-सज्जा सब रथ से उतारके
रक्खी दैत्य-चरणों में सारथी ने धीरे से।
भर्म-वर्म, चर्म, असि, चाप, मणिमेखला,
सारस-पतत्र युत शीर्षक सुवीर का,
और मौन छोड़ ढाढ़ मार वह रो उठा।
कह सका इतना ही—"और क्या कहूँ प्रभो!"
"और कहना क्या सूत!" भाप-भरे कण्ठ से
बोला वृत्र वन में पवन सन-सन-सा—
"जान लिया मैंने दैत्य-भानु अस्त हो गया!"
फेंक दिया शूल उसे व्यर्थ कह उसने,
ले सुत तनुच्छद लगाया उसे छाती से
और चूमा ऐसे मिला मानो रुद्रपीड़ ही!

रोने लगी सारी सभा साथ-साथ उसके,
होने लगी उच्छ्वसित, मानो शोक-सिन्धु की
ऊर्मियाँ उमड़ वेला लाँघने चली वहाँ।

बोला तब सूत—"हे अधिप, हे सभासदो,
हे अमात्य, पात्र-मित्र, हाय! आप लोगों ने
देखा नहीं, अन्त में दिखाया युवराज ने
कैसा बल विक्रम-पराक्रम, मैं क्या कहूँ।
सूत हूँ मैं, साथ रहा कितने ही युद्धों में,
मैंने स्वयं देखी बहु युद्ध-शिक्षा उनकी।
किन्तु रण-रंग ऐसा देखा न सुना कभी।
(कर गये शौर्य्य का भी अन्त-सा वे अन्त में!)
मैं क्या करूँ, कैसे कहूँ वह भुजचालना,
और अस्त्र-खेला बिजली की अवहेला-सी!
घेरा एक साथ उन्हें चार-चार वीरों ने,
वीर कैसे, भानु-वायु-वरुण-विशाख-से
डूबे सब रुद्रपीड़-विक्रम-समुद्र में!

उनकी जयध्वनि उठी न जाने कितनी।
आप बलाराति, हन्त! जिसके विशिख ने
अन्त किया उनका, विचित्र बल देखके
मुग्ध हुआ और निज पुष्परथ उसने
आदर के साथ स्वयं उनके लिए दिया,
आयी शूर-सज्जा इन चरणों में जिससे।''
सुनकर नासापुट फैल गये वृत्र के
फूल के सदर्प शूल उसने उठा लिया।
गरज उठा वह—''सजो हे सब दानवो!
वह न रहा तो किसे रहने की इच्छा है?
प्रस्तुत प्रलय-युद्ध-हेतु तुम सब हो।''

इतने में जैसे हृतशावका मृगादिनी
वन को विकल कर अद्रि पर आती है,
आयी वहाँ वैसी ही असुरवामा ऐन्द्रिला।
केश-वेश बिखरे हैं, नासापुट फूले हैं,
अंकित हैं गालों पर सूखी अश्रु रेखाएँ।
मत्त करिणी-सी वह बोली यों गरजती—
''दैत्यकुल उन्मूलित हो गया है, फिर भी
स्थिर है तुम्हारा उर दैत्यपते? शोक से
तनु है हताश अवसन्न, अहो धिक है!
व्याध-वध करके न आप तुम अब भी
देखते हो शून्य नीड़, छिन्न-भिन्न अटवी।
देखो, अरे देखो उष्ण आँसुओं से गण्ड ये
जलते हैं, इनसे भी उष्ण शोकानल से
उर जलता है; पिता होकर भी उसके
तुम जड़ निष्क्रिय शरीर लिये बैठे हो!
मैं क्या करूँ, सीखा नहीं मैंने युद्ध करना,
अन्यथा दिखाती तुम्हें, शक्ति ऐसी किसकी
ऐन्द्रिला का पुत्र मार बैठा रहे जीता जो।
ज्वाला यही उसके हृदय में जलाती मैं,
साथ-साथ उसकी बधू के भी हृदय में।
जानते वे दानवी की कैसी प्रतिहिंसा है।''

सुत-रण-सज्जा पर दृष्टि पड़ी उसकी,

आया फिर ज्वार शोक-सागर में उसके,
सूखीं अश्रु-रेखाएँ कपोलों की हरी हुईं।
"हा सुत! हा रुद्रपीड़!" बिलख-बिलखके
छाती पर उसने समेट लीं वे वस्तुएँ।
मांगलिक अर्घ्य मिला शीर्षक में वैसा ही,
काँप उठे माँ के प्राण देखकर उसको।
मानो घुस पैठी आग प्रस्तर हृदय में,
"मेरे लाल! मेरे लाल!" चिल्ला उठी ऐन्द्रिला
"किसको दिया है दैत्यराज, हरा किसने
मेरा लाल! ला दो अभी मेरे रुद्रपीड़ को।
छाती से लगाके इसी भाँति उसे रक्खूँगी
और वह चन्द्रमुख ऐसे ही भिजोऊँगी
देख एक बार सारा जीवन जुड़ाऊँगी,
कौन अब, जो माँ कहे ऐन्द्रिला से विश्व में?

भूमि-शय्या पर नहीं, जननी की गोद में,
सूँघ सिर उसको मैं जैसे ही जगाऊँगी,
निद्रा छोड़ वैसे ही तनुज उठ बैठेगा।
ला दो दैत्यराज मेरे अद्वितीय धन को।"
"दानव महिषि, क्रूर विधि ने कुठार से,
मेरा एक मात्र आशा-मूल काट डाला है।
जलती रहेगी यह शोक-चिता मन में,
जब तक यह तनु भस्म न हो जावेगा।"

"हा! मेरी अभागी, अब क्या होगा
विलाप से? आगे सब समय उसी के लिए
अपना। पीछे विलपूँगा प्रिये, पहले त्रिशूल से
छेदकर छाती मैं विघातूँ पुत्रघाती को।
विलपेंगे, कलपेंगे तब हम दोनों ही।
देखो, दैत्य मात्र युत युद्धोद्यत वृत्र है,
रोकर, करो न निरुत्साहित उसे अभी।"

कुछ प्रकृतिस्थ होके आँसू पोंछ ऐन्द्रिला
बोली—"दैत्यनाथ, तुम मुझको वचन दो,
मारे बिना छोड़ेगे न पुत्रघाती शत्रु को।

होगी कुछ शान्त तभी ज्वाला इस चित्त की,
जानूँगी तभी मैं तुम सच्चे शूलधारी हो।
मुँह दिखलाऊँगी तभी मैं वधू-लोक में।''

''सफल करूँगा मैं तुम्हारी मनस्कामना,
यदि कर पाया शिवदत्त इस शूल से।''
''यदि कर पाया—तुम कहते हो यह क्या?''
बोली सर्पिणी-सी फुफकार कर दानवी—
''सूख गया रक्त क्या तुम्हारे इस तन का?
तप कर जिससे किया है वह इतना,
उसमें नहीं क्या अब शक्ति प्रतिशोध की?
तुममें नहीं क्या अहम्भाव अब कुछ भी?
अब भी तृतीय दिनमान शेष ब्रह्मा का,
अब भी अमोघ शूल है तुम्हारे हाथ में,
फिर तुम 'यदि कर पाया' कहते हो क्यों?''
वृत्र ने प्रबोधा उसे, छूके सिर उसका,
उसने प्रतिज्ञा की सुरेन्द्रसुत-वध की।
होके समाश्वस्त गयी वामा वैजयन्त में।

तब सुत सत्क्रिया की विधि का सुमित्र से
वृत्र ने विचार किया। ऐसे ही समय में
आया वहाँ वीरभद्र दूत भूतनाथ का,
करके ससम्भ्रम प्रणाम दैत्यपति ने
आज्ञा की अपेक्षा की। कहा गिरीश-गण ने—
''पुत्रबधू सहित तुम्हारे वीर पुत्र की
दैत्यराज, सत्क्रिया करेंगी आप इन्द्राणी।
पति-गति सुनते ही साध्वी इन्दुबाला ने,
सहसा सुमेरु पर, उनकी ही गोद में
प्राण दिये! देवराज्ञी चाहती हैं, दोनों का
यह तनु-मिलन चिरन्तन रहे वहाँ।
वीरवर, तुम न निषेध करो इसका।
(अरि की भी अच्छी बात मान लेनी चाहिए।'')

वीरभद्र मौन हुआ। वृत्र ने सुमित्र की
ओर दृष्टि डालकर दुःखित हो यों कहा—

"बुझ गयी हाय! मेरी यह गृह-ज्योति भी,
देखो हे सुमित्र, मेरे विधि की विडम्बना,
दैत्यकुल-सूर्य-संग डूबी कुल-पद्मिनी।
आप रुद्रपीड़ जब छोड़ गया मुझको,
वृत्र-कुल-लक्ष्मी तब कैसे यहाँ रहती?
जान लिया मैंने अब अन्त दैत्य कुल का।
हा बहू, मैं देख भी सका न तुझे अन्त में,
तूने सुता-स्नेह से न जाने शुभे, कितना
सेवा कार्य मेरा किया। किन्तु मेरे रहते
मरना पड़ा हा! तुझे अंक में अमित्रा के,
देख भी न पाई तू कुटुम्बियों को अन्त में।
जान सकता है कौन भाग्य-गति कुटिला।"

लेकर गभीर साँस पुत्र-शव लेने की
स्वीकृति दी नत हो बली ने वीरभद्र को।
फिर निज सैनिकों की ओर देख उसने
सत्वर समर-सज्जा करने की आज्ञा दी—
"मिलकर वृद्ध-युवा प्रातःकाल-पूर्व ही,
देवों से निपटने को प्रस्तुत रहें सभी।"

अमरावती में हाय! और घने रूप में
आयी वह रात! दानवों के घर-घर में
भर गये मधुर गभीरोच्छ्वास कितने।
माता पिता पुत्र भाई बहन भतीजों में
और पति-पत्नियों में फूट पड़ी करुणा।
कहना ही क्या उस ममत्व तथा स्नेह का।

रोती नारियाँ हैं और नर समझाते हैं,
अस्त-व्यस्त माँएँ आप बेटों को सजाती हैं।
देता है प्रबोध अन्य रोदन में एक के,
भाव रोकने में वेग बढ़ता है और भी।
भाइयों को राखी बाँधती हैं भली बहनें,
किन्तु रख पाती नहीं सुध-बुध अपनी।
है कसमसाती सती पति-कटि कसती!

कोई बधू शिशु-कर एक कर से धरे,
दूसरे से भेटती-समेटती है वर को!
पकड़ किरीट-गुच्छ बालक हिलाता है,
खिलता, किलकता है देखकर उसको;
रोती हुई आप जननी भी हँस देती है।

पहन पिता की पाग बच्चा एक आता है
जननी-समीप, रोने लगती है जननी।
जात को सजाता है जनक, जात उसकी
पीठ पर आप तूण बाँधता है कसके।
नव वधुओं को समझाती बड़ी-बूढ़ी हैं।
माँओं को सुताएँ, वे सुताओं को सँभालती।

कुँभला रहे हैं मुख कितने कमल-से,
खिल जो रहे थे गत रात्रि में कुमुद-से।
कितनी ही आँखें आज मुँदती हैं दुःख से,
कल मुख देखने को उत्सुक खिली थीं जो।
तप्त वे हृदय आज, शीतल थे कल जो।
अमृत छिड़कते थे कल श्रवणों में जो,
आज वे वचन वहाँ काँटे-से चुभाते हैं।

प्रतिदिन कितनी विषाद भय चिन्ताएँ
दानव-गृहों में रहती थीं सब मिलके,
आज कैसी-कैसी वे तरंगमयी हो उठीं।
बैठ रहे मानो आज सबके हृदय हैं।
कोई मुख देखता है गोद में ले शिशु को,
व्यग्र करता है उसे बारम्बार चूमके।
कोई नेत्र पोंछता है रोती हुई कान्ता के,
कसके भुजों में उसे कोई आप रोता है।
आज भाई-भाई बन्धु-बन्धु कालरात्रि में
होते हैं विसर्जित सदा के लिए, मिलके।
अन्तिम निहारना है स्नेहमय कितना,
जननी का आशीर्वाद, आलिंगन तात का!

चतुर्विंश सर्ग

बीती अमरा की रात, प्रात हुआ अन्त में,
दीपित दिशाएँ हुईं सूर्योदय होते ही।
युद्धक्षेत्र विस्तृत गभीर पारावार है,
देव दैत्य-सेनाएँ महोर्मियाँ हैं उसकी,
जिनपर झलमल आयुधों की किरणें।

अद्भुत अमर-व्यूह वासव ने है रचा,
विस्तृत जो दूर-दूर दिशि-दिशि देशों में।
अस्ताचल हेमकूट ताम्रकूट शैलों को,
और पारदादि बहु धातु-गिरि स्थानों को
आवृत किये है श्रवणाकृति सजा हुआ।
मण्डलों में मण्डल चले गये हैं उसके
मध्य में कुबेरादिक ऐसे महावीर हैं,
आहत अधिक हैं जो रुद्रपीड़-बाणों से।
चारों ओर देव-दल रक्षणार्थ उनके।

मुख्य-मुख्य वीरों को बुलाया पुरुहूत ने,
पहुँचे वरुण लिये बाण-व्रण जाँघ में,
सूर्य बायें हाथ में। दहन आप दग्ध-से,
स्कन्द जयन्तादि वीर पहुँचे यथा तथा।
बैठे यथास्थान सब, इन्द्र देख सबको
बोला—"हे अमर महारथियो मैं दुःखी हूँ
देख तुम्हें अल्पाधिक आर्त्त अरि-बाणों से।
जानता न था मैं शक्ति ऐसी वृत्रपुत्र की।
एकादश रुद्र और अश्विनीकुमार क्यों

आये नहीं, वे हैं कहाँ?" "आहत विशेष वे"—
पाशी ने बताया—"नहीं आ सकने योग्य हैं।
मूर्च्छित पड़े हैं उनमें से कुछ आज भी।"
सुनकर एक लम्बी साँस ली सुरेन्द्र ने—
"हो गया निहत अब रुद्रपीड़ रण में।
किन्तु पुष्ट दुष्ट वृत्र जीवित है अब भी,
स्वर्ग से बहिष्कृत किया है हमें जिसने।
आज वही आ रहा है सजके समर में,
काढ़ें हम कैसे कहो, काँटा यह अपना?
प्राप्त है दधीचि-अस्थियों से बना वज्र तो,
यह है अमोघ, किन्तु शेष दिन ब्रह्मा का।"
कोष से निकाल दिखलाया वज्र उसने,
जल उठी धक-धक ज्वाला उस अस्त्र की।
देखके असह्य तेज सब घबरा गये,
कर लिया कोषगत फिर उसे वज्री ने।
खिल उठे अग्निदेव उनके शरीर से,
छूटीं सब ओर चिनगारियाँ पुलक की!
करके उपेक्षा निज कण्ठ-व्रण-कष्ट की
बोले वे—"सुरेन्द्र, अविलम्ब अब वज्र से
वृत्र का विनाश करो, मेरा यही मत है।
कौन कहता है, भाग्य अमिट अखण्ड है?
सब कुछ सम्भव है साधन-सुयोग से।
यदि व्रण-वेदना न होती मुझे इतनी,
लेकर अभी मैं इसे वैरी को विदारता।"
शान्त किया समझा-बुझाके उसे इन्द्र ने,
गूँज उठा भास्कर का तीव्र स्वर तब यों—
"यदि असमंजस है आखण्डल, तुमको,
तो तुम मुझे दो वज्र, मारूँ मैं उसे अभी।
तुम क्षत-हीन, हम विक्षत हुए सभी;
इन्द्र! हमीं जानते हैं बाधा-व्यथा अपनी।"

"हा धिक! दिवाकर," कहा तब वरुण ने
"कौन भाषा बोलते हो तुम यह किससे?
ये हैं देवराज, हम सबके हितार्थ जो

सब कुछ त्याग, महा तप तपते रहे।
अन्त में भिखारी बने अपने लिए ही क्या
ग्लानि और शोक सह जाके मृत्युलोक में?
दीखता नहीं क्या कुछ आज तुम्हें दुःख से!
सूर, कहो क्या तुम अकेले क्षतच्छिन्न हो,
एक तुम्हीं जूझे क्या विजेता रुद्रपीड़ से?
उत्तर दूँ यदि मैं तुम्हें तुम्हारी भाषा में
तो—परन्तु इससे भला है मौन हो जाऊँ।''
ठंठा किया इन्द्र ने उसे, कहा दिनेश से—
''वैरिनाश करने में यदि असमर्थ मैं,
वा वृथा विलम्ब करता हूँ वृत्र-वध में,
अक्षत भी दुःखित नहीं हूँ यदि तुम-सा—
तो लो, यह वज्र रवे, मारो तुम्हीं वृत्र को।''

रख दिया रवि के समक्ष उसे इन्द्र ने,
किन्तु रवि उसको उठा तक नहीं सका।
बल जितना था, सब व्यर्थ हुआ उसका,
लज्जित हो एक ओर पीछे वह जा छिपा।
बोला सुधी शक्र उपहासकों से उसके—
''अच्छा नहीं होता गृह-कलह कभी कहीं,
मन को मिलाना ही जनों को हितकारी है।
विपदा में एकता ही सम्पदा है जीवों की।
अमरों से न्यून नर-जाति को ही देख लो,
जब तक भ्रातृ-भाव रहता नरों में है,
रहते सुखी हैं दुःख में भी तब तक वे।
विग्रह तो मृत्यु का ही दुष्ट ग्रह-योग है,
हम अमरों को वह मृत्यु से भी घोर है।
श्वापद ही आपस में लड़ते-झगड़ते।
हम यों प्रवाद के न भागी हों प्रमाद से।''

मौन होके मन में विचारने लगा बली,
पार पाया जाय, क्या उपाय कर शत्रु से।
बोले स्कन्द—''युद्ध-विधि तो है यह—व्यूह में
रहके सतर्क रक्षा की जावे स्वपक्ष की।''

इतने में भीम महाशून्य को विदार के
आया महाकाल वहाँ पारिषद शूली का।
इन्द्र ने कुशल पूछी शिव की, शिवानी की,
शिव-गिरिवासियों की, आदर दे उसको।
तब शिव-दूत, शिव-द्वार-नन्दी आनन्दी,
पीनस्कन्ध, इन्द्र को प्रणाम कर बोला यों—
"देवराज, भेजा है मुझे यहाँ भवानी ने,
देखा नहीं जाता था शची का दुःख उनसे।
किन्तु तुम हर्षित हो, भाग्य फूटा वृत्र का,
वासव, तुरन्त अब अन्त करो उसका।
सफल दधीचि-बलिदान हो महाबली!
होकर कुपित ऐन्द्रिला के अविचार से
आप महादेव ने विधान किया इसका।"

लौट गया दूत धूमकेतु के-से वेग से
व्योम में उजेला कर। वृन्दारक वृन्द में
छाया महानन्द, हर्ष-कोलाहल हो उठा।

फैल गया यह सुसमाचार सब लोकों में—
'वृत्र का विनाश होगा वासव के वज्र से।'
दौड़ पड़े व्योम में विमान सब ओर से,
विद्याधर, सिद्ध आये, अप्सराएँ आ गयीं,
आये यक्ष किन्नर महर्षि अमरर्षि भी।
आये यति पितर, पवित्र गति जिनकी,
उमड़े अशेष भुवनों के पुण्य प्राणी जो।
देखने लगे सब समुत्सुक हो शून्य में,
वह रण देखने को द्वार खुले विश्व के।

चन्द्र सूर्य लोकों में प्रकाश-वृद्धि करके,
तोरण-गवाक्ष खुले नाना धातु-रत्नों के।
उन पर प्राणियों की भारी भीड़ छा गयी,
भर गया शून्य जनजीवन प्रवाह से।
पद्मा सह आप पद्मनाभ पट खोलके
दृश्य वह देखने लगे वैकुण्ठ धाम से।

ब्रह्मा और शंकर के लोकवासी भी सभी।
फैल गयी अतुल सुगन्धि सारी सृष्टि में,
मोहित हो क्षण भर भूले सभी सबको।

व्यूह-परिवेक्षण में मध्य में आ इन्द्र ने
देखा मूर्च्छितों को और आहतों को पहले।
एकादश रुद्र, यक्षराज, आश्विनेयों को
सान्त्वना दी। वासव ने देखा फिर दल को
और कहा मातलि से निज रथ लाने को।
होने लगा कोलाहल नाद दल-सिन्धु का।

आया एकचक्र रथ अद्‌भुत अरुण का,
सात स्वर्ण कुम्भ सजे चूड़ा पर जिसकी।
सात सित अश्व दुग्ध-फेन-से हैं जिसके,
जो ब्रह्माण्ड पार कर जाय एक पल में।
उड़कर वैनतेय बैठा निज रथ में,
ज्वालामय रक्त वर्ण रथ है अनल का,
अश्व भी हैं लाल मानो जलते अंगारों के,
वे धुवाँ-सा छोड़ते हैं नासिका के रन्ध्रों से।
अन्धकर-मूर्ति रथ काला है कृतान्त का,
शंख से रचित शतचक्र रथ पाशी का।
स्कन्द का विमान शतचूड़ शिखिध्वज जो
शत-शत सोमोदय करता है व्योम में।
वायु का कुरंग-रथ कब कहाँ रुकता।
वाहन विचित्र बने अन्य अमरों के भी।

दोनों हाथ जोड़ कहा मातलि ने इन्द्र से—
"पुष्पक तो रुद्रपीड़-हेतु भेजा प्रभु ने,
आज्ञा मिले, अन्य किस वाहन को लाऊँ मैं।"
"अश्वराज उच्चैःश्रवा" सोच कहा शक्र ने,
मातलि ले आया शीघ्र सजकर उसको।
इन्द्र को निहार हेषानाद कर हय ने,
केसर उछाल ग्रीवा-भंग किया गर्व से,
कान खड़े करके सहर्ष ली फुरहरी,

ले-लेकर छोड़-छोड़ साँस वह सुख की,
खोदने खुरों से लगा भूतल-मनःशिला।
शुभ्र शरदभ्रनिभ सान्द्र तनु उसका,
रत्न एक क्षीर सिन्धु से है वह निकला,
कण्ठ में बँधी है रश्मि बिजली की कण्ठी-सी!

इन्द्र थपकी दे उसे ज्यों ही चला चढ़ने,
आकर सुमेरु से सुपुष्पयान उतरा।
चपला प्रणत हुई उससे उतरके,
"सकुशल देवराज्ञी" कहकर उसने
थोड़े में बताईं अन्य घटनाएँ, जो घटीं।
सुन परितुष्ट हुआ इन्द्र और उसने
पूछे कितने ही समाचार स्वयं उससे।
कहने लगा फिर असीस देके उसको—
"रंगिणि, शची की चिर सहचरि चपले,
कहना शची से, सुख-स्वर्ग-राज्य उनका,
शीघ्र उन्हें अर्पण करूँगा अरि मारके।"

यह कह देखा चपला की ओर उसने,
देखीं उस रंगिणी की आँखें लगी वज्र-से,
देखते ही उसको सलज्ज नत हो गयीं।
लाल हुए गाल, उर काँपता है उसका।
देखा फिर वासव ने दृष्टि फेर, वज्र भी
त्याग कर घोर रूप, विधि, हरि, हर का
तेज धरे रम्य सौम्य मूर्तिमय हो गया,
देखता है चपला की ओर चल दृष्टि से।

हँसकर मातलि को आज्ञा दी सुरेन्द्र ने
पुष्प-माला लाने की, सहर्ष कहा—" चपले!
आज मिलाऊँगा यहाँ मैं लावण्य वज्र में।
सबके समक्ष, होगा उत्सव विवाह का
पीछे।" द्रुत मातलि प्रसून-माला ले आया,
लेके वह इन्द्र ने दी चपला के हाथ में,
वर हुआ वज्र, बधू चपला स्वयंवरा।

वृत्र-वध दिन में अमर समर-भूमि में।''
बज उठी युद्ध भेरी, शंखध्वनि हो उठी,
भर गया हर्षोल्लास शब्द सारे नभ में।
पुष्पवृष्टि होने लगी, कोलाहल छा गया।

नत हो निदेश पाके ज्यों ही चपला गयी,
आयी वही उग्रता भयंकरता वज्र में।

(सुन सब समाचार खिल उठी इन्द्राणी,)
देकर बधाई हँस बोली वह आली से–
''दीठ लगी तेरी उसे किंवा तुझे उसकी?''
हँस गयी चपला भी चौंकके चमकके–
(''लग सकती है दीठ किसकी कुलिश को,
उसकी जिसे न लगे! साक्षी वने वैरी ही।'')

वृत्र के ही योग्य महाव्यूह बना वृत्र का,
फैला उदयास्त लेके जो आधे दिगन्त में।
पिंगल त्रिकूट माल्यवानादिक शैलों को
छाकर, अनन्त जल और थल घेर के
बाँटा उसे एकादश मण्डलों में उसने।
रथ गज अश्व और सैनिकों से सजके,
संघटन दैत्यवाहिनी का, पक्षिराज ज्यों
बैठा हो नगेन्द्र पर पुष्ट पक्ष फैलाये!
मध्य में विशेष दल रक्खा निज उसने,
बैठा वह आप ऐरावत पर। उसके
चारों ओर सैनिक सुभट हैं चुने हुए,
पर्वत की पंक्ति मानो घेरे है नगेन्द्र को।

दोनों ही दलों में बजे बाजे तब युद्ध के,
योद्धा नाचने-से लगे सुन उन्हें मन से।
अद्रि ऐसी अब्धि की तरंगें एक संग ज्यों
हिलमिल भंग होतीं और फिर मिलतीं,
नायकों के इंगितों से दैत्य-चमू-पंक्तियाँ
जुड़ती हैं, टूटती हैं, टूट जुड़ती हैं त्यों।

दैत्य-ध्वजा उड़ती घटा-सी है गगन में,
अस्त्रों पर झकझक करती हैं किरनें।
उड़ रहीं रथ-कलशों पर पताकाएँ,
वर्म हैं भभकते विभा दिगन्त-व्यापिनी।

कटि कसे वृत्रासुर दीप्त सारसन से,
गण्डक का चर्म पट-बन्ध दोनों कन्धों से
डाले उपवीत सम, बाँध दृढ़ वक्ष को।
रवि की परिधि-सी विशाल, बायें हाथ में
ढाल लिये और शिवदत्त शूल दायें में,
बैठा स्वर्गगज पर-गिरि पर गिरि-सा।
आगे बढ़ा ऐरावत बोझ से चिंघाड़ क्या?
पीछे दैत्य-सेना चली माला-सी तरंगों की।

अम्बर को चीरता-सा फाड़ता-सा चक्रों से,
जिनमें इरम्मद का तेज है तमकता,
दौड़ा इन्द्रयान चकाचौंक-भरा कौंधा-सा!
दायें कभी, बायें कभी, ऊँचे कभी, नीचे भी,
करके विदीर्ण कुक्षि-कक्ष-वक्ष दैत्यों के।
प्रज्वलित हो रहे सहस्र नेत्र वज्री के,
बाण-वर्षा हो उठी ज्यों मूसलों की धारा हो,
शिंजिनी की भंगिमा क्या अद्‌भुत अपूर्व है!
ढँक लिया सबको शरों ने सब ओर से।
गिरते गजाश्व और पैदल असंख्य हैं–
झंझा में विटपि जैसे, और वज्रपात में
गिरते हैं शैल-शृंग। वैरि-व्यूह पल में
भेद धुन डाला शुनासीर ने स्वबल से।
पुष्परथ होकर प्रविष्ट दावानल-सा
जल सब ओर लगा वैरिदल दलने।
उथल-पुथल कर किंवा ज्यों जलधि को
वेला-संग भीम खेला करती तरंगें हैं।

दोनों अरिव्यूह-पार्श्व भंग किये इन्द्र ने,
रक्त के प्रवाह बहे, देख महादैत्य ने

दर्प ने बढ़ाया देवनाग आगे-आगे हो।
अम्बर में मेघदल-तुल्य वह गरजा—
"रे पाखण्ड आखण्डल, पहले न भिड़के
इन भुजदण्डों से, पदातियों के पीछे तू
भागा फिरता है, बच तस्कर-सा मुझसे।
धिक तू, अतुल्यों पर बल दिखलाता है,
आया ही यहाँ क्यों यदि डरता था मुझसे?
किन्तु आ गया तो मूढ़ देख मेरा बल भी।"
यों कह उठाया महाकाल शूल उसने।
उत्तर न देके वचनों से उसे इन्द्र ने
मारा एक बाण कर्णमूल में गजेन्द्र के।
भागा नाग चिल्लाकर अंकुश न मानके
पीड़ा-वश। वृत्र यह देख झट कूदके
आ मनःशिला पर सदर्प खड़ा हो गया
शूल लिये। इन्द्र पर छोड़े उसे जैसे ही,
दीख पड़ा वैसे ही जयन्त-केतु उसको।
इन्द्रसुत देख सुध आयी निज पुत्र की,
जल उठा उसका हृदय शोकानल से।
याद आयी ऐन्द्रिला से की हुई प्रतिज्ञा की,
उसने हुंकार छोड़ी उग्रतम उल्का-सी।
"इन्द्र, रुक एक पल, आ रहा हूँ" कहके
दौड़ा वह पागल-सा देव-दल दलता;
खोजे वन गोड़ व्याध जैसे छिपे बाघ को,
किंवा श्येन देखे दूर पारावत उड़ता
और झट झपटे, दनुज दौड़ा वैसे ही।

इन्द्र से इधर मुख्य-मुख्य दैत्यवीरों ने
ठान दिया भीम युद्ध। प्रखरखुरादि ने
निज दल बादल ले घेर लिया उसको।
तब पशुराज कूद-कूद ज्यों किरातों में
है उन्हें झटकता पटकता पछाड़ता,
करने लगा त्यों इन्द्र एक रण-क्रीड़ा-सी।
व्याघ्र नख-दन्त बने बाणादिक उसके।
उत्तर में, दक्षिण में, पश्चिम में, पूर्व में

एक रथ चार-सा दिखाई पड़ा उसका!
कौंधा सब ओर वह एक तडिद्दाम-सा।
जूझते हैं प्रबल पराक्रम से दैत्य भी
मारते कराल करवाल भिन्दिपाल हैं।
किन्तु मारे कोटि दैत्य इन्द्र ने तनिक में,
काटके सशस्त्र भुजदण्ड-मुण्ड उनके।

टूट पड़ीं क्रोध से हो अन्धी दैत्य सेनाएँ
आयुधों के साथ लेके वृक्ष गिरि-शृंग भी।
पुष्पक को छा लिया उन्होंने अतिवेग से,
ऊँचा उठ देवयान घन सम घहरा।

उगले असंख्य शर मानो इन्द्र-चाप ने,
छा गयी अँधेरी सब ओर सुरपुर में।
खरखुर पिंगलादि दैत्य हत हो गये।
और भी बहुत सेनानायक मरे-खपे।
फेंक फेंक आयुध दनुज भागे अन्त में,
भागते हैं जैसे मृग भय से मृगेन्द्र के।

इधर जयन्त पर टूटा वृत्र आँधी के
वेग से। कुमारादिक उसके बचाने को
दौड़े मुख्य देवबली निज निज यानों में।
देख उन्हें दूर दैत्यराज खड़ा हो गया।
आगे बढ़ भीम यम बोला—"सुर रथियो,
जूझे तुम बहुत, रुको टुक, विराम लो।
भेटूँ आज मैं ही इस उद्धत अमित्र से।"
वृत्र से भी बोला वह—"आ, दो हाथ हो जावें।"
सुनकर—"हूँ-हूँ" कर दैत्यपति गरजा—
"यम, यदि लड़ना है, आयुध सँभाल तू,
देख, रखता हूँ मैं त्रिशूल यह अपना।
लूँगा नहीं आप इसे मैं इस समर में,
इन्द्रपुत्र किंवा इन्द्र के लिए ही रक्खूँगा।"
गाड़ दिया दारुण त्रिशूल दैत्यराज ने
पार्श्व में, मनःशिला के तल पर तनके

और अति घोर गदा ले ली निज कर में।
उसने घुमाया उसे और दण्डधर ने
साथ ही उठाया विकराल दण्ड अपना।
दोनों ने प्रहार किया मानो दो गयन्दों ने
चण्ड शुण्डाघात किया आपस में जूझके।

दण्ड तो उचट गया किन्तु गदा वृत्र की
जाकर गिरी जो यमस्कन्ध पर गाज-सी,
बैठा यम, मानो पेड़ चड़मड़ करके!
जान पड़ा, टूट गयी आज कटि उसकी।
खींच झट वृत्र ने त्रिशूल फिर ले लिया।
लक्ष्य किया उसने जयन्त की पताका को
भाग उठे देवगण देख उस अस्त्र को।

देख यह दृश्य दूर, पुष्पक विमान में
आया झट इन्द्र पीछे करके जयन्त को।
आगे पथ रोक रुका एक क्षण के लिए,
छोड़ फिर पुष्पक उछल वायु वेग से
उच्चैःश्रवा अश्व पर बैठा वह विक्रमी।

फूट रही नील तनुकान्ति तनुच्छद से,
मानो नभ झलक रहा है शुभ्र अभ्र में!
स्फटिक-छटा जयी कवच है चमकता,
शीस पर सिरस्त्राण, सार से भी दृढ़ है।
किरनें किरीटाकार घेरे घने केश हैं,
मानो स्वर्ण मेघमाला सिर पर छाई है।
उज्ज्वल सहस्र नेत्र हो रहे अरुण हैं,
शून्य में उठाये वह कुलिश हिला रहा।

ऊँचा उड़ा उच्चैःश्रवा ज्यों नक्षत्र शून्य में,
दानव भी ऊँचा उठा सम्मुख, सुमेरु से,
सचल नगेन्द्र मानो! वक्ष समसूत्र में
फैलाकर पक्ष अश्वराज थिर थहरा,
घहरा घनों-सा वज्र वासव के कर में।

"दम्भी देव!" गरजा दनुजपति दर्प से—
"सोचता है क्या तू, बचा लेगा निज पुत्र को—
मेरे इस शूल से तो, बाप-बेटे दोनों ही
आकर प्रहार एक झेलो तुम, देखूँ मैं।"

यह कह तत्क्षण त्रिशूल छोड़ा उसने,
छूटा वह भीममूर्ति व्योमभेदी वेग से,
जल उठा कालानल उससे निकलके।
किन्तु अहा! जानता है कौन गति विधि की,
निकला विशाल एक हाथ शिवशैल से,
बीच में ही शूल धर अन्तर्धान हो गया!

देखकर कातर हो बोला दैत्यपति—"हा!
वामदेव! दक्षिण रहे न मेरे तुम भी!"

होके हताश्वास दग्ध भीमनाद करके
दौड़ा वह पागल-सा, छिन्नशीर्ष राहु-सा।
घूमे अग्नि-चक्र ऐसे तीनों नेत्र उसके,
कट-कट दाँत हुए, दर्प से झपटके
दौड़ धरा उसने कुलिश दीर्घ कर से।
धक-धक आग छूटी उससे भभकके।
दहन सह न सका छोड़ वह वज्र को
दूर हटा, घूर एक बार उसे रोष से
उछल-उछल ग्रह-तारे लगा तोड़ने।
इन्द्र और उच्चैःश्रवा दोनों पर उसने
प्रबल प्रहार किये। अन्त न हो सृष्टि का
काँपा विश्व, उजड़ा अपूर्व वन देवों का।
शून्य में सुवृक्ष उड़े, आयीं घोर आँधियाँ,
टूट-टूट आप ग्रह-तारे गिरने लगे।
उमड़े समुद्र, भूमिखण्ड उड़े कितने
चूर्ण-चूर्ण होके। वह कम्प, वह चिल्लाना
देख सकता है कौन, कौन सुन सकता।
आँख-कान मूँद-मूँद प्राणी लगे भागने,
चन्द्र सूर्य शून्य ग्रह नक्षत्रादि छोड़के।

उस अति दारुण प्रलय के प्रकोप में
विधि हरि शम्भु-धाम थिर रहे तीन ही।
किन्तु नन्दी आदि द्वारी डर गये तीनों के,
तीनों भुवनों के साथ तीनों ही ठिकानों से
शब्द हुए—"इन्द्र, वृत्र-वध करो वज्र से,
अन्यथा युगान्त होगा।" उस कुसमय में
इन्द्र हतचेत-सा था चौंक उस नाद से,
छोड़ा उसने यों वज्र, मानो बिना जाने ही!

छूटकर शून्य में ज्वलन्त वज्र गरजा,
दौड़े उनचास वायु संग उसे योग दे।
पुष्करआवर्त्तकादि घन भी घहरते,
चंचला खिलाते चले उजल सुमेरु को।
घूमे दिशा-मण्डल भी संग घोर रंग से,
घूम-घूम वज्र चला अम्बर में उठता,
जाके वह वृत्र पर टूटा आप निज-सा!
और गिरा दैत्य लम्बे-चौड़े विन्ध्य गिरि-सा।

रुद्ध-सा समीर मुक्त होके बहा विश्व में,
प्रलय समीर बहा श्वासों में असुर के।
"हाय! रुद्रपीड़, हाय वत्स!" कह अन्त में
मूँद लिये दोनों दृग दुर्जय दनुज ने!
वृत्र-वध पूर्ण हुआ, वृत्र-वामा ऐन्द्रिला
दो चिर चिताएँ जलीं जिसके हृदय में,
पागल-सी भ्रमने लगी अब जहाँ-तहाँ!

रुबाइयात उमर ख़य्याम

श्रीराम

अनुवादक का आवेदन

आज अपने सहृदय विचाराधीशों के सम्मुख मैं अपराधी के रूप में उपस्थित होता हूँ। और, बिना किसी किन्तु परन्तु के उनसे क्षमा प्रार्थना करता हूँ। यदि वे क्षमा कर सके तो ठीक, नहीं तो जैसा मैंने किया है उसका वैसा फल भोगने के लिए भी मैं प्रस्तुत हूँ।

मुझसे एक धृष्टता हो गयी है। जिस बात को न तो मूल में और न उस मूल के भी मूल में स्वयं समझ सकूँ उसे ही दूसरों को सुनाने बैठ जाऊँ, इससे बढ़कर और क्या धृष्टता हो सकती है? निस्सन्देह साहित्य-संसार में यह एक अभूतपूर्व घटना है!

परन्तु इस भव में सभी कुछ सम्भव है।

कहाँ तो फिट्जेराल्ड का वह अँगरेजी अनुवाद, जिसने अपने उस फारसी मूल को भी मूल्यवान् बना दिया है, और कहाँ उसी का यह हिन्दी पद्यानुवाद, जिसका कर्त्ता मूल को पढ़ भी नहीं सकता।

तथापि, इस ओर मुझे मेरा दुर्भाग्य खींच लाया है अथवा सौभाग्य, इसका निर्णय अब भी अवशिष्ट है।

आठ नौ बरस की बात है। मेरे एक बन्धु मेरे अतिथि हुए थे। कुछ दिन रहकर जब वे जाने लगे तब मेरी इच्छा हुई कि कुछ दिन और ठहर जायँ। मेरा अनुरोध तो उन्होंने स्वीकार कर लिया परन्तु सहसा एक यह बन्धन लगा दिया कि मैं उमर ख़य्याम की रुबाइयों का हिन्दी में पद्यानुवाद कर दूँ। वे जानते थे कि मैं मूल नहीं पढ़ सकता। मैंने विस्मय-पूर्वक कातर होकर निराशभाव से उनकी ओर देखा। उन्होंने भर्त्सना की हँसी हँसकर कहा–'मैं तुम्हें मूल का अर्थ समझा दूँगा, उससे तुम्हारा काम चल जायगा।'

मैंने बहुत चाहा कि वे मेरे द्वारा अर्थ का अनर्थ न होने दें। किन्तु सम्पन्न और स्वायत्त कुल में उत्पन्न होने और लाड़ प्यार से पलने के प्रसाद-स्वरूप अपना हठ उन्होंने न छोड़ा,–न छोड़ा।

मैं अर्थी था, और अर्थी को निर्वाचन का अधिकार नहीं। फलतः जो मैं चाहता

था वह न हुआ और जो नहीं चाहता था वही झख मारकर मुझे करना पड़ा। जैसे-तैसे इधर-उधर के दस-पाँच पद्य लिखकर मैंने उन्हें दे दिये और अतिथि देव सन्तुष्ट होकर चले गये।

कुछ समय बीतने पर जब मैं उनके यहाँ गया और कुछ दिन रहकर आने लगा तब उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा—'ख़य्याम का काम पूरा कर दो और चले जाओ।'

वाह, यह तो वही बात हुई कि, जब मैं तुम्हारे यहाँ आऊँगा तब मुझे क्या क्या खिलाओगे और जब तुम मेरे यहाँ आओगे तब क्या क्या लाओगे?

हाय फिर भी मेरी ही रही।

अपनी इस खीझ का बदला लेने के लिए मैं और कुछ नहीं कर सकता तो उनका नाम ही प्रकट किये देता हूँ। वे हैं हिन्दी जगत् के सुपरिचित कला-कोविद राय कृष्णदासजी। आशा है, मेरे आलोचक गण उन्हें भी अपने प्रसाद से वंचित न रक्खेंगे।

असल में मेरे मित्र पर इस अंगूरी का गहरा रंग चढ़ा था!

इतना ही नहीं, प्रसिद्ध राष्ट्रीय साप्ताहिक 'प्रताप' के 'अपरधुर्यपदालम्बी' प्रिय शिवनारायणजी मिश्र ने 'भिषग्रत्न' होकर भी मेरे बन्धु के हठ-जनित मस्तिष्क का उपचार न कर उसे इस कार्य के लिए उलटा उत्तेजित कर दिया। बड़े उत्साह से चित्रों के ब्लाक बनवाये और अपने आग्रह के प्रलेप से मेरे असक्त मस्तक को एक ही दिऩ में उमर ख़य्याम का अनुवाद करने में सक्षम बनाने के लिए उतारू हो गये! उनकी आतुरता यहाँ तक बढ़ी कि बीच ही में उन्होंने मेरे अनूदित पद्यों के साथ दो एक चित्र भी अपनी स्मरणीय 'प्रभा' प्रभा में प्रकाशित करा दिये! उन पद्यों पर मेरे कृपालु निरीक्षकों की दृष्टि का पड़ना भी स्वाभाविक ही था। उनमें से एक महाशय ऐसे भी थे जो एक बार इस काम के लिए स्वयं माथापच्ची कर चुके थे। परन्तु अन्त में अनुवादक के तुच्छ पद की अपेक्षा स्वयंभू समालोचक बने रहने में ही उन्होंने अपना गौरव समझा था।

जो हो, मुझे अपने बन्धुओं का अनुरोध रखते ही बना। सम्भवतः उन्हें अपने ऊपर इतना दृढ़ विश्वास था कि वे मुझ जैसे अनुपयुक्त जन से भी यह कार्य करा ले जायँगे। भगवान् उनके आत्म-विश्वास को सफल करें, इसके अतिरिक्त मैं और क्या कह सकता हूँ?

मुझे मित्रों का वह निर्दय विनोद अब सदय आमोद-सा प्रतीत होता है, हठपूर्वक ही सही, उन्होंने मुझे भी पिला ही दी और उसके अंगूर मेरे लिए भी अब वैसे खट्टे नहीं रह गये। कुछ तो बहुत ही मधुर जान पड़े!

छिद्रान्वेषियों की कटु-तीक्ष्ण 'चाट' तो अपनी ही चीज ठहरी, उसकी क्या

चिन्ता, परन्तु इस उन्माद में मुझे सँभालने का भार स्वीकार करने की कृपा मेरे उदार समालोचकों को ही करनी पड़ेगी। मैं उन्हें विश्वास दिलाता हूँ कि चेताये जाने पर मैं अपना प्रमादस्खलन ठीक करने की यथासाध्य अवश्य चेष्टा करूँगा—

होंगे निन्दक तथा प्रशंसक तो बहुतेरे,
जुग जुग जीते रहें समालोचक जन मेरे।

इस बीच में हिन्दी में भी उमर ख़य्याम की रुबाइयों की कुछ कुछ चर्चा होने लगी है। दो एक सज्जन मूल फारसी और मूल से भी अधिक प्रसिद्ध अँगरेजी अनुवाद से उनका अनुवाद कर रहे हैं—और बड़े आकार प्रकार में। मेरे ये थोड़े से पृष्ठ तब तक उनकी वाणी-रानी के स्वागत के लिए पाँवड़े के रूप में समझे जायँ।

आशा है, इस सम्बन्ध में अब मुझसे और कुछ कहलाने की कठोरता कोई न करेगा।

अनुवाद के विषय में मुझे इतना ही कहना है कि मैंने कहीं-कहीं दो एक वाक्य अपनी ओर से बढ़ाये हैं। ऐसा करने में इस बात का पूरा ध्यान रक्खा है कि वे मूल के अर्थ का ह्रास न करके विकास ही करें।

एक आध बात मैंने कुछ भिन्न प्रकार से भी कही है।

यदि फिट्जेराल्ड अपने अनुवाद में मूल की काट छाँट कर सकता है तो दो एक स्थान पर वैसा करने का मैं भी अपना अधिकार कैसे छोड़ सकता हूँ। परीक्षक ही मेरे औचित्य अथवा अनौचित्य के प्रमाण हैं।

जब मित्रों ने इस पुस्तक को प्रकाशित करने का निश्चय कर लिया तब उनके साथ बैठकर मैंने इसे एक दो बार फिर पढ़कर इसमें कुछ संशोधन किये हैं। दो चार पद्य बदल भी दिये हैं। ऐसे दो पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जो पीछे से बदल दिये गये।

मधुशाला द्वारस्थित जन यों बोल उठे कुक्कुट के साथ—
'तो अब द्वार खोल दो झटपट, होने दो हाँ हमें सनाथ।
कितनी थोड़ी देर यहाँ पर हमको रहना है सोचो,
एक बार जाकर फिर आना, बोलो यह है किसके हाथ।'

—तीसरा पद्य।

देखो पाटल क्या कहता है यह आँखों में धँस धँस कर,
'खिल जाता हूँ मैं धरती पर काँटों में भी फँस फँस कर।
और खोल कौशेय कोश निज एक बार ही उसमें की,
सारी ऋद्धि लुटा जाता हूँ इस उपवन में हँस हँसकर।'

—तेरहवाँ पद्य।

54वें पद्य का जो अनुवाद पहले किया गया था वह मूल फारसी के अनुसार इस प्रकार था–

प्रथम पलाने थे जब उसने तपन-तुरंग गगनचारी,
और नियत ग्रह नक्षत्रों की कर दी थी गति-विधि सारी।
हुआ भाग्य निर्णय मेरा भी तभी-तभी, तो बतलाओ,
हुआ पापकारी कैसे मैं, हूँ बस भाग्य-भाग-धारी।

मेरी तो इच्छा थी कि आकाश के ग्रह नक्षत्रों के साथ साथ पृथ्वी की रचना का संकेत करते हुए, घोड़ों को हाथी बना दूँ–

'सुनो, दिग्गजों पर रक्खी थी जिस दिन उसने अंबारी।'

परन्तु ऐसा करने में निरंकुशता लेनी पड़ती। उसे मैं कवियों के लिए ही छोड़ता हूँ। मेरे लिए तो कृपालु जनों की कलम-कशा ही पर्याप्त है।

अन्त में खेद यही है, जिस सन्तोष के साथ फिट्‌जेराल्ड ने अपना अनुवाद समाप्त किया होगा वह मेरे भाग्य में नहीं। फिर भी, मेरे न्यायाधीश मुझे क्षमा करें या न करें, मूल ग्रन्थकार की आत्मा के निकट मैं निराश नहीं–

इसे जानता होगा तू क्या ओ आमोदी, उपभोगी,
तेरे इन मधुमय गीतों की एक समय यह गति होगी?
हे दैवज्ञ, तदपि निश्चय ही चिर निश्चिन्त रहेगा तू,
तेरे ही मत से सब बातें होती हैं विधि-संयोगी।

श्रावणी, 1986

मैथिलीशरण गुप्त

उमर ख़य्याम और उनकी कविता

(1)

फारसी साहित्य की सूफियाना कविता में मौलाना रूम और हाफिज के बाद उमर ख़य्याम का ही नाम लिया जाता है। कुछ लोगों की सम्मति में तो वह फारसी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि आज से कुछ वर्ष पहले उमर ख़य्याम का नाम भी किसी ने नहीं सुना था, यहाँ तक कि फारस निवासी भी अपने देश के इस प्रतिभाशाली और विद्वान कवि से परिचित न थे।

उमर ख़य्याम और उनकी रुबाइयों से हमारा जो कुछ परिचय है वह विख्यात अँग्रेजी कवि फिट्ज़ेराल्ड कृत सुन्दर और सुललित अँग्रेजी अनुवाद द्वारा। फिट्ज़ेराल्ड ने उमर ख़य्याम को अमर बना दिया है। साथ ही पठित समाज में जब तक उमर ख़य्याम का नाम जीवित है तब तक फिट्ज़ेराल्ड भी विश्व साहित्य के इतिहास में अमर रहेंगे। साहित्य जगत् में फिट्ज़ेराल्ड का अनुवाद इतना सुपरिचित और समादृत है कि यदि कोई वास्तविक उमर ख़य्याम की सत्ता पर अविश्वास प्रकट करके इस नाम को बनावटी और कवि कल्पना कह उठे तो वह क्षम्य होगा! इस सम्भावना को एक दफे सत्य का आधार मिल गया। फारस के शाह इंगलैण्ड की सैर करने गये। वहाँ उमर ख़य्याम-क्लब के सदस्यों ने उन्हें अपने यहाँ आमन्त्रित किया। शाह ने निमन्त्रण स्वीकार करने के पूर्व आश्चर्य से मुँह बनाकर पूछा—"मगर यह उमर ख़य्याम था कौन?" अपने देश में चाहे कवि और पण्डित की पूजा न हो, परन्तु बाहर के लोग किसी न किसी प्रकार उससे परिचित हो जाते हैं। आक्सफर्ड की बोडलियन लाइब्रेरी में और अन्यत्र कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित हैं जो शाह के उक्त प्रश्न को उपहासास्पद सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

(2)

उमर ख़य्याम का जन्म खुरासान प्रदेश के अन्तर्गत नैशापुर नामक नगर में हुआ था। उनकी जन्म-तिथि आज तक निर्णीत नहीं हुई। कुछ विद्वानों की राय में उनका

जन्म सन् 1040 ई. के आसपास हुआ। कुछ की सम्मति है कि वे सन् 1050 और 1060 के बीच में हुए। उनकी मृत्यु 1123 में हुई। कवि का पूरा नाम था गयासुद्दीन अबुलफतह उमर बिन इब्राहीम अल ख़य्याम। ख़य्याम कवि का तखल्लुस अथवा उपनाम है। इस शब्द का अर्थ 'खेमा बनाने वाला' है। इससे प्रकट होता है कि उमर ख़य्याम के पूर्व-पुरुष खेमा बनाने का काम करते थे। स्वयं उमर ख़य्याम ने यह काम किया या नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अनेक फारसी कवियों ने अपनी जीवन वृत्तियों से अपने उपनाम ग्रहण किये हैं। जैसे अत्तार, इत्र बेचने वाला; अस्सार तैल बेचने वाला; इत्यादि। स्वयं उमर ने जिन रहस्यमयी पंक्तियों में अपने इस नाम का उल्लेख किया है उनका अँग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है–

> "ख़य्याम, हू स्टिचूड द टेन्ट्स आफ साएन्स,
> हैज फालन इन द ग्रीफ्स फर्नेस एन्ड बीन सडनली बर्न्ड;
> द शियर्स आफ फेट हैव कट द टेन्ट रोप्स आफ हिज लाइफ,
> एन्ड द बोकर आफ होप हैज सोल्ड हिम फॉर नथिंग।"

उमर ख़य्याम ने इतिहास के उस युग में जन्म ग्रहण किया था जब यूरोप के लोग निरे जंगली थे, जब वहाँ के ज्ञान-क्षितिज पर अज्ञान का अँधेरा छाया था, जब स्काटलैण्ड में मैलकम कैमोर का दबदबा था, जब इंगलैण्ड में सैक्सन राजाओं का आधिपत्य था और जब सरदार अत्याचारी थे तथा प्रजा गुलाम। उस समय यूरोप में न तो छापे की कलें थीं, न बेकन था, न चोसर था और न शेक्सपियर था; था केवल अन्धकार, अज्ञान और अविश्वास का राज्य। इसके विपरीत उस समय पूर्व में ज्योति थी, जीवन था, ज्ञान था, और साहित्य था। अरब और फारस के साहित्य-गगन में उमर अपने समय का एक मात्र ज्योतिष्क नहीं था। समय के विशाल और मुखरित अलिन्द में हमें अब भी सादी, हाफिज, मौलाना रूम और फिरदौसी आदि नामों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ रही है।

नैशापुर की प्राचीन नगरी, उमर की जन्मभूमि, काफिले के उस प्राचीन मार्ग पर स्थित है जो भारतवर्ष से फारस को जाता है। वर्तमान समय में यह भग्नावशेषों से घिरा हुआ एक छोटा-सा गाँव है। नगर के प्राचीन गौरव की स्मृति दिलाने के लिए दो-चार मसजिदें, एक निस्तब्ध निर्जन बाजार मात्र शेष रहा है।

उमर के समय में 800 वर्ष पहले नैशापुर वैभव की चरम सीमा पर स्थित था। इसकी जनसंख्या 3,00,000 से अधिक थी इसका नाम सूर्य के आसन–The Stead of the Sun–का द्योतक है। यह फारस की तत्कालीन संस्कृति का केन्द्र था। फारसी कवियों ने इसे वसुन्धरा के कण्ठहार के मध्यमणि की उपमा दी है। एक कवि ने इसके सम्बन्ध में कहा है–"यदि पृथिवी पर कहीं स्वर्ग है तो वह नैशापुर है और यदि नहीं है तो और कहीं उसका अस्तित्व नहीं है।"

कहते हैं कि वैभव और समृद्धि के उस अतीत युग में नैशापुर में आठ बड़े-बड़े विश्वविद्यालय, अनेक मसजिदें, और तेरह पुस्तकालय थे, जिनमें से एक में 5000 हस्तलिखित पुस्तकें संगृहीत थीं। निस्सन्देह उस जमाने में जब कि मुद्रण-कला का आविष्कार नहीं हुआ था और सस्ते तथा सुलभ संस्करणों का कोई नाम न जानता था यह संग्रह एक बहुमूल्य और स्पृहणीय वस्तु रहा होगा।

संक्षेप में ऐसी थी नैशापुर की तत्कालीन अवस्था जिसमें हमारे कवि ने जन्म ग्रहण किया। हमारी समझ में उसकी प्रतिभा के विकास के लिए इससे अधिक उत्तम और अनुकूल परिस्थिति की कल्पना करना कठिन है। उमर ख़य्याम का बाल्य-जीवन कैसे व्यतीत हुआ, इसका निश्चित रूप से पता नहीं। उन्होंने उच्च श्रेणी की शिक्षा पाई थी यह निर्विवाद है। वे अपने समय के विज्ञान, दर्शन शास्त्र और गणित में पारंगत थे। उनकी स्मरणशक्ति बड़ी विलक्षण थी। एक बार उन्होंने इस्फहान में एक किताब पढ़ी और नैशापुर में आकर उसे ज्यों का त्यों लिख डाला। उनके विद्यार्थी-जीवन की एक घटना बहुत प्रसिद्ध है। विद्वानों को उसकी सत्यता पर सन्देह है। घटना इस प्रकार है :–

बाल्यावस्था में उमर ख़य्याम को खुरासान के प्रसिद्ध कवि और दार्शनिक इमाम मुअफ्फिक के निकट शिक्षा प्राप्त करने का सुयोग मिल गया। यहाँ उनके सहपाठी थे–अली इमाम तौसी और हसन बिन सब्बाह। तीनों में घनिष्ठ मैत्री थी। एक दिन इनमें इस प्रकार कौल करार हुआ–तीनों व्यक्तियों में से भविष्य में जो कोई उच्चपद पर पहुँचे वह अन्य दो सहपाठियों की सहायता करे।

कालान्तर में अली इमाम तौसी 'नजाम-उल्-मुल्क' की उपाधि से भूषित होकर फारस के राजमंत्री पद पर प्रतिष्ठित हुआ। यह समाचार पाकर उसके दोनों बाल्यबन्धु उससे मिलने आये। वजीर ने अपनी बात रक्खी। हसन बिन सब्बाह ने राज्य में कोई उच्च पद माँगा। वजीर के अनुरोध से सुल्तान ने उसकी इच्छा पूर्ण की। परन्तु क्रमिक पदोन्नति से सन्तुष्ट न होकर हसन ने अपने उपकारी के विरुद्ध एक घृणित षड्यन्त्र रचा और अन्त में भण्डाफोड़ होने पर वह लांछित और पदच्युत हुआ। बाद में इसी हसन ने कुख्यात 'गुप्त-घातक सम्प्रदाय' का संगठन किया जिसकी बदौलत वह फारस के इतिहास में भीषण नरहत्याकारी के नाम से प्रसिद्ध है। उसने मौका पाकर अपने बाल्यबन्धु और परम उपकारी निजाम-उल्-मुल्क की हत्या कर डाली! जरा उमर से इस नरपशु की तुलना कीजिए! उमर ने अपने सौभाग्य-ललित बन्धु से धन, सम्पद, सम्मान, पदवी, ऐश्वर्य कुछ भी नहीं माँगा। माँगा केवल भाग्यवान बन्धु की सदिच्छा और सौभाग्य की छाया तले किसी निर्जन और शान्तिमय कोने में बैठकर निश्चिन्त भाव से गम्भीर ज्ञानानुशीलन का अबाध सुयोग! वजीर को पहिले तो बड़ा आश्चर्य हुआ, परन्तु अन्त में उमर के हृदय का सच्चा परिचय पाकर उसने अपने मित्रों के लिए 9000 रुपये वार्षिक वृत्ति की व्यवस्था कर दी।

फारसी साहित्य के इतिहास लेखकों ने उमर के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे प्रकट होता है कि वह कवि की हैसियत से विशेष ख्याति न पा सके। फारसी साहित्य के इतिहास लेखक श्री ब्राउन का कहना है कि उस समय के लोग उमर को गणितवेत्ता, दार्शनिक और ज्योतिषी के रूप में ही अधिक जानते थे। राज दरबार में भी उमर को ज्योतिषी का ही सम्मान प्राप्त था। उन्होंने मार्भे में आकर सुल्तान मलिक शाह की आज्ञा से फारस के पंचांग का संस्कार किया था इसी समय से जलाली संवत् का प्रचार हुआ। उमर ख़य्याम ने 'जिजी मलिक शाही' के नाम से एक प्रसिद्ध ज्योतिष सिद्धान्त की गणना भी की थी एवं हाल ही में उनकी रची बीज गणित की एक पोथी का फ्रेंच अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त अंकगणित, जड़विज्ञान और जीवविज्ञान के सम्बन्ध में भी उनकी एकाध रचना देखने में आयी है। कवि की अपेक्षा वैज्ञानिक के रूप में ही वे अधिक प्रसिद्ध थे। उमर के जीवन में नियति का अन्याय बहुत ही स्पष्ट है। उनके देशवासियों ने उनकी कविता का तिरस्कार किया। उनकी रुबाइयों को 'सुरा और सुन्दरियों' के सम्बन्ध की निरर्थक रचना बताया। निस्सन्देह कवि के हृदय में भी कभी-कभी यह भाव कसक पहुँचाता था—

उन बेवफा बुतों ने, जिनको मैंने इतना प्यार किया,
सचमुच लोगों की आँखों में मुझे बहुत ही गिरा दिया।
हाय! एक उथले प्याले में मान डुबाया है मेरा,
एक गीत पर कीर्ति बेच दी; प्रेम किया वा बैर लिया॥

समय भी प्रतिशोध लेता है। उमर की अधिक गम्भीर रचनाएँ तो अवश्य विस्मृति के गर्भ में पड़ गयी हैं, परन्तु उनकी कोमल कान्त और संगीतमय रुबाइयाँ युग युग की वस्तु हो गयी हैं जो उनके सिर अमरत्व का सेहरा पहिना रही हैं। ठीक है, उन्हीं के शब्दों में—

सांसारिक लिप्साएँ जिन पर आशा करते हैं हम लोग,
मिट्टी में सब मिल जाती हैं पाकर सौ विघ्नों के रोग।
कहीं फूलती फलती भी हैं तो बस घड़ी दो घड़ी ही,
ज्यों मरु के धूसर मुख पर हो हिमकण की आभा का योग।

हमें कवि के जीवन के अन्तिम दिनों की एक झाँकी और मिलती है। उनका एक शिष्य, समरकन्द निवासी ख्वाजा निज़ामी लिखता है : ज्ञानियों के राजा उमर ख़य्याम की मृत्यु 517 हिजरी (सन् 1113 ई.) में नैशापुर में हुई। वे विज्ञान के अद्वितीय पण्डित थे, वे अपने समय के महामनीषी कहे जा सकते हैं। वह मेरे गुरु थे। मैं बहुत उद्यान में बैठकर उनके साथ ज्ञानचर्चा किया करता था। एक

दिन उन्होंने मुझसे कहा, "मेरी समाधि ऐसे स्थान में होगी जहाँ उत्तरी वायु उस पर पाटल-प्रसूनों की वर्षा किया करेगी।" मुझे उनकी बातों पर महान् आश्चर्य हुआ। मैं उन्हें निरी कवि-कल्पना समझकर हँसी में नहीं उड़ा सका। उनकी मृत्यु के अनेक वर्षों के उपरान्त मैं जब पुनः नैशापुर पहुँचा तब उनकी समाधि के दर्शन करने गया—जाकर देखता हूँ, एक उद्यान के निकट उनकी अन्तिम शय्या रची गयी है, और पुष्प भारावनत वृक्षसमूह मानो उद्यान की प्राचीर के ऊपर अपने शाखाबाहु फैलाकर कवि की समाधि के ऊपर पुष्प वर्षा कर रहे हैं। उन फूलों से समाधि की वेदी पूरी ढक गयी है! उमर का अन्तिम मनोभिलाष, जिसे उन्होंने निम्नलिखित रुबाई में प्रकट किया है—

हा, मेरे बुझते जीवन को द्राक्षा-रस से दीप्त करो,
और उसी से मृत शरीर को धोकर उसकी धूलि हरो।
द्राक्षा-दल का कफन बनाकर उसमें मुझे लपेटो फिर,
और किसी उद्यान पार्श्व में गर्त्त बनाकर गाड़ धरो।

इस प्रकार अक्षरशः सफल होते देखकर शिष्य का हृदय निस्सन्देह पुलकित हो उठा होगा!

(3)

यूरोप का कवि समाज उमर की कविता पर मुग्ध है। यूरोप की ऐसी कोई भाषा नहीं जिसमें उमर की रुबाइयों का एकाध अनुवाद न हुआ हो। उमर के प्रति यूरोपवासियों का इतना आकर्षण है कि उनकी कविता की चर्चा के लिए वहाँ अनेक उमर-क्लब स्थापित हो गये हैं। उमर के प्रेमियों ने उनकी अन्य रचनाओं की खोज करने के लिए आकाश पाताल एक कर डाला है। जिसका परिणाम यह हुआ कि आज तक उमर की प्रायः 1200 रुबाइयों का पता चला है। किन्तु विद्वानों का कहना है कि उमर की रचना 300 से अधिक नहीं। शेष सब क्षेपक हैं। प्रसिद्ध रूसी पण्डित शुकीभेस्की ने अपने 'रुबाइयाते उमर ख़य्याम' प्रबन्ध में उद्धृत करके बताया है कि उमर के नाम से प्रचलित प्रायः 82 रुबाइयाँ हाफिज, निजामी, जलालुद्दीन रुमी, इत्यादि प्रसिद्ध फारसी कवियों की रचना हैं। विलायत की बोडलियन लाइब्रेरी में जो हस्तलिखित पोथी संगृहीत है उसमें केवल 158 रुबाइयाँ हैं। यह पोथी अब तक की प्राप्त हुई सब पोथियों में प्राचीन है। इस पर सन् 1460 ई. की तिथि पड़ी है। 1898 ई. में एडवर्ड हैरन एलन ने मूल के फोटोग्राफ़ समेत इन रुबाइयों का गद्यानुवाद प्रकाशित किया था।

यह प्रतिलिपि प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के ढेर में प्रोफेसर कावेल के हाथ लगी थी। यह देखने में बड़ी सुन्दर है। मोटे पीले स्वर्णरंजित कागज़ पर चमकीली काली स्याही से लिखी गयी है। पेरिस की, नेशनल लाइब्रेरी में तीन प्रतिलिपियाँ

संगृहीत हैं, जिन पर क्रमशः 1515, 1528 और 1530 की तिथियाँ पड़ी हैं। कलकत्ता में प्राप्त प्रतिलिपि सन् 1548 की है। यह अब खो गयी है। प्रोफेसर कावेल ने फिट्ज़ेराल्ड के लिए इसकी एक प्रतिलिपि तैयार करवाई थी। फिट्ज़ेराल्ड ने अपना अनुवाद इसी के आधार पर किया है।

मि. कावेल उस समय केम्ब्रिज में संस्कृत के अध्यापक थे। उन्होंने हाफ़िज की कुछ कविताओं का अँग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। फिट्ज़ेराल्ड को वह बहुत पसन्द आया। उस समय वह फारसी का अध्ययन कर रहे थे। अवसर पाकर उन्होंने उमर की रुबाइयों को फारसी जमीन से उठाकर अँग्रेजी साहित्योद्यान में रोपित किया। उनके इस कार्य से फारसी गुलाब की कुम्हलाती हुई कलियाँ फिर से हरी ही नहीं हो गयीं, वरन् उनमें सौरभ और सौन्दर्य का अनन्त स्थायित्व आ गया। उनकी सुगन्ध से आज निखिल विश्व का कोना कोना आमोदित है।

फिट्ज़ेराल्ड की रुबाइयों का प्रथम संस्करण 250 प्रतियों का था। उन पर अनुवादक ने अपना नाम नहीं दिया। फिट्ज़ेराल्ड ने कुछ प्रतियाँ तो अपने मित्रों को भेंट दीं, और शेष बिक्री के लिए प्रकाशक के हवाले कर दीं। प्रकाशक ने पहले तो एक प्रति का मूल्य 2 शि. 6 पै. रक्खा; अन्त में बिक्री न होने के कारण 1 शि. और फिर 6 पैंस। परन्तु एक अज्ञातनामा लेखक की रचना का कोई कौड़ी मोल भी लेने को तैयार न हुआ। तब प्रकाशक ने निराश होकर उमर ख़य्याम की प्रतियाँ अपनी दुकान के सामने रद्दी के सन्दूक में फेंक दीं! अब यदि किसी दुकानदार को वे दो सौ प्रतियाँ मिल सकें तो वह सहज ही में लखपती बन जाय। कुछ दिनों बाद उस प्रकाशक ने वही किताब दस दस गिन्नी में बेची; और थोड़े दिनों की बात है कि फिट्ज़ेराल्ड कृत उमर ख़य्याम के अंग्रेजी अनुवाद के प्रथम संस्करण की एक प्रति 35 गिन्नी में नीलाम हुई!

9 वर्ष बाद पुस्तक का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। तीसरा संस्करण 1872 का है और चौथा 1879 का। ये चारों संस्करण फिट्ज़ेराल्ड के जीवन काल में ही प्रकाशित हुए और उनमें अनुवादकर्त्ता ने अनेक संशोधन और परिवर्तन किये। अनुवादक को अपने प्रथम प्रयत्न में ही आश्चर्यजनक सफलता मिली। पहली रुबाई ही देखिए, कितनी प्रसादगुणमयी रचना है–

अवेक! फॉर मॉरनिंग इन द बोल ऑफ नाइट,
हैज फ्लंग द स्टोन दैट पुट्स द स्टार्स टु फ्लाइट,
एन्ड लो! द हन्टर ऑफ द ईस्ट हैज कास्ट,
द सुल्तानूस टरेट इन अ नूज ऑफ लाइट।*

---

* उठो, उषा ने रात्रि-पात्र में अरुण उपल निक्षेप किया।
ऋक्ष-पक्षियों को जिसने है नभःक्षेत्र से उड़ा दिया।
और पूर्व के जालिक रवि ने वह ऊँचा शाही मीनार।
देखो, कोटि कोटि किरणों के फन्दे में है फाँस लिया।

गत तीस वर्षों में उमर की रुबाइयों के अनेक अँग्रेजी गद्य और पद्यानुवाद प्रकाशित हुए हैं। उनमें बहुत से सचित्र हैं। सुलभ और राज संस्करणों का हाल न पूछिए। एक पेनी से लगाकर दस पौंड तक के संस्करण मौजूद हैं!

उमर का यूरोप में जो कुछ समादर हुआ वह फिट्जेराल्ड के कारण। कुछ लोगों का कहना है कि फिट्जेराल्ड ने रुबाइयों का अनुवाद न करके उनकी व्याख्या की है। परन्तु बात असल में ऐसी नहीं है। फिट्जेराल्ड ने मूल की आत्मा के भीतर पैठ कर उसकी काया पलट की है। कहने में तो यह बात बहुत सरल जान पड़ती है। परन्तु स्वयं कवि हुए बिना कविता का अनुवाद करना अपनी और मूल लेखक की हँसी कराना है। फिट्जेराल्ड ने मूल का अविकल अनुवाद नहीं किया। उन्होंने अपनी इच्छा के अनुसार कहीं एक रुबाई को तोड़कर दो के रूप में छन्दोबद्ध किया है, कहीं दो-तीन रुबाइयों को लेकर, एक कर दिया है। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि जहाँ कहीं अनुवादक ने मूल के भाव को नया परिच्छद देने का प्रयत्न किया है वहीं उसे सच्ची सफलता मिली है। अनुवादक स्वयं कवि और जीवन भर ग्रीक और स्पेनिश भाषा से अनुवाद करता रहा। उसने फारसी की अन्य रचनाओं को भी अनूदित करने का प्रयत्न किया; परन्तु इसमें से न तो कोई अनुवाद और न स्वयं उसकी रचना ही अँग्रेजी साहित्य की स्थायी सामग्री बन सकी। इससे स्पष्ट है कि यह उमर का काव्य चमत्कार ही है जिसने फिट्जेराल्ड को विश्व-साहित्य-मन्दिर के एक कोने में चिरस्थायी स्थान दिलाया है।

फिट्जेराल्ड की पुस्तक के अन्तिम संस्करण में 101 पद्य हैं। इनमें से 49 मूल के सुन्दर और व्याख्यात्मक अनुवाद हैं; 44 ऐसे हैं जो मूल के दो दो तीन तीन पद्यों की एक एक छाया हैं, 2 पद्य केवल पैरिस की लाइब्रेरी में संगृहीत पोथी के एक पाठ में हैं; 2 में उमर और हाफिज के काव्य की छाया है, 2 मूल के पद्यों का भाव लेकर लिखे गये हैं और 2 ऐसे हैं जिनका मूल से कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता, फिर भी उनमें अस्पष्ट रूप से उमर की कविता का रूप देखने को मिलता है।

दो शब्द मूल रुबाइयों के सम्बन्ध में भी।

जिस छन्द में उमर ने अपनी उक्तियों को मूर्तिमान किया है उसका नाम रुबाई है। इसी शब्द का बहुवचनान्त रूप रुबाइयात है। यह शब्द अरबी भाषा का है और इसका अर्थ है चार। इस छन्द को हम चतुष्पदी कह सकते हैं। इस चतुष्पदी के चार चरणों में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरण तुकान्त होते हैं, तृतीय स्वाधीन होता है। कभी कभी उसे भी तुकान्त कर देते हैं। समग्र चतुष्पदी के भाव को घनीभूत करना और उसकी गति का निर्देश करना ही चतुर्थ चरण का कार्य है। इस छन्द का सर्व-प्रथम प्रयोग सूफी कवि शेख अबू सैयद बिन अबुलखैर ने किया। परन्तु उमर का उद्देश्य कुछ भिन्न है। यद्यपि उनकी कुछ रुबाइयों में विशुद्ध रहस्यवाद और सर्वेश्वरवाद की छाया है, परन्तु अधिकांश कवि की स्वाधीन मनोवृत्ति

का फल है। फिट्‌जेराल्ड ने अपना अँग्रेजी अनुवाद मूल छन्द में ही किया है ऐसा करने में उन्हें कितनी कठिनाई हुई होगी यह कहने की आवश्यकता नहीं। प्रस्तुत हिन्दी अनुवादकर्त्ता ने भी वही मार्ग ग्रहण किया है।

(4)

उमर की कविता में इतनी विभिन्नता और विचित्रता है कि उसके नाना भक्तों और उपासकों ने उसके नाना अर्थ किये हैं। उनकी समस्त कविता में जो भाव प्रस्फुटित हुआ है वह है मनुष्य के हृदय का वही चिरन्तन और सब से बड़ा प्रश्न—

यहाँ 'कहाँ से, क्यों!' न जान कर परवश आना पड़ता है,
वाहित विवश वारि-सा निज को नित्य बहाना पड़ता है।
'कहाँ चले?' फिर कुछ न जानकर, इच्छा हो कि अनिच्छा हो,
परपट पर सपरट समीर-सा हमको जाना पड़ता है।

यह प्रश्न सृष्टि के आरम्भ से ही बारम्बार मानव हृदय में उठा है, तो भी इस दुर्ज्ञेय पहेली, इस जटिल समस्या का उत्तर कोई नहीं दे पाया। उमर ने इसका उत्तर दिया है। वह कहते हैं—

जगत मिथ्या है।

उनका यह भाव नया नहीं है। वेदों में इसका उल्लेख है, बाइबिल में इसका वर्णन है, रेनन ने वर्तमान फ्रेंच साहित्य में इसका प्रचार किया है और इबसन के नाटकों में भी इसकी छाया है। यह माया, यह अविश्वास, यह निराशावाद, युग परिवर्तन के समय प्रत्येक जाति और समाज के सूक्ष्मदर्शी व्यक्तियों में दृष्टिगोचर होता है। उमर ने इसे कहाँ से प्राप्त किया यह कहना कठिन है। सम्भव है अपने सहपाठियों का अन्तिम परिणाम देखकर उनका हृदय जगत के प्रति निराशा और अविश्वास से भर गया हो। अथवा यह भी सम्भव है कि तुर्कों को अपने देश पर आक्रमण करते देख संसार की ओर से उनका मन फिर गया हो। अथवा यह भी सम्भव है कि ज्ञान के अगाध समुद्र में डुबकी लगाकर उन्होंने यह तत्त्व उपलब्ध किया हो कि—

जगत मिथ्या है और ब्रह्म भी मिथ्या है।

उमर घोरतर अदृष्टवादी थे। विश्व के स्त्री पुरुषों को उन्होंने नियति के हाथ का गेंद माना है। जन्मान्तर और परलोक पर उनका विशेष विश्वास नहीं था। वेदान्त दर्शन के साथ कई विषयों में उमर के विचारों का सादृश्य देखने में आता है।

उमर स्वाधीन चिन्ता के पक्षपाती थे। वह उपदेशक और युग प्रवर्तक थे। वह जीवन भर धर्म गुरुओं और साधुओं के पाखण्ड, पण्डितों और अज्ञता एवं जन साधारण की अशिष्टता का घोर विरोध करते रहे। उनकी रुबाइयों में स्थल स्थल पर इसके प्रमाण मिलते हैं। यही कारण है कि वह अपने देश में कभी सर्वप्रिय

नहीं हुए। पश्चिम के लोग उन्हें पूर्व का वालटेयर कहते हैं, और जड़वादी और नास्तिक बताकर उनका तिरस्कार करते हैं। जहाँ तक माया के सौन्दर्य, मार्मिक व्यंग्य, उपालम्भ और मानव प्रेम का सम्बन्ध है, वहाँ तक उमर निस्सन्देह वालटेयर के समकक्ष हैं। इस दृष्टि से उन्हें हम अपने कबीर की कोटि का कह सकते हैं। परन्तु वालटेयर ने सुरा और चश्क, प्रेम और सौन्दर्य, वसन्त और उद्यान के सम्बन्ध में ऐसी सुन्दर कविता नहीं की। उसने ऐसे मार्मिक ढंग से अदृष्ट की निर्ममता ही प्रकट की है। अस्तु।

उमर बड़े मौजी और आनन्दी जीव थे इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि वह शराबी या चरित्रहीन थे। ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्होंने शराब की प्रशंसा के गीत गाये हैं परन्तु वह शराबी नहीं थे।

कुछ लोगों ने उमर की चतुष्पदियों में सूफियों के अद्वैतवाद की आध्यात्मिक व्याख्या निकाली है। परन्तु सुरा और सरक की प्रशंसा में आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य को खोजने का प्रयत्न करना हमें तो व्यर्थ-सा जान पड़ता है। हाफिज के सम्बन्ध में अवश्य यह कहा जा सकता है। समस्त परम्परागत इतिहास और स्वयम् रुबाइयों की अन्तरात्मा इस बात की साक्षी हैं कि उमर ने सुरा और साकी की प्रशंसा में जो कुछ कहा है वही उसका अर्थ है। अधिकांश चिन्ताशील और विचारवान् व्यक्तियों के जीवन में एक समय आता है जब वह कह उठते हैं कि जगत् मिथ्या है। उमर की कविता उसी समय की द्योतक है। वह वेदान्त दर्शन की उस गहराई तक नहीं पैठते जहाँ सब मिथ्या है—शराब भी मिथ्या है, और सुन्दरी भी मिथ्या है। उनका शराब का प्याला कबीर का प्रेम प्याला नहीं—

"कबीर प्याले प्रेम के, भरि भरि पिवै रसाल।"

उमर तो शराब की मस्ती में आँखें मूँदकर कहते हैं—

आह माइ बिलवेड फिल द कप दैट क्लिअर्स
टु-डे ऑफ पास्ट रिग्रेट्स एन्ड फ्यूचर फिअर्स—
टु-मारो?—व्हाई, टु मारो आई मे बी
माइसेल्फ विद यस्टरडे सेविन थाउजन्ड इअर्स
व्हाई, बी दिस जूस द ग्रोथ ऑफ गॉड, हू डेयर
ब्लासफेमी द ट्विस्टेड टेन्ड्रिल एज अ स्नेयर?
अ ब्लेजिंग, वी शुड यूज इट, शुड वी नॉट?
एन्ड इफ अकर्स—व्हाइ, देन, हू सेट इट देअर?

उमर को हम उद्यान के एक कोने में वृक्षों की शीतल छाया के तले फारस की सुन्दरी नर्तकियों और गायिकाओं से घिरा और रत्न जटित स्फटिक के खूबसूरत प्यालों में पद्मराग मणि जैसी सुर्ख और चमकीली अंगूरी शराब पीता हुआ चित्रित

कर सकते हैं अथवा हम उन्हें सन्ध्या के समय किसी उद्यान की नक्षत्रालोकित संकीर्ण वीथियों में कालचक्र के बीच में पड़े हुए सौन्दर्य और यौवन के दुर्वार और निश्चित परिणाम पर विचार करता हुआ देख सकते हैं–

> व्हेदर ऐट नैशापुर ऑर बेबीलन,
> व्हेदर द कप विद स्वीट ऑर बिटर रन,
> द वाइन ऑफ लाइफ कीप्स ऊजिंग ड्रॉप बाइ ड्राप,
> द लीव्स ऑफ लाइफ कीप फालिंग वन बाइ वन

यूरोप के लोग उमर की कविता पर जो इतने मुग्ध हैं, इसका कारण यह है कि वह दार्शनिक और पण्डित होते हुए भी कवि थे। अँग्रेजी के एक कवि ने जब उमर के शब्दों में उपदेश दिया–

> ''गैदर यी रोज-बड्स व्हाइल यी मे;
> ओल्ड टाइम इज स्टिल अ फ्लाइंग :
> एन्ड दिस सेम फ्लावर-दैट स्माइल्स टु-डे,
> टु मारो मे बि डाइंग।''

तब नयी सभ्यता का स्वप्न देखने वाले भोगी विलासी इंगलैण्ड और फ्रान्स ने उमर को अपना ही कवि समझा। उन्हें उमर की कविता में बुलबुल का संगीत, वसन्त का वैभव, गुलाब का सौन्दर्य, शराब की मस्ती और सुन्दरियों का कलगान ही नहीं दीख पड़ा, वरन् उन्होंने उसमें अपने ही हृदय का स्पष्ट चित्र देखा। ज्ञान-विज्ञान की चर्चा के फल स्वरूप यूरोप के लोग अपने धर्म के प्रति अविश्वासी हो उठे थे। उमर की कविता ने उस अविश्वास की एक हलकी-सी थपकी दी। समस्त यूरोप, कह उठा–'वाह!' फिर क्या था। उन लोगों ने अपने मनोराज्य में उमर के लिए तुरन्त एक गौरवमय स्थान दे दिया। रामायण और महाभारत उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं। कालिदास की वहाँ कोई इतनी चर्चा नहीं करता। परन्तु उमर! उमर के नाम से ही यूरोप के कवि समाज का हृदय आनन्द से विह्वल हो उठता है।

× × ×

फारस का यह गुलाब इंगलैण्ड के क्षेत्र में विकसित होकर भारतवर्ष पहुँचा है। हम भी इसके रूप और गन्ध पर मुग्ध हैं। उमर की रुबाइयों के दो बंगला अनुवाद मौजूद हैं। गुजराती में भी इसका अनुवाद हुआ है। बीसवीं सदी के स्वर्गीय सम्पादक–श्री हाजी मुहम्मद अलारखिया शिवजी उमर ख़य्याम के मशहूर प्रेमी थे। हिन्दी में भी उमर ख़य्याम का अनुवाद हुआ है। भारतवर्ष, प्रवासी, सुधा, माधुरी, सरस्वती आदि पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर उमर ख़य्याम पर अनेक सुन्दर चित्र भी प्रकाशित हुए हैं। इतने से ही उमर के प्रति हमारी वास्तविक मनोवृत्ति का परिचय मिलता है।

मंगलाचरण

फैलाई भव ने बहुत, द्वन्द्व-भावना भीम,
किन्तु रहा तू एक ही मेरे राम-रहीम!
—अनुवादक

श्रीगणेशाय नमः

रुबाइयात उमर ख़य्याम

(1)

उठो, उषा ने रात्रि-पात्र में
अरुण-उपल निक्षेप किया,
ऋक्ष-पक्षियों को जिसने है
नभः-क्षेत्र से उड़ा दिया।
और पूर्व के जालिक रवि ने
वह ऊँचा शाही मीनार
देखो, कोटि-कोटि किरणों के
फन्दे में है फाँस लिया।

(2)

वाम-कनक-कर ने ऊषा के
जब पहला प्रकाश ढाला,
सुना स्वप्न में मैंने सहसा
गूँज उठी यों मधुशाला–
'उठो, उठो, ओ मेरे बच्चो,
पात्र भरो, न विलम्ब करो,
सूख न जावे जीवन-हाला,
रह जावे रीता प्याला।'

(3)

उच्च कण्ठ से अरुणचूड़ जब
उठकर करने लगा पुकार,
पानागार-सम्मुखस्थित जन
बोल उठे–'तो खोलो द्वार।

तुम्हें विदित है, हमें यहाँ है
रहना कितनी थोड़ी देर,
एक बार जाकर फिर आना,
सम्भव है क्या किसी प्रकार?'

(4)

हुआ पुरानी इच्छाओं का
नये वर्ष के संग विकास;
चिन्ताशील जीव निर्जन को
चला वहाँ करने को वास
जहाँ 'यदे-बैजा' मूसा का
निकल रहा है पेड़ों से,
और अवनि-तल से प्रभु ईसा
जहाँ ले रहे हैं निःश्वास।

(5)

कहाँ प्रफुल्ल 'इरम' उपवन वह?
कोई नहीं जानता भेद;
कहाँ सात द्वीपों का दर्पण
विश्रुत वह 'जामे-जमशेद'?
किन्तु आज भी द्राक्षा-वल्ली
वही लाल उपजाती है,
अब भी नीर-तीर पर उपवन
मेंट रहा है मन का खेद।

(6)

मुद्रित-मुख दाऊद पड़ा है
चिर-नीरव निस्पन्द निरा,
किन्तु सुनाती बुलबुल अब भी
वेणु-विनिन्दित अमर-गिरा
और अरुण हो उठते हैं झट
पाटल के वे पाण्डु कपोल
सुनकर उसके कलित-कण्ठ से
'मदिरा, मदिरा, मधु मदिरा।'

(7)

आओ, मधुर वसन्त विभा में
मधु ढालो, भर दो प्याला,
अनुतापों के शिशिर-वसन से
बढ़े होलिका की ज्वाला।
समय-विहंगम को थोड़ा ही
मार्ग पार करना है अब,
फैला दिये पंख लो, उसने,
वह है उड़ने ही वाला।

(8)

देखो, लाख लाख फूलों ने
आँखें खोलीं दिन के संग,
बिखरे लाखों, मिले धूल में,
खोकर गन्ध-रूप-रस-रंग।
ले आया है जो गुलाब को
चैत मास सी निस्सन्देह
कैकुबाद जमशेद आदि को
ले जाने का है यह ढंग।

(9)

विस्मृत कैकुबाद, कैखुसरो,
इन सबसे अब मुँह मोड़ो;
सोने दो चाहे जिस करवट,
उस रुस्तम को भी छोड़ो।
भोजनार्थ हातिमताई को
लोगों को पुकारने दो;
चिर-परिचित ख़य्याम संग तुम
आओ निज नाता जोड़ो!

(10)

किसी विकीर्णा वनखण्डी को
मेरे साथ चलो, आओ,—

मरुस्थली को शस्य-भूमि से
जिसे भिन्न करते पाओ।
जहाँ गुलामों, सुलतानों के
नाम नहीं सुन पड़ते हैं,
तुच्छ गिनो सौ महमूदों को,
उधर ध्यान भी मत लाओ।

(11)

इस तरु तले कहीं खाने को
रोटी का टुकड़ा हो एक,
पीने को मधु-पात्र पूर्ण हो,
करने को हो काव्य विवेक,
तिस पर इस सन्नाटे में तुम
बैठ बगल में गाती हो,
तो नन्दन-सम इसी विजन में
मुझे स्वर्ग का हो अभिषेक!

(12)

कहते हैं कुछ जन यह—'क्या ही
सुख देते हैं पार्थिव भोग!'
समझ रहे हैं कुछ श्रेयस्कर
आने वाला स्वर्ग-सुयोग!
अरे, हस्तगत विद्यमान को
ले लो और छोड़ दो सब,
अजी, दूर के ढोलों को ही
कहते हैं सुहावना लोग!

(13)

देखो इस पाटल को, जिसमें
रूप, रंग, मधु, गन्ध-तरंग,
'लो!' वह कहता है—'हँस हँसकर
खिलता हूँ मैं सहज स-रंग
और उसी क्षण सारे बन्धन
निज कौशेय कोष के खोल,

मैं बिखेर देता हूँ अपनी
सारी ऋद्धि एक ही संग।'

(14)

सांसारिक लिप्साएँ, जिन पर
आशा करते हैं हम लोग,
मिट्टी में मिल जाती हैं सब
पाकर सौ विघ्नों के रोग।
कहीं फूलती फलती भी हैं
तो बस घड़ी दो घड़ी ही,
ज्यों मरु के धूसर मुख पर हो
हिमकण की आभा का योग।

(15)

वे कि जिन्होंने लाख यत्न कर
भारी स्वर्ण-राशि जोड़ी,
और जिन्होंने जलधारा-सी
वह सब स्वयं बहा छोड़ी।
बनती नहीं अन्त में ऐसी
हेम-धूलि उन दोनों की,
गड़ने पर उखाड़ने को फिर
जाय जनों से जो गोड़ी।

(16)

यह प्राचीन पथिकशाला है,
अहोरात्र जिसके दो द्वार,
खुलते और बन्द होते हैं
वारी वारी बारंबार।
कितनी तड़क भड़क से इसमें
आये हैं कितने सम्राट
एक द्वार से घुसे, घड़ी भर
ठहरे, हुए अन्य से पार!

(17)

जहाँ शाह जमशेद-विभव था,
बही जहाँ मदिरा लहरी,
बने आज उन राजगृहों के
सिंह-शृगालादिक प्रहरी।
उस बहरामगोर के सिर पर,
जो मशहूर शिकारी था,
टाप गोर-खर चला रहा है,
पर है नींद वही गहरी!

(18)

करता नहीं एक भी पाटल
वैसी अरुणवर्णता व्यक्त,
जैसी वह जिसकी जड़ में हैं
किसी गड़े राजा का रक्त!
मैं बिचारता हूँ, गुल्लाला,
जो फूलों की शोभा है,
गिरा कभी वह किसी सुमुख से
उपवनाक में प्रेमासक्त।

(19)

इस प्यारे पौधे पर, जिसका
लिये सहारा हैं हम लोग,
करते हैं सरिताधर जिसकी
कोमल हरियाली का भोग,
हलके हलके टिको! न जाने,
कबके, किन मृदु अधरों से,
हम सबके अनजाने इसने
पाया है यह उद्गम-योग!

(20)

अये प्रिये, यह प्याला भर दो,
जमने दो तुम इसका रंग,

करता है जो वर्तमान में
भूत-भविष्य-भावना भंग।
आगामी कल की चर्चा क्यों?
आगामी कल तो सहसा
हो सकता हूँ मैं गत कल की
सत्तर शताब्दियों के संग!

(21)

देखो, निज पर हृदय हमारे
आकर्षित थे अपने आप,
जो थे विधि की और समय की
रचना के कल-कीर्ति-कलाप,
पीकर अपने अपने प्याले
यहाँ एक दो दौर अहो,
चले गये विश्राम-हेतु हैं
एक एक करके चुपचाप।

(22)

उड़ा रहे हैं हम इस घर में
मौज जिसे वे छोड़ गये,
और वसन्त जिसे सजता है
फूल खिलाकर नये नये,
निश्चय मही-मंच के नीचे
इसे छोड़कर हमको भी,
एक मंच रचने को जाना
होगा—किसके लिए, अये!

(23)

मिट्टी में मिलने के पहले,
और अधिक क्या जाय कहा,
उसे भोग लो, व्यय होने से
जो अब भी है शेष रहा।
धूलि धूलि में मिल जावेगी,
धूलि तले सोना होगा,

गीत न गायक, सुरा न साकी,
और न कोई अवधि हहा!

(24)

सुनो, आज के लिए लोग जो
सजते हैं कितने ही साज,
बाँधे हैं टकटकी तथा जो
आने वाले कल पर आज,
अन्धकार की अटल-लाट से
उन्हें मुअज्जन देता बाँग—
'मूढ़ो, यहाँ, वहाँ, न कहीं भी
होगा सिद्ध तुम्हारा काज।'

(25)

करते थे जो यहाँ वहाँ की
व्याख्या रात रात भर जाग,
सब धकियाये गये अन्त में,
भूल गया सब ज्ञान विराग।
कहाँ गयी उनकी वह वाणी,
किये गये सबके मुँह बन्द,
भर दी गयी धूल उनमें, या
धर दी गयी धधकती आग!

(26)

अरे, चले आओ, विज्ञों को
करने दो बकवाद फिजूल,
एक बात निश्चित है, क्षण क्षण
उड़ती है जीवन की धूल।
केवल एक बात निश्चित है,
शेष और सब मिथ्या है,—
मुरझा जाता है सदैव को,
एक वार खिलता जो फूल।

(27)

विज्ञों और विरक्त जनों को
जहाँ कहीं भी पाता मैं,
यौवन में उत्सुकता पूर्वक
उनके सम्मुख जाता मैं।
इसकी, उसकी, सबकी चर्चा
उनसे फिर फिर सुनता, किन्तु
जिससे घुसता उसी द्वार से
नित्य निकल फिर आता मैं!

(28)

उनकी संगति में रह मैंने
ज्ञान-बीज बोया भरपूर,
उसे बढ़ाने की चेष्टा में
बना रहा मैं चिर दिन चूर,
उससे जो फल पाया मैंने
वह था केवल एक यही—
'आया नीर-समान और मैं
जाता हूँ समीर-सा दूर।'

(29)

यहाँ 'कहाँ से, क्यों?' न जानकर
परवश आना पड़ता है,
बाहित विवश वारि-सा जिन को
नित्य बहाना पड़ता है।
'कहाँ चले?' फिर कुछ न जानकर,
इच्छा हो कि अनिच्छा हो,
परपट पर सरपट समीर-सा
हमको जाना पड़ता है!

(30)

पूछे ताछे विना कहाँ से,
आ पहुँचे हो यहाँ अहो,

और कहाँ वे समझे बूझे
फिर सहसा चल पड़े कहो!
अजब विलल्लापन है, ठहरो,
इसकी याद भुलाने को,
एक चषक, हाँ एक चषक तो
पीलो जो निर्द्वन्द्व रहो।

(31)

भूमण्डल के मध्य-भाग से
उठकर मैं ऊपर आया,
सातों द्वार पार कर ऊँचा
शनि का सिंहासन पाया।
कितनी ही उलझनें मार्ग में,
सुलझा डालीं मैंने, किन्तु
मनुज मृत्यु की और नियति की
खुली न ग्रन्थिमयी माया।

(32)

एक द्वार था, जिसकी कुंजी
पा न सका मैं किसी प्रकार,
और एक परदा था मेरी
दृष्टि जिसे कर सकी न पार।
तनिक देर तो मेरी तेरी
चर्चा होती जान पड़ी,
न तो तू रहा, न मैं रहा फिर,
हुआ सभी कुछ शून्याकार।

(33)

इस चक्कर में पड़े गगन से
पूछा मैंने अविरति से
'नियति चलाती है निदेश कर
निज सन्तति को किस गति से?
किस द्युति से पद्धति दिखलाती
जो वह ठोकर खाती है?'

उत्तर मिला शून्य से मुझको—
'उसी एक अन्धी मति से।'

(34)

तब मुड़कर मैंने लेने को
जीवन-रूप कूप की थाह,
इस प्याले के मधुर अधर से
अपना अधर मिलाया—वाह!
बोला वह मृणमय मर्मर कर—
'पीलो, जब तक जीते हो,
नहीं लौटने का जीवन फिर
यह है बहता हुआ प्रवाह।'

(35)

मेरे ज्ञान पात्र ने, जिसने
उड़ते उत्तर मुझे दिये,
रह कर कभी सजीव लोक में
होंगे बहु सुखभोग किये।
उसके जिन हिम-से होंठों से
मैंने होंठ मिलाये हैं,
किसको ज्ञात उन्होंने कितने
चुम्बन होंगे दिये-लिये।

(36)

क्योंकि हाट में धेनु-धूलि के
समय एक दिन एक कुम्हार,
गीली मिट्टी कूट रहा था
करने को कुछ घट तैयार!
तब मैंने यह देखा, भरसक
करके अस्फुट शब्द विशेष—
'धीरे भैया, धीरे कृपया!'
मिट्टी थी कर रही गुहार।

(37)

अरे, चषक भर दो—फिर फिर यह
कहने से क्या लाभ भला—
'देखो पैरों के नीचे से
खिसक रहा यह समय चला!'
आज मधुर है तो अजात कल,
या गत कल के लिए कहो,
झीखें हम क्यों यहाँ बैठकर
और सुखाया करें गला!

(38)

अतुल असत्ता के परपट पर
रक्खे है जो सरपट वेष,
एक निमेष मात्र-जीवन-रस
चखने को है एक निमेष।
डूब उठे नक्षत्र, नास्ति के
अरुण-लोक को पथिक चले,
आह, देर क्यों? उठो, शीघ्र ही
करो साज-सज्जा निःशेष!

(39)

कब तक, किया करोगे कब तक
इससे-उससे वाद विवाद?
कब तक बना, रहेगा कब तक,
यह चिर यत्नों का उन्माद?
मरते हो किस फल के पीछे,
वह कटु है या मिथ्या है,
अच्छा तो है यही, छोड़ सब
लो उस अंगूरी का स्वाद।

(40)

मित्रो, एक नये परिणय के
हेतु, तुम्हें यह है मालूम,
की थी मैंने अपने घर पर
राग-रंग की कितनी धूम :

बाँझ तर्कना का जब मैंने
त्याग कर दिया और सहर्ष
द्राक्षा-दुहिता को निज पत्नी
बना लिया उसका मुँह चूम।

(41)

ऊपर-नीचे की बातें मैं
कह सकता था बिना प्रयास,
क्रम से अस्ति-नास्ति पर बहुविध
कर सकता था वचन-विलास।
तो भी एक-एक ही केवल
मुझे जाननी थी जो बात,
वह क्या थी? मदिरा—बस मदिरा,
न था और कुछ गूढ़ाभास।

(42)

मधुशाला के खुले द्वार से
अभी अभी गोधूलि-समय,
दबी चाल से घड़ा दबाये
कोई देवदूत सहृदय
बाहर आया, रस चखने का
उसने मुझे निदेश दिया,
और—अरे, बस कुछ मत पूछो,
बोलो अंगूरी की जय।

(43)

जिन मतमतान्तरों की माया
द्वन्द्व-भाव ही सेती है,
न्याय तर्क से उन्हें काटकर
जो गुरु-गौरव लेती है।
सूक्ष्म-बुद्धि वाली रसायनी,
कौन बड़ी द्राक्षा से, जो
क्षण में जीवन-सीसक-भाजन
सोने का कर देती है!

(44)

आसव वह सम्राट शूर है,
विजयशील बहु बलशाली,
लेकर जो निज अभिमन्त्रित असि,
झंझावायु-वेग वाली।
भय विषाद की, अविश्वास की,
सेना मार भगाता है,
छाई रहती है जो मन पर
बनकर घोर घटा काली।

(45)

जाने दो उन मतिमानों को,
किया करें वे वाद-विवाद,
चलने दो जग का प्रपंच भी,
होने दो कोलाहल नाद।
आओ, बैठ किसी कोने में,
जिसने तुम्हें बनाया खेल,
तुम भी उसको खेल बनाकर
प्राप्त करो हाँ, मनःप्रसाद।

(46)

भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे,
आगे-पीछे, इधर-उधर,
नहीं और कुछ, यह माया की
छाया का है कौतिक भर।
है 'फानूस-खयाल' एक यह,
दिनकर जिसका दीपक है,
चारों ओर मृषाकारों से
काट रहे हैं हम चक्कर।

(47)

जिन होंठों का चुम्बन लेते,
जिस मधु को करते हो पान,

उसी असत्ता में—जिसमें सब—
होते हैं वे अन्तर्धान।
तो जब तक हो, वही असत् हो,—
जो होने को हो, सोचो,
फिर इससे तुम कम क्या होगे,
करते हो क्यों मन को म्लान।

(48)

खिलती है सरिता के तट पर
जब पाटल-प्रसून-माला,
पियो, वृद्ध ख़य्याम संग तब
तुम उमंग से गुल्लाला।
उससे भी काली हाला जब
कालदूत लेकर आवे,
झिझको मत तब तुम, उसका भी
पीलो खुशी खुशी प्याला।

(49)

बिछी रात-दिन की बिसात है,
जीवों के मुहरे करके,
क्या शतरंज खेलता है विधि,
नई-नई चालें धरके।
कहीं जिताता, कहीं हराता,
कहीं मारता, सह देता,
फिर समेट सबको डिब्बे में
धर देता है वह भरके।

(50)

दाएँ बाएँ जिधर खिलाड़ी
है उछाल देता जब कुछ,
कन्दुक उधर उछल जाता है,
हाँ-न करता है कब कुछ?
जिसने तुम्हें उछाला है इस
प्रान्तर में, किसलिए? इसे,

वही जानता, वही जानता,
वही जानता है सब कुछ।

(51)

लिखती है, लिखकर बढ़ती ही
जाती है उँगली अश्रान्त,
निस्सन्देह तुम्हारे सारे
शुद्धाचार विचार नितान्त,
लुभा सकेंगे उसे अर्द्ध भी
वाक्य काटने को न कदापि,
एक वर्ण भी धो न सकेंगे
लाख लाख आँसू उद्भ्रान्त।

(52)

यह उलटा प्याला है, जिसको
आसमान कहते हैं हम,
जिसके नीचे मरते-जीते
कसे-गँसे रहते हैं हम।
है बेकार हाथ फैलाना,
किसी लिए इसके आगे,
पड़ा उसी चक्कर में यह भी,
विवश जिसे सहते हैं हम।

(53)

पृथिवी की पहली मिट्टी से
अन्तिम पिण्ड हुआ उत्पन्न,
प्रथम बीज से ही जगती का
फलीभूत है अन्तिम अन्न,
और पढ़ेगा, सुनो, न्याय के
अन्तिम दिन का मुख जो लेख,
भव के पहले ही प्रभात ने
लिख रक्खा है वह प्रच्छन्न।

(54)

अम्बर के खरतर तुरंग के
कन्धे पर वे चढ़े हुए
सुन लो, अपने लक्ष्य-स्थल से
जाते थे जब बढ़े हुए।
मेरे जड़-चेतन दोनों के
पूर्व नियत क्षेत्र-स्थल में,
डाल दिये ग्रह-चक्र उन्होंने
बीज रूप में गढ़े हुए।

(55)

द्राक्षा-गुण वेष्टित होऊँ, तो
बायज दिया करे गाली,
निश्चय, मेरी भी कुधातु से
बन सकती है वह ताली;
जो उस दिव्य द्वार का ताला
खोल सके, जिसके बाहर
भूँक रहा है खड़ा खड़ा वह
हत-गति अति अभाग्यशाली।

(56)

मेरे मत से तो निश्चय ही
ज्वलित सत्य की एक झलक,
करे क्रोध से छार भले ही,
या उधार दे प्रेम-पलक।
मैखाने में भी अच्छी है
उस मसजिद के बदले में,
खो जावे उलटी मोती के
पानी सी वह जहाँ ढलक।

(57)

ओ, तू! जिसने मेरे पथ में
अथ से इति तक अति ही घोर,

गढ़े और शैतान गढ़े हैं,
अड़े खड़े हैं जो सब ओर,
बाँधेगा तो नहीं पकड़ कर,
मुझे जकड़ कर भावी से?
पतन-पाप तो नहीं मढ़ेगा
मेरे मत्थे कहीं कठोर?

(58)

ओ, तू! जिसने की है कुत्सित
मिट्टी से मानव की सृष्टि,
रचा अदन के साथ साँप भी,
करता है जो विष की वृष्टि,
जिनसे मुँह काला होता है,
मनुजों को उन पापों से,
क्षमा-दान कर और प्राप्त कर
उनसे स्वयं क्षमा की दृष्टि!

(59)

सुनिए, मैं व्रत के अन्तिम दिन
वेला थी जब लौट पड़ी,
उसी पुराने कुम्भकार के
यहाँ खड़ा था एक घड़ी।
चन्द्रदेव के दर्शन अब भी
नहीं हुए थे अम्बर में,
मिट्टी की बहु रचनाएँ थीं
मेरे चारों ओर खड़ी!

(60)

विस्मय! वे मृण्मयी मूर्तियाँ
फैली थीं जो जहाँ तहाँ,
कुछ तो कह सुन सकती थीं कुछ,
कह सुन सकती थीं न वहाँ।
एक अचानक उनमें से जो,
कुछ अधीर थी बोल उठी—

'भला कौन तो कुम्भकार है
और, कौन है कुम्भ यहाँ?'

(61)

बोल उठा तब पात्र दूसरा–
'कहता हूँ मैं निस्सन्देह–
साधारण मिट्टी से यों ही
नहीं बनी है मेरी देह।
जिसने इतने सूक्ष्म-भाव से
मेरी आकृति रची, भला,
मिल जाने देगा मिट्टी में
क्या फिर मुझको वह गुणगेह?'

(62)

कहा तीसरे ने तब–'नटखट
अल्पबुद्धि बालक भी एक,
जिसमें उसने पिया प्रीति से,
फोड़ेगा वह पात्र न फेक।
फिर क्या वह, जिसने यह भाजन
गढ़ा प्रेम-पूर्वक रुचि से,
करके पीछे क्रोध स्वयं ही
नष्ट करेगा बिना विवेक?'

(63)

हुए वहाँ सब सन्नाटे में,
कोई और न कुछ बोला,
कहने लगा एक भाजन तब
भोंड़ी रचना का भोला–
'एक ओर कुछ झुका देखकर
मुँह सब मुझे चिढ़ाते हैं,
तो फिर मुझे बनाने में क्या
उसका हाथ हिला-डोला?'

(64)

कहा अन्य ने—'लोग क्रूर कह
देते हैं साकी को शाप,
नरक-कालिमा से अंकित कर
मढ़ते हैं उसके सिर पाप।
कहते हैं हम सबकी कोई
कठिन परीक्षा होगी,—छिः
वह अच्छा है, और अन्त में
अच्छा ही होगा सब आप।'

(65)

सनिःश्वास तब कही एक ने
वाणी व्यथा-विषाद मयी—
'बहुत दिनों सुध बिसराने से
मेरी मिट्टी सूख गयी।
उस चिर-परिचित रस से फिर यदि
एक वार मुझको भर दो,
तो यह सम्भव है, क्रम क्रम से
मिले स्वस्थता मुझे नयी।'

(66)

यों बातें करने में देखी
उदित एक ने इन्दु-कला,
जिसे सभी वे खोज रहे थे,
इच्छा फल-सा वहाँ फला।
एक दूसरे को धक्के से
इंगित कर बोले—'लो बन्धु,
सुनो बँहगियों की वह मच-मच,
आये वाहक लोग भला।'

(67)

हाँ, मेरे बुझते-जीवन को
द्राक्षा-रस से दीप्त करो,

और उसीसे मृत शरीर को
धोकर उसकी धूलि हरो।
द्राक्षा-दल का कफन बनाकर
उसमें मुझे लपेटो फिर,
और किसी उद्यान-पार्श्व में
गर्त्त बनाकर गाड़ धरो।

(68)

गड़ी-पड़ी मिट्टी भी मेरी
आसव-सौरभ का वह जाल,
फैला दे सब ओर सदा को
वृहद्वायु-मण्डल में डाल।
जिससे जाता हुआ उधर से
कोई मोमिन बच न सके,
फँस जावे उसके फन्दे में
अकस्मात खिंच कर तत्काल।

(69)

उन बेवफा बुतों ने जिनको
मैंने इतना प्यार किया,
सचमुच लोगों की आँखों में
मुझे बहुत ही गिरा दिया।
हाय! एक उथले प्याले में
मान डुबाया है मेरा,
एक गीत पर कीर्त्ति बेच दी,
प्रेम किया या वैर लिया!

(70)

निश्चय, निश्चय, मैंने बहुधा
किया प्रथम है पश्चात्ताप,
पर सचेत था शपथ समय मैं?
या वह भी था एक प्रलाप?
पाटल के कर में कर डाले
इसी समय आ गया वसन्त,

और मुझे पूर्वानुताप पर
अब अनुताप आप ही आप!

(71)

यद्यपि मेरे साथ मद्य ने
धोखा किया, स्वार्थ साधा,
झटका झपट प्रतिष्ठा का पट,
देकर वार-वार बाधा।
तदपि, सोचता हूँ, कलाल जो
वस्तु बेचते हैं हमको,
उसका विनिमय पाते हैं क्या
अर्द्ध मूल्य का भी आधा?

(72)

खेद कि, पाटल-संग अचानक
ऋतु-पति भी छिप जाय कहीं!
और बन्द सुरभित यौवन का
खाता भी हो जाय वहीं!
कौन जानता है, बुलबुल, जो
इन डालों पर गाती थी,
कहाँ गयी अब और कहाँ से
आयी थी, है भी कि नहीं!

(73)

रच कर प्रिये, कहीं हम दोनों
विधि-विरुद्ध कोई षड्यन्त्र,
उसकी दुःख-पूर्ण रचना पर
पा लें विजय-वशीकर मन्त्र।
तो टुकड़े टुकड़े कर उसके,
जितना सम्भव हो उतना,
क्या फिर उसको बना न लें हम
इच्छा के अनुसार स्वतन्त्र!

(74)

मेरे आनन्देन्दु, अहा! जो
है अक्षीण और अकलंक,
देखो, पूर्ण हो रहा है फिर
उदित-चन्द्र से नभ का अंक।
उग-उगकर फिर-फिर ऐसे ही
कितनी वार आज के बाद,
हमें व्यर्थ खोजेगा आकर
इस उपवन में यही मयंक!

(75)

रखती हुई चरण जब अपना
अरुणोज्वल आभा वाला,
उस शाद्वल पर, जहाँ जमी है
अतिथि-सभा-ज्यों ग्रह-माला,
मेरे रंग-स्थल पर पहुँचे
लिए हुए निज नयी उमंग
तब बस, वहाँ उलट देना तू
प्याला–पिया हुआ प्याला!

टिप्पणी

पद्य संख्या

2 **ऊषा का वाम कर**–सूर्योदय के समय जो सूर्य की पहिली किरणें निकलती हैं उनको फारसी में ऊषा का बायाँ हाथ कहते हैं। अनुवाद में वाम शब्द का अर्थ सुन्दर भी किया जा सकता है।

4 **जहाँ यदे बैजा**–फारस का नवीन वर्ष वसन्त से प्रारम्भ होता है, जब वृक्षों से कोंपल निकलते हैं और पृथ्वी से घास के अंकुर। हजरत मूसा के हाथ में एक लक्षण था, जिसे यदे बैजा कहते हैं; जिससे शुभ्र-प्रभा निकला करती थी; और ईसामसीह के श्वास से मुर्दे जी उठते थे। कवि ने अंकुर और पवन के लिए क्रमशः ये उत्प्रेक्षाएँ की हैं।

5 **इरम उपवन**–अरब की धार्मिक कथाओं में वर्णित एक दिव्य उपवन जो नष्ट हो जाने पर भी आज भी पृथ्वी पर अदन के मरुस्थल में है, किन्तु चर्म-चक्षुओं को अगोचर है।

जामे जमशेद–जमशेद का प्याला। जमशेद फारस के पुराणों में वर्णित एक सम्राट है। उसके पास एक प्याला था जिसमें सात चक्कर थे। द्वीप भी सात हैं। कहते हैं, प्रति चक्कर से जमशेद एक द्वीप का हाल जान लिया करता था; जैसे अपने यहाँ का विश्वदर्पण जिसमें सब विश्व दिखाई पड़ता है।

6 **दाऊद**–मूसाइयों, ईसाइयों और मुहम्मदियों के एक पैगम्बर जो बहुत ही उत्तम गायक थे।

8 **कैकुबाद**–प्राचीन फारस का एक सम्राट।

जमशेद–देखिये टिप्पणी 5।

9 **कैखुसरो**–प्राचीन फारस का एक सम्राट।

रुस्तम–प्राचीन फारस का एक विश्वविश्रुत पहलवान।

हातिम ताई–अरब का एक बहुत बड़ा श्रीमान् और परोपकारी एवं उदार आतिथेय। यह मुसलमान धर्म के उदय के पूर्व हुआ था और इसकी

अतिथि-सत्कार सम्बन्धी त्याग और महत्ता तथा परोपकार की कितनी ही कथाएँ प्रसिद्ध हैं। दास्तान हातिमताई इस प्रकार की कथाओं का एक संकलन है। अतिथि धर्म की महत्ता में इसने कुछ कविता भी की थी।

10 **महमूद गजनवी**–(998-1030 ई.) इसने एक बड़ा साम्राज्य स्थापित किया था जिसमें भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश का एक बहुत बड़ा अंश भी सम्मिलित था। विद्वानों का यह अच्छा आदर सत्कार करता था।

17 **जमशेद**–देखिए टिप्पणी 5।

बहराम गोर–सासानी वंश का फारस का प्रसिद्ध बादशाह (420-438 ई.) इस प्रकार से कौमक, घोड़े और गधे से मिलते जुलते जंगली पशु के, जिनके बदन पर लम्बी-लम्बी काली धारियाँ होती हैं और जिसे संस्कृत में गौर-खर तथा अंग्रेजी में 'जेब्रा' कहते हैं, अहेर का बड़ा व्यसन था, इसी कारण गोर पद इसके नाम में जुड़ गया था।

मूल में उमर ख़य्याम ने गोरे पद पर श्लेष किया है–जिसका भाव यह है कि बहराम गोर (पशु) को पकड़ा करता था, अब गोर (कब्र) ने उसे पकड़ रक्खा है।

24 **मुअज्जिन**–नमाज के समय अजान (बाँग) देने वाला।

31 **सातों द्वार**–यवन खगोल के अनुसार पृथ्वी स्थिर है और उसके चारों ओर सात स्वर्लोक घूम रहे हैं। इनमें प्रत्येक के साथ एक ग्रह सम्बद्ध है जिसका क्रम यों है, प्रथम स्वर्ग से–चन्द्र, द्वितीय से–मंगल, तृतीय से–बुध, चतुर्थ से–शुक्र, पंचम से–सूर्य, षष्ठ से–बृहस्पति, सप्तम से–शनि। अतः सातवें द्वार से मतलब उस फलक हफ्तम (सप्तम–स्वर्ग) से है, शनि जिसका ग्रह है।

33 **चक्कर**–मुसलमानों के मत से आसमान घूमा करता है।

46 **फातूस-खयाल**–यह कागद की कंदील है जिसमें कागद के कतरे हुए जीव जन्तु के आकार का चक्करदार फेंटा लगा रहता है। दीप के प्रकाश से उसकी छाया कन्दील की कागदी दीवार पर पड़ती है और जब वह घुमाया जाता है तब वे जीव जन्तु चलते हुए जान पड़ते हैं।

52 **चक्कर**–देखो टिप्पणी 33।

53 **न्याय का अन्तिम दिन**–मुसलमान धर्म के अनुसार सृष्टि के प्रथम दिन ईश्वर ने सब का भाग्य नियत कर दिया है, तदनुसार सृष्टि के अन्तिम दिन उनका न्याय होगा।

55 **वायज**–धर्मोपदेशक।

56 **मैखाना**–मदिरा गृह।

57, 58 मुसलमानों का सिद्धान्त है कि सृष्टि रचना के साथ ही ईश्वर सब

प्राणियों का भाग्य विधान कर देता है और वही पतन-प्रलोभन के हेतु की, एवं अदन (नन्दन-कानन) तथा शैतान (माया, मार) की उत्पत्ति करता है।

51 व्रत–रोजा जिसके बाद ईद का चाँद देखते हैं।

59 से 66 तक की आठ रुबाइयों का नाम 'कूजानामा' है।

64 साकी–मद्य पिलाने वाला।

66 उदित-इन्दुकला–अर्थात् ईद आयी। भारवाही हमें ले चलेंगे। हममें शराब भरी जायगी, मजे होंगे। हम भी सिच उठेंगे।

68 **मोमिन**--पैगम्बर (हजरत मुहम्मद) पर ईमान लाने वाला अर्थात् मुसलमान।

❑❑❑